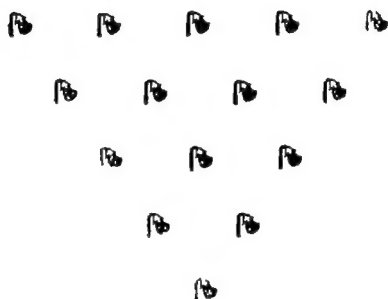


प्रकाशक—

नाथूराम प्रेमी, मंत्री,
माणिकचन्द्र दि०-जैन-ग्रन्थमाला,
हीराबाग, पो० गिरगाव-बम्बई ।



मुद्रक—

मंगेश नारायण कुळकर्णी,
कर्नाटक प्रेस, ठाकुरद्वार, बम्बई ।

निवेदन ।



कड़ी रत्नकरन्धके ऊपर ठीकर हुए एक बर्तने भी अधिक हो गया, परन्तु इसकी प्रस्तावना और स्वामी सम्प्रदायके इतिहासके लिखनेमें आम्नासे अधिक समय कम गया और इस कारण वह सब तक प्रभावित होवेसे सम्भव रहा । मुझे आशा है कि प्रत्येककाके सुमान्तरिक और पाठक सब इसकी विस्तृत प्रस्तावना और स्वामी सम्प्रदायके इतिहासको पढ़ेंगे, तब इस निष्कर्षबलित शीर्षको मूक पढ़ेंगे चाव ही उन्हें इसे पढ़कर बहुत अधिक प्रसन्नता भी होगी ।

सुदूर बाबू सुपुष्पसिंहजीकी प्रस्तावना और इतिहासके लिखनेमें जो परीक्षण किया है, उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती । इतिहासक बहुतकुल विद्वान् ही इनके मूल्यको समझेंगे । आधुनिक कालमें कैलाससिंहके सम्मानमें लिखने आलोचना और आलोचनात्मक कल किये गये हैं, मेरी सम्झने कम कम इन दोनों विषयोंको (प्रस्तावना और इतिहासको) सम्मान मिलना चाहिए । प्रत्येककाके लक्ष्यक इन विषयोंके लिए बाबू साहबके बहुत ही अधिक कृतज्ञ है । चाव ही उन्हें इन बहुमूल्य विषयोंको इस प्रसन्नके साथ प्रभावित कर सकेंगे अभिमान है ।

कड़ी रत्नकरन्धका सम्पादन बीच किसी तीन हस्तलिखित प्रतिवोंके आधार पर किया गया है—

क—बम्बईके तेरावली मन्दिरकी प्रति जो हाक ही को लिखी हुई है ।

ख—बाणसीके पण्डित बाबूदेव मिश्रका कपायापकी चरकी लिखी हुई प्रति ।

ग—धीमान् सिंह इरावन्ध मिश्रका श्री श्रीपुराण प्राप्त प्रति ।

इति लिखित प्रतिवोंके स्वामियोंको अनेकानेक धन्यवाद ।

एक विद्वान् काशीके द्वारा इस प्रसन्नको प्रेषणकी सेवा करायें गई और एक पत्राचारके पत्रिकाके द्वारा प्रकाशकीकरण कराया गया, फिर भी धुःखकी बात है कि प्रसन्न बहुत ही अल्पक काल—पण्डित मण्डनजीके अपने उत्तराधिकारकाल भी खराब नहीं रहना । मैं यही आशा या कि विषयकी-अवस्थाके

इस पवित्र कार्यमें, यथेष्ट पारिश्रमिक पाते हुए भी, विद्वानोंद्वारा इतना प्रमाद किया जा सकता है ।

मैं जैनेन्द्रप्रेस कोल्हापुरके मालिक सहृदय पण्डित कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेका बहुत ही कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इन अशुद्धियोंकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया और साथ ही बहुत बड़े परिश्रमके साथ एक शुद्धिपत्र बनाकर भी भेज दिया जिसका आवश्यक अंश ग्रन्थके अन्तमें दे दिया गया है । साधारण अशुद्धियोंको विस्तारभयसे छोड़ देना पड़ा ।

मैं दो ढाई महीनेसे बीमार हूँ । बीमारीकी अवस्थामें ही यह निवेदन लिखा गया है । प्रस्तावना आदिका प्रूफसंशोधन भी इसी अवस्थामें हुआ है । अतएक बहुतसी त्रुटियाँ रह गई होंगी । उनके लिए पाठकोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ ।

—मंत्री ।

प्रस्तावना ।

७७०६६

ग्रन्थ-परिचय ।

जिस प्रचरित्रकी यह प्रस्तावना आज पाठकोंके सामने प्रस्तुत की जाती है वह वैद्यसायबख्त सुप्रसिद्ध ग्रंथ रत्नकरिङ्क नामक ठपासकम्बवत है, जिसे साधारण लोकशास्त्री कहना आज ठीक वर रत्नकरिङ्कनामकप्रकार भी कहते हैं । वैदिकोंका सावध देना कोई भी शास्त्रार्थकार व होय जिसमें इस प्रबन्धकी एक भाव प्रति न पाई जाती हो; और इससे प्रबन्धकी प्रसिद्धि, उपनो-मिता तथा बहुमन्यतादि-विषयक कितनी ही बातोंका अच्छा अनुभव हो सकता है ।

अपि वह प्रबन्ध कई बार मूक रूपसे तथा हिन्दी मराठी और अंग्रेजीभाषि के अनुवादों सहित प्रकाशित हो चुका है परन्तु वह पहल ही अवसर है जब वह प्रबन्ध अपनी एक संस्कृतटीका और ग्रंथ तथा प्रबन्धटीकसे मिलेप वरिष बके साथ प्रकाशित हो रहा है । और इस टीके प्रबन्ध वह संस्करण अवश्य ही मिलेप उपनोमी सिद्ध होय इसमें संदेह नहीं है ।

मूक प्रबन्ध स्वामीधर्मसमाचारोंका बसावा हुआ है, जिसका विशेष परिचय अवका इतिहास अलग लिखा गया है, और वह इस प्रस्तावनाके साथ ही प्रकाशित हो रहा है । इस प्रबन्धमें आशकोंको अवब करके उक्त समीचीन वयेका उपदेस दिया गया है जो कर्मोंका नाशक है और संकटी भीषोंको संसारक दुःखोंसे निवारककर उत्तम दुःखोंमें चारण करमेवाका-अवका स्थापित करमेवाका है । वह वने सम्बन्धमें सम्बन्ध और सम्बन्धनारिजसकन है और इसी कर्मके आधारवीथ है । वर्येनामिककी भी स्थिति इसके प्रसिद्ध है-अर्थात्, सम्बन्धन न होकर सिम्बा रूपको मिले हुए है-वही अवर्ग है और वही संसार-वरी अवका अवका है, देका आचार्य महोदयने प्रसिद्धाव किया है ।

इस ग्रंथमें धर्मके उक्त (सम्यग्दर्शनादि) तीनों अंगोंका—रत्नत्रयका—ही यत्किंचित् विस्तारके साथ वर्णन है और उसे सात परिच्छेदोंमें विभाजित किया है । प्रत्येक परिच्छेदमें जो कुछ वर्णन है उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

प्रथम परिच्छेदमें सत्यार्थ, आप्त आगम और तपोभूत (गुरु) के त्रिमूढता-रहित तथा अष्टमदहीन और अष्टमगसहित भ्रद्धानको 'सम्यग्दर्शन' बतलाया है, आप्त-आगम-तपस्वीके लक्षण, लोक-देव-पाखण्डिमूढताओंका स्वरूप, ज्ञानादि अष्टमदोंके नाम और नि शकितादि अष्ट अंगोंके महत्त्वपूर्ण लक्षण दिये हैं । साथ ही, यह दिखलाया है कि रागके बिना आप्त भगवानके हितोपदेश कैसे बन सकता है, अगहीन सम्यग्दर्शन जन्मसततिको नाश करनेके लिये कैसे समर्थ नहीं होता और दूसरे धर्मात्माओंका अनादर करनेसे धर्मका ही अनादर क्योंकर होता है । इसके सिवाय सम्यग्दर्शनकी महिमाका विस्तारके साथ वर्णन दिया है और उसमें निम्नलिखित विशेषताओंका भी उल्लेख किया है—

(१) सम्यग्दर्शनयुक्त चाण्डालको भी ' देव ' समझना चाहिये ।

(२) शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा, ज्ञेह तथा लोभसे कुदेवों, कुशात्रों और कुलिंगियों (कुयुक्तों) को प्रणाम तथा विनय नहीं करते ।

(३) ज्ञान और चारित्र्यकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन मुख्यतया उपासनीय है, वह मोक्षमार्गमें खेचटियाके सदृश है और उसके बिना ज्ञान तथा चारित्र्यकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, और फलोदय उसी तरह नहीं हो पावे जिस तरह बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति आदि ।

(४) निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ मोक्षमार्गी है परन्तु मोही (मिथ्या-दृष्टि) मुनि मोक्षमार्गी नहीं, और इस लिये मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है ।

१ इस मुद्रित टीकामें ग्रंथके पाँच परिच्छेद किये गये हैं जिसका २ विशेष कारण समझमें नहीं आया । मालूम नहीं, टीकाकार श्रीप्रभाचदने ही ऐसा किया है अथवा यह लेखकालेकी ही कृति है । हमारी रायमें सात परिच्छेद विषय-विभागकी दृष्टिसे, अच्छे मालूम होते हैं और वे ही मूल प्रतियोंमें पाये भी जाते हैं । यदि सात परिच्छेद न हों तो फिर चार होने चाहिये । गुणवत्त परिच्छेदको पूर्व परिच्छेदमें शामिल कर देना और शिक्षावत् परिच्छेदको शामिल न करना क्या अर्थ रखता है यह कुछ समझमें नहीं आता ।

(५) सम्मन्वयसंगत छद्म हुए बीच अग्रणी होने पर भी बारम्बार विवेक वपुस्स और जीपवर्तनको बारम्बार नहीं करते व वपुस्समें भी अग्रणी होते हैं, व विज्ञान तथा ज्ञानात्मा होते हैं और व वरिष्ठापनेको ही पाते हैं ।

द्वितीय परिच्छेदमें सम्मन्वयका कथन देकर उसके निबन्धमय प्रभावप्रमाणों परमात्मावीर्य परमात्मावीर्य और परमात्मावीर्यका सामान्य स्वरूप दिया है ।

तीसरे परिच्छेदमें सम्मन्वयकारिजके बारम्बार करनेकी पात्रता और अग्रत्व कथन करने करते हुए उसे हिंसा अग्रत्व बोटी पैशुवसेवा और परमात्मा रूप पापप्रवृत्तिव्यवस्था विरहित वृत्तव्य है । साथ ही कारिजके लक्षण और निष्कर्ष ऐसे दो मेरु करके और वह वृत्तव्यकर कि एक कारिज सर्वसंपरित वृत्तियोंके होता है और निष्कर्षकारिज परमात्मावृत्ति वृत्तियोंके वृत्तियोंके सम्मन्वयकारिजके बारम्बार मेरु देने है, जिसमें पाँच अग्रत्व तीन अग्रत्व और बार निष्कर्षगत सामान्य है । इसके बाद हिंसा अग्रत्व बोटी अग्रत्वसेवा और परमात्मावृत्ति पाँच पापोंके लक्षणमय स्वात्मके अग्रत्व वृत्तव्य है और अहिंसावि पाँचों अग्रत्वोंका स्वरूप इसके पाँच पाँच अतीवर्तनोपहित दिया है । साथ ही वह प्रतिपादन किया है कि जब मांस और मनुके स्वात्मवृत्ति वे पञ्चअग्रत्व वृत्तियोंके अग्र मूलग्रन्थ व्यवस्थित हैं ।

चौथे परिच्छेदमें विष्णु अग्रत्ववृत्त और मोक्षोपयोगपरिष्ठापन नामसे तीन गुणवृत्तव्य उनके पाँच पाँच अतीवर्तनोपहित कथन है; पापवृत्तव्य हिंसावृत्तव्य अपमान वृत्तव्य और प्रमादवृत्तव्य ऐसे अग्रत्ववृत्तके पाँच अतीवर्तन वृत्तव्य है और मोक्षोपयोगी व्याख्याके साथ वृत्तमें कुछ विशेष स्वरूप निधान वृत्तव्य कथन और वृत्तव्यवृत्तव्य स्वरूप भी दिया है ।

पाँचवें परिच्छेदमें वैशाखवृत्ति, सामान्य प्रोचवृत्तव्य और वैष्णव वृत्तके बार निष्कर्षवृत्तव्य उनके पाँच पाँच अतीवर्तनोपहित कथन है । सामान्य और प्रोचवृत्तव्यके कथनमें कुछ विशेष कथनोंका भी उल्लेख किया है और सामान्यके समग्र वृत्तव्यके वैष्णव वृत्तव्य की उल्लेख की है । वैष्णववृत्तव्यके वृत्तव्यके बार देने और वैष्णव वृत्तव्य की विधान किया है और वृत्त वृत्तव्यके आहार और वृत्तव्यके आहार ऐसे बार मेरु वृत्तव्य है ।

छठे परिच्छेदमें, अग्रत्ववृत्तव्यके विरहितवृत्तव्य वृत्तव्य (वृत्तव्यवृत्तव्य) का स्वरूप और वृत्तव्यके आहारवृत्तव्य प्रतिपादन करते हुए, वृत्तव्यमें वृत्तव्य

मरणकी विधि का उल्लेख किया है और मोगनाके पाँच धर्तौचार भी दिये हैं। अन्तर्म सदर्मके फलका कीर्तन करते हुए, नि भयस मुगके स्वरूपका कुछ दिग्दर्शन भी कराया गया है।

सातवें परिच्छेदमें श्रावकोंके उन ग्यारह पदोंका स्वरूप दिया गया है जिनमें 'प्रतिमा' भी कहते हैं और जिनमें उत्तरोत्तर प्रतिमाओंके गुण पूर्वपूर्वकी प्रतिमाओंके संपूर्ण गुणोंको लिये हुए होते हैं और इन तरह पर क्रमशः विशुद्ध होकर तिष्ठते हैं। इन प्रतिमाओंमें छठी प्रतिमा 'रात्रिभोजनत्याग' वतलाई गई है।

इस तरह पर, इस प्रथम, श्रावकोंके अनुष्ठानयोग्य धर्मका जो वर्णन दिया है वह बड़ा ही हृदयग्राही, समीचीन, सुगमूलक और प्रामाणिक है। और इसलिये प्रत्येक गृहस्थको, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, अवश्य ही इस ग्रन्थका भले प्रकार अध्ययन और मनन करना चाहिये। इसके अनुकूल आचरण नि सन्देह कल्याणका कर्ता है और आत्माको बहुत कुछ उन्नत तथा स्वाधीन बनानमें समर्थ है। ग्रन्थकी भाषा भी बड़ी ही मधुर, प्रौढ और अर्थगौरवकी लिये हुए है। सचमुच ही यह ग्रन्थ धर्मरत्नोंका एक छोटासा पिटारा है और इस लिये इसका 'रत्नकरंडक' नाम बहुत ही सार्थक जान पड़ता है।

यद्यपि, ग्रन्थकार महोदयने स्वयं ही इस ग्रन्थको एक छोटासा पिटारा (करंडक) वतलाया है तो भी श्रावकाचार विषयका दूसरा कोई भी ग्रन्थ अभी तक ऐसा नहीं मिला जो इससे अधिक बड़ा और साथ ही अधिक प्राचीन हो *। प्रकृत विषयका अलग और स्वतंत्र ग्रन्थ तो शायद इससे पहलेका

* श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके 'चारित्रपाहुड' में श्रावकोंके संयमाचरणको प्रतिपादन करनेवाली कुल पाँच गाथाएँ हैं जिनमें ११ प्रतिमाओं तथा १२ व्रतोंके नाम मात्र दिये हैं—उनका स्वरूपादिक कुछ नहीं दिया और न व्रतोंके अतीचारोंका ही उल्लेख किया है। उमास्वाति महाराजके तत्त्वार्थसूत्रमें व्रतोंके अतीचार जरूर दिये हैं परंतु दिग्ब्रत। उनके लक्षणोंका तथा अनर्थदण्डके भेदादिकका उसमें अभाव है और अहिंसाव्रतादिकके जो लक्षण दिये हैं वे खास श्रावकोंको लक्ष्य करके नहीं लिखे गये। सल्लेखनाका स्वरूप और विधि विधानादिक भी उसमें नहीं हैं। ११ प्रतिमाओंके कथन तथा और भी कितनी ही बातोंके उल्लेखसे यह रहित है, और इस तरह पर उसमें भी श्रावकाचारका बहुत ही संक्षिप्त वर्णन है।

कोई भी उपक्रम नहीं है। पुरातनसिद्धपुत्राज आरिजघार सोमवेव उपसका-
 चवव अमितपति तपासकाचर बहुवन्दिप्रभाकालार सागरवर्मासूत और
 कर्मासहिता आदिज जो प्रसिद्ध ग्रंथ हैं वे सब इसके बावके ही बने हुए हैं।
 और इस लिये उपक्रम बैवसाहित्यमें बहि इस ग्रंथको 'प्रथम भावकालार'का
 नाम देना बाव तो बावद कुछ भी अनुचित न होय। छोटा होनेपर भी इसमें
 भावकोके लिये निज सङ्ग्रहनामित बरीरलोका संग्रह किया गया है वे अवश्य ही
 बहुमूल्य हैं। और इस लिये वह ग्रंथ बाकारमें छोटा होनेपर भी मूल्यमें बड़ा
 है, ऐसा क्यूमेमें हमें बरा भी संकोच नहीं होता। प्रभाकरजीने इसे अधिक
 संप्रसार्य (पुस्तकबन्दी) को प्रकाशित करनेबाका निर्मल सुख किया है और
 श्रीवाहिराचसुरिने 'अष्टमसुखाच' विवेकनके साथ इसका स्मरण किया है।

ग्रन्थपर सन्देह।

कुछ लोगोंका खयाल है कि वह ग्रंथ वज स्वामी सम्यगमहाशयका बनाव
 हुआ नहीं है जो कि वैन समाजमें एक बहुत बने प्रसिद्ध सिद्धांत हो गये है
 और जिन्होंने बैवस्य (आप्तमीमासा) केठे अहितीय और अपूर्व तर्क-
 पूर्ण दार्शनिक प्रबोधोंका रचना की है, बलिक सम्यगमज नामके अथवा सम्यग
 चरके नामसे किसी दूसरे ही सिद्धांतका बनाव हुआ है, और इस लिये अधिक
 प्रतीय भी नहीं है। परंतु उनके इस खयाल अथवा संदेहका बनाव करना है
 और किंस बावार पर वह स्थित है, इसका कोई स्पष्टोक्तेज्य बनीतक कबकी
 ओरसे किसी पत्राधिकर्मी प्रकट नहीं हुआ जिससे इसका बबोक्ति कतर दिया
 जा सकता। फिर भी इस अवर्क संदेहको दूर करने कबकी संभावनाको लिया
 देने और अधिकमें इसकी संशयको बागे व बकने देनेके लिये वहाँ पर कुछ
 प्रमाणोंका उल्लेख कर देना उचित बाव पकटा है और नीचे इसीका बलिभित्त
 प्रबल किया जाता है—

(१) ऐतिहासिक पबीजीबव करनेसे इतना बकर मालूम होता है कि
 सम्यगमज नामके दो बर सिद्धान्त और भी हुए हैं; वरंतु इनमें ऐसा एक भी
 नहीं बा जो स्वामी बरसे निर्गुणित अथवा इस मिलेपकसे मिलेवित हो; बलिक
 एक तो अनुसमतामजके नामसे अमितित है, जिन्होंने अष्टसहस्री वर 'विषम-
 वरप्रबर्दीका' नामकी एक वृत्ति (दिप्पनी) किया है। वे सिद्धान्त स्वर्ग भी
 अपनेको 'अनुसमतामज' प्रकट करते हैं।

बधा—

देवं स्वामिनममलं विद्यामर्धं प्रणम्य निजमभक्ष्या ।

विष्णुणोम्यष्टसहस्रीविषमपदं लघुसमंतमग्रोऽहम् ॥

दूसरे 'चिह्न समन्तभद्र' कहलाते हैं। आराके जैनसिद्धान्तमन्त्रकी 'चिह्नसमतभद्रस्तोत्र' नामसे जिस पुस्तकका उल्लेख है वह इन्हींकी बनाई कही जाती है और उसको निकलवाकर देखनेसे माखम हुआ कि वह वही स्तुति है जो 'जैनसिद्धान्तभास्कर' की ४ वीं किरणमें 'एक ऐतिहासिक स्तुति' के नामसे प्रकाशित हुई है और जिसके अन्तिम पद्यमें उसके रचयिताका नाम 'माघनदि-व्रती' दिया है। इससे चिह्नसमतभद्र उक्त माघनदीका ही नामान्तर जान पड़ता है। कर्णाटक देशके एक कनबी विद्वानसे भी हमें ऐसा ही माखम हुआ है। बर्णा नेमिसागरजी भी अपने एक पत्रमें सूचित करते हैं कि "इन माघनदीके लिये 'चिह्न समन्तभद्र' या 'लघु समन्तभद्र' यह नाम इधर (दक्षिणमें) रूढ़ है। 'चिह्न' शब्द का अर्थ भी लघु या छोटेका है।" आखिर यही, जो उक्त लघु समतभद्र और यह चिह्नसमतभद्र दोनों एक ही व्यक्ति हों, और माघनदि-व्रती भी कहलाते हों। माघनदि-व्रती नामके एक विद्वान 'अमरकीर्ति' आचार्यके शिष्य हुए हैं, और उक्त ऐतिहासिक स्तुतिके आदि-अन्तके दोनों पद्योंमें 'अमर' शब्द का खास तौरसे प्रयोग पाया जाता है। इससे ऐसा माखम होता है कि संभवतः ये ही माघनदि-व्रती अमरकीर्ति आचार्यके शिष्य थे और उन्होंने 'अमर' शब्दके प्रयोग द्वारा, उक्त स्तुतिमें, अपने गुरुका नाम स्मरण भी किया है। यदि यह ठीक हो तो इन माघनदि-व्रती अथवा चिह्न समन्तभद्रको विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीका विद्वान समझना चाहिये, क्योंकि माघनदि-व्रतीके शिष्य और अमरकीर्तिके प्रशिष्य भोगराजने शक संवत् १२७७ (वि० सं० १४०२) में शांतिनाथ जिनेश्वरकी एक मूर्तिको— जो आजकल रायबुर्ग ताल्लुके के दफ्तरमें मौजूद है—प्रतिष्ठित कराया था, जैसा कि उक्त मूर्तिके लेख परसे प्रकट है। *

तीसरे X गेरुसोप्येके समन्तभद्र थे, जिनका उल्लेख ताल्लुका कोप्प जि० कन्नूर—

* देखो 'साठथ इंडियन जैनिज्म' भाग दूसरा, पृष्ठ ५७।

X दक्षिण भारतका यह एक खास स्थान है जिसे क्षेमपुर भी कहते हैं और जिसका विशेष बर्णन सागर ताल्लुके ५५ नें थिळा लेखमें पाया जाता है। प्रसिद्ध

के ऐतिहासिक वैभववर्धितों में से हुए बार ताम्रपाछनोंमें गाया जाता है * । इन ताम्रपाछनोंमें आपको गेरुसोये-समस्तमर-देव लिखा है । पश्चिम ताम्रपाछन आपके ही समयका-सक सं १३५५-५८-लिखा हुआ है और छेव आपके प्रसिद्ध बनवा आपके शिष्य गुणमयके शिष्य औरदेवके समवादिष्टों सम्मान्य रखते हैं ।

श्रीवे अमिनव समस्तमर के नामसे नामांकित है । इन अमिनव समस्तमर मुनिके उपदेशोंमें शोकव-प्रेष्टिके बलवाये हुए देवीश्वर कैलाशचक्र सामने खड़ीकर एक मयवर्तम स्थापित हुआ था जिसका उत्कीर्ण त्रिमूर्त्य चिह्नान्तर्गत चार तालुकेके चिह्नकेवल न ५५ में मिलता है x । वह चिह्नकेवल तुल्य, कोकन आदि देशोंके तथा देवराजके समकक्ष है और इस लिये मि केचित् राष्ट्र चाहने इसे ई. सन् १५६ के कर्तव्यक्य मतजवा है । इससे अमिनव समस्तमर किंय समयके मिहान के वह चाहनीमें मध्यम हो जाता है ।

पौषके एक समस्तमर मठारक के चिन्हों, वैभवचिह्नान्तर्गतमास्त्राद्य प्रकाशित देवपत्नी पद्मवतीमें अमिनव सोमसेन मठारकके पश्चिम्ब चिन्मयेन मध्य रखके पश्चिम प्रसिद्धि होनेवाके लिखा है । साथ ही वह भी सुचित किया है कि वे अमिनव सोमसेन गुणमय मठारकके पश्चिम्ब है । गुणमय मठारकके पश्चिम्ब सोमसेन मठारकका बलवा हुआ वनीरुष्टि बायक एक त्रैवर्णिचचार (त्रिवर्णाचार) प्रब सर्वत्र प्रसिद्ध है-वह सुचित भी हो चुका है-और इस लिये वे समस्तमर मठारक वही सोमसेन मठारकके प्रपश्चिम्ब के चिन्होंने तथा त्रिवर्णाचारकी रचना की है ऐसा कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता । सोमसेनका यह त्रिवर्णाचार सिक्कम संवत् १६६० में बनकर समस्त हुआ है । जय इन समस्तमर मठारकको सिक्कमकी कठारहवीं कठारकीके अन्तिम मापका मिहान् समझना चाहिये ।

गेरुसोये-प्रपात (Water fall) भी इसी स्थापके नामसे नामांकित है देखो E. C. VIII की मूर्धन्य । पहले २१ नंबरके ताम्रपाछनोंमें गेरुसोयेका ऐसा पाठ दिया है ।

* देखो सब ११ १ में सुचित हुई, एपिग्रेफिया कर्नाटिका (Epigraphia Carnatica) की चित्त कर्मीमें, कोण तालुकेके केव म ११ ११ ११ २४ ।

x देखो एपिग्रेफिया कर्नाटिका चित्त बालवी ।

छठे 'गृहस्थ समतभद्र' थे जिनका समय विक्रमकी प्रायः १७ वीं शताब्दी पाया जाता है। वे उन गृहस्थाचार्य नेमिचद्रके भतीजे थे जिन्होंने 'प्रतिष्ठा-तिलक' नामके एक ग्रंथकी रचना की है और जिसे 'नेमिचद्रसंहिता' अथवा 'नेमिचद्र-प्रतिष्ठापाठ' भी कहते हैं और जिसका परिचय अप्रेल सन् १९१६ के जैनहितै-षीमें दिया जा चुका है। इस ग्रंथमें समतभद्रको साहित्यरसका प्रेमी सूचित किया है और यह बतलाया है कि वे भी उन लोगोंमें शामिल थे जिन्होंने उक्त ग्रंथके रचनेकी नेमिचद्रसे प्रार्थना की थी। संभव है कि 'पूजाविधि' नामका ग्रंथ जो 'दिगम्बरजैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामकी सूचीमें दर्ज है वह इन्हींका बनाया हुआ हो।

(२) रत्नकरंडकके प्रणेता आचार्य समतभद्रके नामके साथ 'लघु,' 'चिक,' 'गेहसोपे,' 'अमिनव' या 'भट्टारक' शब्द लगा हुआ नहीं है और न ग्रंथमें उनका दूसरा नाम कहीं 'माघनदी' ही सूचित किया गया है, बल्कि ग्रंथकी संपूर्ण संधियोंमें—टीकामें भी—उनके नामके साथ 'स्वामी' शब्द लगा हुआ है और यह वह पद है जिससे 'देवागम'के कर्ता महोदय खास तौरसे विभूषित थे और जो उनकी महती प्रतिष्ठा तथा असाधारण महत्ताका द्योतक है। बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने उन्हें प्रायः इसी (स्वामी) विशेषणके साथ स्मरण किया है और यह विशेषण भगवान् समतभद्रके साथ इतना रूढ जान पड़ता है कि उनके नामका प्रायः एक अंग हो गया है। इसीसे कितने ही बड़े बड़े विद्वानों तथा आचार्योंने, अनेक स्थानोंपर, नाम न देकर, केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग-द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है * और इससे यह बात सहजहीमें समझमें आ सकती है कि 'स्वामी' रूपसे आचार्य महोदयकी कितनी अधिक प्रसिद्धि थी।

* देखो—वादिराजकृत पार्श्वनाथचरितका 'स्वामिनश्चरितं तस्य' इत्यादि पद्य नं० १७, पं० आशाघरकृत सागारधर्माभृत और अनगरधर्माभृतकी टीकाओंके 'स्वाम्युत्तममूलगुणपक्षे, इतिस्वामिमतेन दर्शनिको भवेत्, स्वामि-मतेनस्वामि (अतिचारा), अत्राह स्वामी यथा, तथा च स्वामिसूक्तानि 'इत्यादि पद, न्यायदीपिकाका 'तदुक्तं स्वामिभिरेव' इस वाक्यके साथ देवागमकी दो कारिकाओंका अवतरण और श्रीविद्यानंदाचार्यकृत अष्टसहस्री आदि ग्रंथोंके कितने ही पद्य तथा वाक्य।

ऐसी हकतमें यह प्रश्न कबुलमेंतमत्रादिष्व नबान्ना हुआ न होकर उन्हीं समन्तमत्र स्वामीका नबाना हुआ प्रतीत होता है जो देवान्मय सामक आत्मी-याद्याप्रवके कर्ता थे ।

(३) राजावलिषके सामक कनवी प्रश्नमें भी स्वायी धर्मतमत्रकी कथा बैसे हुए, उन्हीं 'रत्नकरचक्र' आदि प्रश्नोंका कर्ता किया है । नबान्ना—

“ ना भवितीयेकरम् अप्य समन्तमत्रस्वामिगच्छ पुनर्हीनोऽप्युत्तपत्ता-
मन्वीरि चतुरङ्गकथारण्यधर्म कसेहु रत्नकरचक्रकादिविषयमपुरातनं ऐकिक
स्वाहादयारिणम् आदि सम्यगिह् ओकेवत् ।

(४) विष्णुकी १२ वीं कथाकीके सिद्धांत वं आकाशचरकीने अगपर बर्षों
पुत्र और सत्कारवर्षोंपुत्रकी स्तोपकीका (मन्त्रमुद्रावलिष) में स्वामि-
कन्तमत्रके पूरे अवका संक्षिप्त (स्वामी) नामके साथ रत्नकरचक्रके कितने
ही पद्योंका—अर्थात्, उन पद्योंका जो इस प्रश्नके प्रथम परिच्छेदमें न ५,
११ ११ २४ ३ वर तृतीय परिच्छेदमें न १६ २ ४४ पर और
दीर्घमें परिच्छेदमें न ७ १६ २ वर दृष्ट हैं—उल्लेख किया है । और कुछ
पद्योंको—जो प्रथम परिच्छेदमें न १४ २१ १२ ४१ पर पाये जाते हैं—
बिना नामके भी उद्धृत किया है । इस सब पद्योंका उल्लेख उन्हींने प्रभाव-
कसे—अपने निम्नके पुत्र करनेके अव—अवका स्वामिकन्तमत्रका अतिविशेष
प्रदर्शित करनेके किये ही किया है । अवकावर्षोंपुत्रके १६ वें पद्यकी टीकामें
आत्मका निवेदन करते हुए, आपने आत्मी मोक्षसाधोकेण इत्यादि पद्य नं
५ को आत्मका कथन किया है और उक्त आत्मका कर्ता स्वामिकन्तमत्रको
बतलाना है ।

नबान्ना—

बैद्यते विभीषके । कीसी ? स आत्मीयमः ।... कस्मात् ? अत्रमात्—
“ आत्मीयोत्तमत्रकेण सर्वज्ञेयार्यमेतिहा । मवितर्क विभीषेय नात्यन्त काम्य

• प्रमात्तत्वात्वावने अवनी टीकामें इस प्रश्नकी पाँच परिच्छेदोंमें ही विभा-
जित किया है, परंतु अत्रातनप्रश्नमाकादिकमें प्रकाशित कुछ प्रश्नमें छान परि-
च्छेद पाये जाते हैं, और अत्रकी छहों ७ वें अत्रका पद्य छठे परिच्छेदका
और छेव दोनो पद्य सातवें परिच्छेदके (न २ ६ वाके) हैं ।

भवेत् ॥” इत्यादिकात् । किंविशिष्टात् ? शिष्टानुशिष्टात् । शिष्टा आतोपदे-
शसपादितशिक्षाविशेषा स्वामिसमन्तभद्रादयः सैरनुशिष्टादुरूपयंममेणो-
पदिष्टात् ।

इस उल्लेखसे यह बात भी स्पष्ट है कि विद्वद्भर आशाधरजीने रत्नकरंडक नामके
उपासकाध्ययनको ‘आगमग्रन्थ’ प्रतिपादन किया है ।

एक स्थान पर आपने मूढताओंका निर्णय करते हुए, ‘कथमन्यथेद-
स्वामिसूक्तमुपपद्येत’ इस वाक्यके साथ रत्नकरंडकका ‘भयाशास्त्रेहलोभाय’
इत्यादि पद्य न० ३० उद्धृत किया है और उसके बाद यह नतीजा निकाला
है कि इस स्वामिसूक्तके अनुसार ही ठक्कुर (अमृतचंद्राचार्य) ने भी ‘लोके
शास्त्राभासे’ इत्यादि पद्यकी (जो कि पुरुषार्थसिद्धिपुण्यका २६ वें नंबरका पद्य
है) घोषणा की है ।

यथा—“एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्—

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।

नित्यमपि तत्त्वचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥”

इस उल्लेखसे यह पाया जाता है कि पुरुषार्थसिद्धिपुण्य जैसे माननीय ग्रन्थमें
भी रत्नकरंडकका आधार लिया गया है और इस लिये यह ग्रन्थ उससे भी
अधिक प्राचीन तथा माननीय है ।

(५) श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवने, नियमसारकी टीकामें, ‘तथा चोक्तं श्रीस-
मतभद्रस्वामिभिः’ ‘उक्तं चोपासकाध्ययने’ इन वाक्योंके साथ, रत्नकरंडकके
‘अन्यूनमनतिरिक्त’ और ‘आलोच्यसर्वमेनः’ नामके दो पद्य उद्धृत किये हैं,
जो क्रमशः यहाँ द्वितीय परिच्छेदमें न० १ और पाँचवें परिच्छेदमें न० ४ पर
दर्ज हैं । पद्मप्रभमलधारिदेवका अस्तित्व समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके
लगभग पाया जाता है । इससे यह ग्रन्थ आजसे आठसौ वर्ष पहले भी स्वामि-
समतभद्रका बनाया हुआ माना जाता था, यह बात स्पष्ट है ।

(६) विक्रमकी ११ वीं शताब्दी (पूर्वार्ध) के विद्वान् श्रीचामुडरायने
‘चरित्रसार’में रत्नकरंडकका ‘सम्यग्दर्शनशुद्धा’ इत्यादि पद्य न० ३५ उद्धृत
किया है । इतना ही नहीं बल्कि कितने ही स्थानोंपर इस ग्रन्थके लक्षणादिकोंको
उत्तम समझकर उन्हें शब्दानुसरणसहित अपने ग्रन्थका एक अंग भी बनाया
है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

अन्वयार्थबद्धः संसारकारीरभोगमिर्बिम्बः ।

पंचगुणचरणकारण्ये दर्शनिकस्तत्त्वपरबुद्धः ॥

—रत्नकरदण्डः ।

दर्शनिकः संसारकारीरभोगमिर्बिम्बः पंचगुणचरणमयः अन्वयार्थबद्धः

बुद्धमवधारति ।

—भारित्रस्तारः ।

उपक्रमे बुद्धिमेव धरति कलात्मा च विप्रतीकमे ।

धर्माय तदुपनिमोचनमाहुः स्तोत्रकथामार्गाः ॥

—रत्नकरदण्डः ।

उपक्रमे बुद्धिमेव धरति विप्रतीकमकलात्मा । धर्माय तदुत्पन्नार्थं स्तोत्रकथा ।

—भारित्रस्तारः ।

यह भारित्रस्तार ग्रन्थ जब पंथ साठ साठ माचवीज* प्रत्यभिधि है निम्नके आधारपर प आकाशरानी सम्प्रथमावृत्तकी रचना की है। और इसविधि वचमें रत्नकरदण्डके इस प्रत्यारके अन्वयार्थपरमसे रत्नकरदण्डकी महता प्राचीनता और मान्यता और भी अधिकताके साथ स्थापित होती है। और भी निम्नके ही प्राचीन प्रयोगोंमें अनेक प्रकारसे इस प्रत्यारके अन्वयार्थ नामा धारा है निम्नके स्तोत्रको विस्तारमयसे हम वहाँ कोसनेके विधि मजबूर है।

(७) श्रीवासिष्ठमसुरि नामके प्रमुख विद्वान् आचार्योंने अपना 'धर्मधाम धरित' एक संवत् १४७ में बनाकर समाप्त किया है। इस ग्रन्थमें साठ तीरसे 'विद्यार्थ' और 'रत्नकरदण्ड' दोनोंके कर्ता स्वामी समतन्त्रको ॥ सूचित किया है। यथा—

स्वामिबद्धरितं तत्त्व कथं नो विप्रमयात् ।

विद्यागमेन सर्वज्ञो वेदाचारि प्रवृत्तते ॥

स्वामी स एव मोक्षिन्त्रो वेदाग्रजमुखायहः ।

अर्थमे ग्रन्थप्रारम्भ दिष्टो रत्नकरदण्डकः ॥

अर्थात्—जब स्वामी (समतन्त्र) का चरित्र निम्नके विधि विप्रमयात्क की है निम्नोंने 'विद्यार्थ' के द्वारा ज्ञान तक सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रचना है।

* ये ग्रन्थ इस प्रकार हैं—१ रत्नकरदण्ड २ सोमदेवकृत नवविप्रमयात्कृत विप्रमयात्कृत, ३ भारित्रस्तार, ४ यद्वर्धनिजायकाचार ५ श्रीविद्यदेवकृत धारि—इत्यादि ६ तत्त्वार्थसूत्र आदि ।

चे ही योगीन्द्र (समतभद्र) त्यागी (दानी) हुए हैं जिन्होंने अर्था भव्यसमूहको अक्षयसुखकारक ' रत्नकरंडक ' (धर्मरत्नोंका पिटारा) दान किया है ।

इन सब प्रमाणोंकी मौजूदगीमें इस प्रकारके संदेहको कोई अवसर नहीं रहता कि, यह ग्रंथ 'देवागम'के कर्ता स्वामी समतभद्रको छोड़कर दूसरे किसी समतभद्रका बनाया हुआ है, अथवा आधुनिक है । खुद ग्रंथका साहित्य भी इस संदेहमें कोई सहायता नहीं देता । वह, विषयकी सरलताआदिकी दृष्टिसे, प्राय इतना प्रौढ़, गंभीर, उच्च और क्रमवद्ध है कि उसे स्वामी समतभद्रका साहित्य स्वीकार करनेमें जरा भी हिचकिचाट नहीं होती । ग्रंथभरमें ऐसा कोई कथन भी नहीं है जो आचार्य महोदयके दूसरे किसी ग्रंथके विरुद्ध पड़ता हो, अथवा जो जैनसिद्धान्तोंके ही प्रतिकूल हो और जिसको प्रचलित करनेके लिये किसीको भगवान् समतभद्रका सहारा लेना पड़ा हो । ऐसी हालतमें और उपर्युक्त प्रमाणोंकी रोशनीमें इस बातकी तो कल्पना भी नहीं हो सकती कि इतने सुदूरभूत कालमें—हजार वर्षसे भी पहले—किसीने विनावजह ही स्वामी समतभद्रके नामसे इस ग्रंथकी रचना की हो, और तबसे अवतक, ग्रंथके इतना अधिक नित्यके परिचयमें आते-और अच्छे अच्छे अनुमवी विद्वानों तथा आचार्योंके हाथोंमेंसे गुजरनेपर भी, किसीने उसको लक्षित न किया हो । इस लिये ग्रंथके कर्ताविषयका यह संपूर्ण संदेह निर्मूल जान पड़ता है ।

जहाँतक हम समझते हैं और हमें मालूम भी हुआ है, लोगोंके इस संदेहका सिर्फ एक ही कारण है और वह यह है कि, ग्रंथमें उस ' तर्कपद्धति ' का दर्शन नहीं होता जो समतभद्रके दूसरे तर्कप्रधान ग्रंथोंमें पाई जाती है और जिनमें अनेक विवादग्रस्त विषयोंका विवेचन किया गया है—संशयालु लोग समन्तभद्रद्वारा निर्मित होनेके कारण इस ग्रंथको भी उसी रँगमें रंगा हुआ देखना चाहते थे जिसमें वे देवागमादिकको देख रहे हैं । परंतु यह उनकी भारी भूल तथा गहरा भ्रम है । मालूम होता है उन्होंने श्रावकाचारविषयक जैनसाहित्यका कालक्रमसे अथवा ऐतिहासिक दृष्टिसे अवलोकन नहीं किया और न देश तथा समाजकी तात्कालिक स्थिति पर ही कुछ विचार किया है । यदि ऐसा होता तो उन्हें मालूम हो जाता कि उस वक्त—स्वामी समन्तभद्रके समयमें—और उससे भी पहले श्रावक लोग प्राय साधुमुखापक्षी हुआ करते थे—उन्हें स्वतंत्र रूपसे ग्रंथोंको अध्ययन करके अपने मार्गका निश्चय करनेकी जरूरत नहीं होती थी, बल्कि साधु तथा मुनिजन ही उस वक्त, धर्म विषयमें, उनके

एक मात्र पञ्चमर्याद होते थे । इसमें एक समय मुनिवनोंकी 'बासी' बगुलियाँ भी और उमरका उम्र हरबगुलियाँ साधुमार्गमें बना रहता था । इससे एहसास होने पनेपनपनके सिधे तन्हीके पास जाना करते थे और बरमेकी व्याख्याको सुनकर धन्हीके अपने सिधे कमी कोई मर सिन्ही खास मर जगना मरचनूहकी बाकना सिन्हा करते थे । साधुबाब भी भावकोंको उनके बसेड कर्तव्य कमीका अपदेह देते थे उनके बाकित मरको यदि उचित समझते थे तो कसकी पुस्तकपूर्वक उन्हें बीका देते थे और यदि कमीकी छति तथा सिन्ति-बोम्ब उधे बड़ी पाते थे तो कसका सिन्धे कर देते थे, सम ही सिन्धे मरचिन्धे उनके सिन्धे सिन्धे करते थे कसके सिन्धिमिन्धेकी भी कसकी बोम्बताके अनुकूल ही सिन्धित कर देते थे । इस तरहपर पुस्तकोंके द्वारा बरमेकेको हुनकर कमीलुम्बकी को कुछ सिन्हा भावकोंको सिन्ही भी बड़ीके अनुकूल बकना थे अपना बरमे—जगना कर्तव्यकमी—समझते थे उसमें पूँचरा (कि कसमिन्धे) करना उन्हें नहीं आता था अथवा बौ बहिने कि उनकी मरका और मरि कसके उस बार (सिन्धेकीके तरह) बरमे ही ब देती थी । भावकोंमें सर्वत्र व्याप्यबाकताका साम्राज्य स्थापित था और अपनी इस शक्ति तथा परिचलिके कारण ही वे सौध भावक* तथा मरका कसकरते थे । कस बक एक भावकबरमे अथवा स्वाचार-सिन्धेपर भावकोंमें सर्वत्र मरमे ही नहीं हुआ था और न भाव भावकोंमें परस्पर इतना मरमे ही ही पाता था सिन्धेकी व्याख्या करने अथवा सिन्धेकी समन्वय स्थापित

* एकीति पुनीसिन्ही बरमेसिन्ही भावकः (य य यी) जो पुन बाकिके सुकते बरमे भवक करता है उसे भावक (पुनमेबाक्य) कहते हैं ।

संस्तरसम्भार्य पद्विचर्य मरमेका सुमेर्य य ।

साम्प्रचारि परम को कसु तं सगना विन्धि ॥—भावकस्थिति ।

जो सम्प्रचार्यबाकितुल्य एहसास शक्तिविध मुनिवनाके पास जाकर परम साम्प्रचारीको (साधु तथा एहसासके जाचारविद्येयको) भवक करता है उसे 'भावक' कहते हैं ।

X भद्राधमविध अथवा मरका-शुन-मुक्की भावक कहते हैं ऐसा हेमबक तथा भीवरसिन्ही व्याचार्योनि प्रतिपादन सिन्हा है । मुनिवनोंके जाचार-सिन्धेमें मरका रहनेके कारण ही उनके उपायक भावक कहकरते थे ।

करने आदिके लिये किसीको तर्क-पद्धतिका आश्रय लेनेकी जरूरत पड़ती । उस वक्त तर्कका प्रयोग प्रायः स्वपरमतके सिद्धान्तों तथा आप्तादि विवादग्रस्तविषयोंपर ही होता था । वे ही तर्ककी कसौटीपर चढ़े हुए थे, उन्हींकी परीक्षा तथा निर्णयादिके लिये उसका सारा प्रयास था । और इसलिये उस वक्तके जो तर्क-प्रधान ग्रंथ पाये जाते हैं वे प्रायः उन्हीं विषयोंको लिये हुए हैं । जहाँ विवाद नहीं होता वहाँ तर्कका काम भी नहीं होता । इसीसे छंद, अलंकार, काव्य, कोश, व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिषादि दूसरे कितने ही विषयोंके ग्रंथ तर्कपद्धतिसे प्रायः शून्य पाये जाते हैं । छंद स्वामी समतभद्रका 'जिनशतक' नामक ग्रंथ भी इसी कोटिमें स्थित है—स्वामीद्वारा निर्मित होनेपर भी उसमें 'देवागम' जैसी तर्क-प्रधानता नहीं पाई जाती—वह एक कठिन, शब्दालंकारप्रधान ग्रंथ है और आचार्य महोदयके अपूर्व काव्यकौशल, अद्भुत व्याकरणपांडित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्यको सुचित करता है । 'रत्नकरंडक' भी उन्हीं तर्कप्रधानता-रहित ग्रंथोंमेंसे एक ग्रंथ है और इसलिये उसकी यह तर्कहीनता सदेहका कोई कारण नहीं हो सकती । ऐसा कोई नियम भी नहीं है जिससे एक ग्रंथकार अपने संपूर्ण ग्रंथोंमें एक ही पद्धतिको जारी रखनेके लिये बाध्य हो सके । नाना विषयोंके ग्रंथ नाना प्रकारके शिष्योंको लक्ष्य करके लिखे जाते हैं और उनमें विषय तथा शिष्यरुचिकी विभिन्नताके कारण लेखनपद्धतिमें भी अक्सर विभिन्नता हुआ करती है । यह दूसरी बात है कि उनके साहित्यमें प्रौढता, प्रतिपादनकुशलता और शब्दविन्यासादि कितनी ही बातोंकी परस्पर समानता पाई जाती हो और इस समानतासे 'रत्नकरंडक' भी खाली नहीं है ।

यहाँ पर ग्रन्थकर्तृत्व सम्बन्धमें इतना और भी प्रकट कर देना उचित मालूम होता है कि मिस्टर बी० लेविस राइस साहबने, अपनी 'इन्स्क्रिप्शन्स ऐंड ध्रुवणवेलगोल' नामक पुस्तककी भूमिकामें रत्नकरंडकके सल्लेखनाधिकारसम्बन्धी 'उपसर्गें दुर्भिक्षे' इत्यादि सात पद्योंको उद्धृत करते हुए, लिखा है कि यह 'रत्नकरंडक' 'आयितवर्मा'का बनाया हुआ एक ग्रन्थ है । यथा—

The vow in performance of which they thus starved themselves to death is called Sallêkhanâ and the following is the description of it in the Ratnakarandaka, a work by Âyit-Varmâ

परंतु आश्विनम्मी जीव ने कम हुए हैं और कईसे जगवा किम बनहरी प्रमथप्रतिपरासे उन्हें इस कामकी उपकल्पि हुई इत्यादि बातोंका मूमेधमें कोई उल्लेख नहीं है। ही भागे बलकर स्वामी समन्तमहाका भी रत्नकरबकका कर्ता सिद्धा है और यह बतकाया है कि उन्होंने पुनर्वाका केनेके पचास इस प्रन्थकी रचना की है—

Samantabhadra, having again taken diksha, composed the Ratna Karandaka & other Jinagam, Purana & became a professor of Syadvada.

अपि आश्विनम्मी यह नाम बहुत ही आशुतर्पण नाम पकटा है और वहाँ तक हमने बौद्धादिस्वयं जगत्वाहम सिद्धा है हमें किसी भी पुत्री बपुष्टि इस कामकी उपकल्पि नहीं हुई। तो भी इत्यादि संभव है कि आश्विनम्मीकी तरह 'आश्विनम्मी' भी समन्तमहाके सुहृत्स्वकीकल्पना एक नामान्तर हो जगवा आश्विनम्मीकी बपुष्टि मस्तकीसे ही यह सिद्ध पया हो। बकि ऐसा कुछ नहीं है तो बर्तुपुत्र प्रभाव-समुच्चयके आधार पर हमें इसे कईवर्षों बरा भी संशेप नहीं हो सकता कि राहस्य छद्मवक्ता इस प्रथको आश्विनम्मीका बतकाया बिकतुक मन्त्र और प्रममृक्य है—उन्होंने जगत्वा ही इस उल्लेखके करयेमें कोई मन्त्रप्रहमी जगवा विप्रतिपत्ति हुई है। अन्यथा यह प्रथ स्वामी समन्तमहाका ही बनाना हुआ है और उन्होंने नामसे प्रसिद्ध है।

हम सब सिद्धे बानेके बाद, हाकमें हमें हाक पुस्तकके नये संस्करणको देख केक बनकर सिद्धा को सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ है और उस परसे हमें यह प्रकट करते हुए प्रसन्नता होती है कि इस संस्करणमें राजस पाहककी उक्त मन्त्रीका सुधार कर दिया गया है और साक तौर पर रत्नकरबक भाग सम-पम (Ratna Karandaka of Samantabhadra) अर्थात्कि इत्या रत्नकरबककी समन्तमहाका ही प्रथ स्वीकार किया है।

ग्रन्थके पद्योंकी ओर ।

अप्यबने कुछ ऐसे भी सिद्धा हैं जो इस प्रथको स्वामी समन्तमहाका बनाना हुआ तो बकर स्वीकार करते हैं, परंतु उन्हें इस प्रथके कुछ पद्यों पर संदेह है। उनके विचारसे प्रथम कुछ ऐसे पद्य भी पाये जात हैं जो मूल प्रथका जग व होकर किसी दूसरे प्रथ जगवा प्रथोंके पद्य हैं और बाक्यों किसी

तरह पर ग्रंथमें शामिल हो गये हैं। ऐसे पद्योंको चे लोग 'क्षेपक' अथवा 'प्रक्षिप्त' कहते हैं और इस लिये ग्रन्थपर संदेहका यह एक दूसरा प्रकार है जिसका यहाँ पर विचार होनेकी जरूरत है—

ग्रन्थपर इस प्रकारके संदेहको सबसे पहले प० पद्मलालजी वाक्लीवालने, सन् १८९८ ईसवीमें, लिपिवद्ध किया। इस सालमें आपने रत्नकरडभ्रावकाचारको अन्वय, और अन्वयानुगत हिन्दी अनुवादसहित तयार करके उसे 'दिगम्बर जैनपुस्तकालय—वधा' द्वारा प्रकाशित कराया है। ग्रन्थके इस संस्करणमें २१ इक्कीस पद्योंको 'क्षेपक' प्रकट किया गया अथवा उनपर 'क्षेपक' होनेका संदेह किया गया है जिनकी कमिकसूची, कुछ आवाधरोंको लिये हुए, निम्न प्रकार है—

तावदजन, ततोजिनेन्द्र, यदि पाप, श्वापि देवो, भयाशास्नेह, मातगोः धनध्री, मयमांस, प्रत्याख्यान, यदनिष्ट, व्यापार, श्रीपेण, देवाधिदेव, अर्हच्चरण; नि श्रेयस, जन्मजरा, विद्यादर्शन, कालेकल्प, नि श्रेयसमधिपद्मा, पूजार्था; सुखयत्तु ।

इन पद्योंमेंसे कुछके 'क्षेपक' होनेके हेतुओंका भी फुट नोटों द्वारा उल्लेख किया गया है जो यथाक्रम इस प्रकार हैं—

'तावदजन' और 'ततोजिनेन्द्र' ये दोनों पद्य समन्तभद्रकृत नहीं हैं, परंतु दूसरे किसी आचार्य अथवा ग्रन्थके ये पद्य हैं ऐसा कुछ बतलाया नहीं। तीसरे 'यदि पाप' पद्यका ग्रन्थके विषयसे सम्बन्ध नहीं मिलता। 'श्वापि देवो' 'भयाशा' और 'यदनिष्ट' नामके पद्योंका सम्बन्ध, अन्वय तथा अर्थ ठीक नहीं बैठता। 'श्रीपेण,' 'देवाधिदेव' और 'अर्हच्चरण' ये पद्य ग्रन्थके स्थलसे सम्बन्ध नहीं रखते। पद्यह्रवें 'नि श्रेयस' से बीसवें 'पूजार्था' तकके ६ पद्योंका अन्वयार्थ तथा विषयसम्बन्ध ठीक ठीक प्रतिभास नहीं होता और ११ वाँ 'व्यापार' नामका पद्य 'अनभिज्ञ क्षेपक' है—अर्थात् यह पद्य मूर्खता अथवा नासमझीसे ग्रन्थमें प्रविष्ट किया गया है। क्योंकि प्रथम तो इसका अन्वय ही ठीक नहीं बैठता, दूसरे अगले श्लोकमें अन्यान्य ग्रन्थोंकी तरह, प्रतिदिन सामायिकका उपदेश है और इस श्लोकमें केवल उपवास अथवा एकासनेके दिन ही सामायिक करनेका उपदेश है, इससे पूर्वापर विरोध आता है। इस पद्यके सम्बन्धमें जोरके साथ यह वाक्य भी कहा गया है कि "श्रीमत्समन्तभद्रस्वामीके ऐसे वचन कदापि नहीं हो सकते," और इस पद्यका अन्वय तथा अर्थ भी नहीं दिया गया। अन्तिम

पपको भी साक्षर ऐसा ही भारी सेपक समझा है और इसीसे उद्योग भी अन्य
बाँध नहीं किया गया। सेवकोंके सम्बन्धमें शिर्षे इतना ही प्रकट किया है कि वे
सेपक माहस होते अथवा भोज होते हैं। उनके सेपकत्वका कोई हेतु नहीं
दिया। हों मूमिधमें इतना बकर सुचित किया है कि "सेवके शोचोद्य हेतु
निलुप्त होनेके कारण प्रकटित नहीं किया गया सो पत्रद्वारा या साक्षात् होनेपर
प्रकट हो सकता है।

इस तरहपर बाळजीबाळजीके तात्पर्यिक संदेहका यह रूप है। उन्को इस
इतिसे कुछ कोर्णके संदेहको पुष्टि मिली और किन्तने ही हर्षमें नवीन संदेहका
संचार भी हुआ।

अबपि इस प्रबंधके सम्बन्धमें अभीतक कोई प्रतीयन कोश अथवा पुष्ट प्रमाण
ऐसा दैवधमें नहीं आया जिससे यह निश्चित हो सके कि स्वामी समस्तमन्त्रमें
हैं इतने शोकपरिमाण निर्मात्र किया या न प्रबंधी सभी प्रतिबोधोंमें एक ही
शोकसंख्या पाई जाती है—बल्कि कुछ प्रतिबोधों ऐसी भी उपलब्ध होती हैं
जिनमें शोकसंख्या केइसंधि भी नहीं हुई है—और इसमें तो कोई संदेह ही नहीं
कि टीका-टिप्पणकाही प्रतिबोधपरसे किसी मूल प्रबंधी बकल उतारते समस्त
केवलोंकी असाधबाजी अथवा नासमझीके कारण कमी कमी सब प्रतिबोधोंमें
'उक्त' रूपसे मिले हुए अथवा समानाधिकारे शिव दिव्यकी मिले हुए—हाथि
देवर (Māyā) मोह मिले हुए—इससे प्रबंधोंके पक्ष भी मूल प्रबंधमें शामिल
हो जाते हैं, और इसीसे किन्तने ही प्रबंधोंमें सेपक पावे जाते हैं *। इसके
विधान प्रकृत प्रबंधमें कुछ पक्ष ऐसी अवस्थामें भी अवस्थ हैं कि यदि उन्हें
प्रबंधोंमें प्रकट कर दिया जाय तो उससे सेव पक्षोंके कम तथा निवृत्तत्वमें
परस्पर कोई बाधा नहीं आती और न कुछ अन्तर ही पड़ता है। † ऐसी हाक-

* इस विषयके एक उदाहरणके लिये देखो "पूज्यपाद-उपाध्यायचारकी जीव"
नामक हमारा केस जो जनवरीकी मास १५ के अंक १२ में प्रकटित हुआ
है। हाकमें दशमधि नामक एक मन्त्र लोकपुराण संस्कृतटीका और मराठी
जट्टावधित प्रकाशित हुआ है। उससे माहस होता है कि दशमधिनोके
मूकपाठोंमें भी किन्तने ही सेपक शामिल हो रहे हैं। यह सब नासमझ और
असाधबाज केवलोंकी हास्यास्पद ही बात है।

† जैसे कि कबामोका कोश करमेवाके तात्पर्यक नीचेले जाति पक्ष।

तमें ग्रंथके कुछ पद्योंपर संदेहका होना अस्वाभाविक नहीं है । परंतु ये सब बातें किसी ग्रन्थप्रतिमें 'क्षेपक' होनेका कोई प्रमाण नहीं हो सकती ।

और इसलिये इतने परसे ही, बिना किसी गहरी गोज और जोंगके महसा यह नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रंथकी वर्तमान (१५० पद्यों वाली) प्रतिमें भी कोई क्षेपक जरूर शामिल है । ग्रंथके किसी भी पद्यको 'क्षेपक' बतलानेसे पहले इस बातकी जाँचकी बड़ी जरूरत है कि, उक्त पद्यकी अनुपस्थितिसे ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयसम्बन्धादिकमें किसी प्रकारकी बाधा न आते हुए भी, नीचे लिखे कारणोंमेंसे कोई कारण उपलब्ध है या कि नहीं—

१ दूसरे अमुक विद्वान्, आचार्य अथवा ग्रंथका वह पद्य है और ग्रंथमें 'उक्त च' आदिरूपसे नहीं पाया जाता ।

२ ग्रंथकर्ताके दूसरे ग्रंथ या उसी ग्रंथके अमुक पद्य अथवा वाक्यके वह विरुद्ध पड़ता है ।

३ ग्रंथके विषय, संदर्भ, कथनक्रम अथवा प्रकरणके साथ वह असम्बद्ध है ।

४ ग्रंथकी दूसरी अमुक प्राचीन, शुद्ध और असंदिग्ध प्रतिमें वह नहीं पाया जाता ।

५ ग्रन्थके साहित्यसे उसके साहित्यका कोई मेल नहीं खाता, ग्रन्थकी कथनशैली उसके अस्तित्वको नहीं चाहती अथवा ग्रन्थकृताद्वारा ऐसे कथन की संभावना ही नहीं है ।

जब तक इन कारणोंमेंसे कोई भी कारण उपलब्ध न हो और जब तक यह न बतलाया जाय कि उस पद्यकी अनुपस्थितिसे ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयसम्बन्धादिकमें कोई प्रकारकी बाधा नहीं आती तब तक किसी पद्यको क्षेपक कहनेका साहस करना दुःसाहस मात्र होगा ।

प० पन्नालालजी वाकलीवालने जिन पद्योंको क्षेपक बतलाया है अथवा जिनपर क्षेपक होनेका संदेह किया है उनमेंसे किसी भी पद्यके सम्बन्धमें उन्होंने यह प्रकट नहीं किया कि वह दूसरे अमुक आचार्य, विद्वान् अथवा ग्रंथका पद्य है, या उसका कथन स्वामी समतभद्रप्रणीत उसी या दूसरे ग्रन्थके अमुक पद्य अथवा वाक्यके विरुद्ध है, न यही सूचित किया कि रत्नकरडककी दूसरी अमुक प्राचीन, शुद्ध तथा असंदिग्ध प्रतिमें वह नहीं पाया जाता, या उसका साहित्य ग्रंथके दूसरे साहित्यसे मेल नहीं खाता, और न एक पद्यको छोड़कर दूसरे

किसी पक्षके सम्बन्धमें इस प्रकारका कोई विवेचन ही उपस्थित किया कि वैसा कबल स्वामी समतलमहाका कबो कर नहीं हो सकता। और इस विषये आपका संपूर्ण हेतुप्रयोग अपर्युक्त कारणकापक्षके प्रायः तीसरे बम्बरमें ही आ जाता है। दूसरे पक्षमें जो कहना चाहिये कि बाकसीबाकसीने तब पक्षोंको कुछ प्रयत्नके साथ अकम्प्यत समझा है। उनकी समझमें कुछ पक्षोंका अन्वयार्थ ठीक न बैठने का निश्चयसम्बन्ध ठीक प्रतिभासित न होने काविषय भी नहीं प्रयोजन है। अन्वयका बहुतायतकितव्य नामके पक्षोंको भी वे दोषक बतलाते कि अन्वय अन्वयार्थ उन्हें ठीक नहीं आता।

बहुत वास्तवमें वे सभी पक्ष बैठे नहीं हैं वैसा कि बाकसीबाकसीने उन्हें समझा है। विचार करवेपर उनके अन्वयार्थ तथा निश्चयसम्बन्धमें कोई बात कदापी माह्यम नहीं होती और इसका निर्णय प्रयत्नी संलक्ष्यटीका परसे भी सहजहीमें हो सकता है। बहादुरपक्षके तीर पर हम नहीं उड़ी एक पक्षमें बैठे हैं जिसे बाकसीबाकसीने अवगमिहोपेक्ष किया है और जिसके निश्चयमें आपका विचार संवेष्टकी ओरिसे निष्कर्ष निश्चयकी इच्छा नहीं आता हुआ माह्यम होता है। साथ ही जिसके सम्बन्धमें आपने वहाँ तक कहनेका भी आह्वय किया है कि "स्वामी समतलमहाके ऐसे अन्वय कदापि नहीं हो सकते।" वह पक्ष इस प्रकार है—

आचारवैमल्यपटीविहङ्गममन्तरात्मविनिहृत्वा ।

धाम्नामिकं बाजीबानुपवासे किङ्कुके वा ॥

इस पक्षमें प्रयत्नताके और उद्यमताश्रयावी सर्वे आचारकाही दृष्टिसे उपवास तथा एकमुक्तके विषय साम्नामिक करनेका विधान किया गया है—वह नहीं कहा गया है कि केवल उपवास तथा एकमुक्तके विषय ही साम्नामिक करना चाहिये। फिर भी इससे कभी कोई यह न समझ के कि दूसरे दिन अथवा निरव साम्नामिक करनेका निवेदन है अतः आचार्य महोदयने अपने पक्षमें इस बातको स्पष्ट कर दिया है और किया दिया है कि निरव भी (प्रतिनिधिसमय) निराकसी होकर साम्नामिक करना चाहिये। वह अन्वय पक्ष इस प्रकार है—

धाम्नामिकं प्रतिनिधसं वचानव्यवस्थायामनुष्ठेयम् ।

अपराधकपरिहृत्कारकमवधानानुष्ठेयम् ॥

इस पक्षमें प्रतिनिधसं के साथ अपि अन्वय काय तीसरे भाग देने योग्य है और वह इस पक्षके वृद्धे प्रतिनिधिसाम्नामिक से निरव किसी

दूसरे विधानको माँगता है। यदि पहला पद्य प्रथमसे निकाल दिया जाय तो यह 'अपि' शब्द बहुत कुछ खटकने लगता है। अतः उक्त पद्य क्षेपक नहीं है और न अगले पद्यके साथ उसका कोई विरोध जान पड़ता है। उसे 'अनभिज्ञक्षेपक' बतलाना अपनी ही अनभिज्ञता प्रकट करना है। मालूम होता है कि चाकलीवालजीका ध्यान इस 'अपि' शब्द पर नहीं गया और इसीसे उन्होंने इसका अनुवाद भी नहीं दिया। साथ ही, उस अनभिज्ञक्षेपकका अर्थ भी उन्हें ठीक प्रतिमासित नहीं हुआ। यही वजह है कि उन्होंने उसमें व्यर्थ ही 'केवल' और 'ही' शब्दोंकी कल्पना की और उन्हें क्षेपकत्वके हेतु स्वरूप यह भी लिखना पड़ा कि इस पद्यका अन्वय ही ठीक नहीं बैठता। अन्यथा इस पद्यका अन्वय कुछ भी कठिन नहीं है—'सामयिक धर्मीयात्'को पद्यके अन्तमें कर देनेसे सहज ही अन्वय हो जाता है। दूसरे पद्योंके अन्वयार्थ तथा विषयसम्बन्धकी भी प्रायः ऐसी ही हालत है। उन्हें भी आपने उस वक्त ठीक तौरसे समझा, मालूम नहीं होता और इस लिये उनका वह सब उल्लेख प्रायः भूलसे भरा हुआ जान पड़ता है। हालमें, हमारे दर्याफ्त करने पर, वालकीवालजीने, अपने १८ जून सन् १९२३ के पत्रमें, इस भूलको स्वीकार भी किया है, जिसे हम उन्हींके शब्दोंमें नीचे प्रकट करते हैं—

“रत्नकरडके प्रथम संस्करणमें जिन पद्योंको मैंने क्षेपक ठहराया था उसमें कोई प्रमाण नहीं उस वक्तकी अपनी तुच्छ बुद्धिसे ही ऐसा अनुमान हो गया था। संस्कृतटीकामें सत्रकी युक्तियुक्त टीका देखनेसे मेरा मन अब नहीं है कि वे क्षेपक हैं। वह प्रथम ही प्रथम मेरा काम था संस्कृत टीका देखनेमें आई नहीं थी इसीलिये विचारार्थ प्रस्तात्मक (?) नोट कर दिये गये थे। सो मेरी भूल थी।”

यद्यपि यह चाकलीवालजीकी उस वक्तकी भूल थी परंतु इसने कितने ही लोगोंको भूलके चक्करमें डाला है, जिसका एक उदाहरण प० नाना रामचंद्रजी नाग हैं। आपने चाकलीवालजीकी उक्त कृति परसे उन्हीं २१ पद्योंपर क्षेपक होनेका सदेह किया हो सो नहीं, बल्कि उनमेंसे पद्वह + पद्योंको बिलकुल ही

+ उक्त २१ पद्योंमेंसे निम्नलिखित छह पद्योंको छोड़कर जो शेष रहते हैं उनको—

मधमांस, यदनिष्ट, नि श्रेयस, जन्मजरा, विद्यादर्शन, काळे कल्प ।

ग्रंथसे बाहरकी चीज समझ लिया। साथ ही तेरह नवोंकी और भी बन्दी जैसे
 मानकर उन्हें उड़ी कोटिमें शामिल कर दिया और इस तरहपर इन्दीअली बागह
 बाईस पचोत्ते होपक करार देकर उन्हें 'उपासकप्रभु' की इस प्रभुता-
 हितसे निकटतम ही निकाल लाया—क्या तक भी नहीं—जिसको उन्होंने एक
 सं १८१९ (मि सं १९६१) में मराठी अनुवादप्रहित प्रकाशित किया था।
 इसके बाद पाप साहबने अपनी बुद्धिसे और भी उड़ी माथमें दीक्षा और तब
 आपकी धन्यकारने ही—जिसे किसी आचार माना—वह सुझ गया कि इस
 ग्रंथमें और भी कुछ होपक है जिन्हें ग्रंथसे बाहर निकाल दिया जायिये। साथ ही,
 वह भी मान्य गया कि जिसके हुए पचोत्तिसे कुछका फिरसे ग्रंथमें प्रविष्ट करना
 जायिये। और इस लिये जिसके साथ सं १८४४ (मि सं १९४९)
 में जब आपने इस ग्रंथकी द्वितीयावृत्ति प्रकाशित कराई तब आपने अपनी
 उस सुझ सुझको कार्यमें प्रविष्ट कर दिया—अर्थात् प्रभुताहितसे
 १८ पचोत्तिसे २३ + और २६ † नये इस प्रकार ४९ x पचोत्तिसे एक

* जब तेरह नवोंकी सूची इस प्रकार है—

कोटल्लो अष्टगुण नवविधि अमृतपुर, विषमवर एकद्वैत मकरान्तर,
 पंचाला (७९) पृष्ठान्ति, संकलन सामाजिक पृष्ठमेवा उच्चैर्ध्वज।

+ पांच नव जिन्हें प्रभुताहितिमें ग्रंथसे बाहरकी चीज समझकर निकाल
 दिया गया था और द्वितीयावृत्तिमें जिसको पुनः प्रविष्ट किया गया है वे इस
 प्रकार हैं—

मकरान्तर पृष्ठान्ति, संकलन सामाजिक, वैवाचिक।

† इन १६ पचोत्तिमें एक ही वे काफलीवास्तवोंवाके पच हैं जिन्हें आपने
 प्रभुताहितिसे अवसर पर होपक नहीं समझा था और जिसके नाम पहले दिये
 जा चुके हैं। होप १ नवोंकी सूची इस प्रकार है—

वेकामि हृत्पिपासा परयोरी अमृतमार्ग सम्मन्त्र (१८) दर्शन
 अस्तो नमस्तस्म मोहतिपिरा, विज्ञान एक अमृत सामाजिक पीतोन्न
 नकरन अनुप्राण नवपुष्पः शिष्टिगत अमृतमार्गमि नैव स्वर्ग।

x अष्टमकर सं १९११ के वैकलीयक में सेठ रावजी अष्टमकर दोहीने
 इन पचोत्ति संख्या ५८ (अष्टमकर) दी है और जिसके हुए पचोत्ति की कतिपय
 अमृत, सपूने ग्रंथकी उचित दिये हैं वनसे वह संख्या ५९ हो जाती है।

आवृत्तिमें स्थान नहीं दिया। उन्हें क्षेपक अथवा ग्रन्थसे बाहरकी चीज समझकर एकदम निर्वासित कर दिया है—और आपने ऐसा करनेका कोई भी युक्तियुक्त कारण नहीं दिया। हाँ, टाइटिल और प्रस्तावना द्वारा इतना जरूर सूचित किया है कि, ग्रन्थकी यह द्वितीयावृत्ति प० पन्नालाल बाक-लीवालकृत 'जैनधर्माभूतसार' भाग २ रा नामक पुस्तककी उस प्रथमावृत्तिके अनुकूल है जो नागपुरमें जून सन १८९९ ईसवीको छपी थी। साथ ही, यह भी बतलाया है कि उस पुस्तकमेंसे सिर्फ उन्हीं श्लोकोंको यहाँ छोड़ा गया है जो दूसरे आचार्यके थे, बाकी भगवत्समतभद्रके १०० श्लोक इस आवृत्तिमें ज्योंके त्यों प्रहण किये गये हैं। परंतु उस पुस्तकका नाम न तो 'उपासकाध्ययन' है और न 'रत्नकरंड,' न नाग साहबकी इस द्वितीयावृत्तिकी तरह उसके सात भाग हैं और न उसमें समतभद्रके १०० श्लोक ही पाये जाते हैं, बल्कि वह एक संग्रहपुस्तक है जिसमें प्रधानत रत्नकरंडश्रावकाचार और पुरुषार्थसिद्धयुपाय नामक ग्रंथोंसे श्रावकाचार विषयका कुछ कथन प्रश्नोत्तर रूपसे संग्रह किया गया है और उसे 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार' ऐसा नाम भी दिया है। उसमें यथावश्यकता 'रत्नकरंडश्रावकाचार' से कुल ८६ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। अतः नाग साहबकी यह द्वितीयावृत्ति उसीके अनुकूल है अथवा उसीके आधार पर प्रकाशित की गई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मालूम होता है कि उन्होंने इस प्रकारकी बातोंद्वारा * पबलिकके सामने असिल बात पर कुछ

साथ ही, २१, २६, ३२, ४१, ६३, ६७, ६९, ७०, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८३, ८७, ८८, ८९, ९१, ९३, ९४, ९५, ९९, १०१, ११२, और १४८ नम्बरवाले २५ पर्थोंको भी निकाले हुए सूचित किया है, जिन्हें वास्तवमें निकाला नहीं गया। और निकाले हुए २, २८, ३१, ३३, ३४, ३६, ३९, ४०, ४७, ४८, ६६, ८५, ८६, १०४, और १४९ नम्बरवाले १५ पर्थोंका उस सूचीमें उल्लेख ही नहीं किया। इस प्रकारके गलत और भ्रामक उल्लेख, नि सन्देह बड़े ही खेदजनक और अनर्थमूलक होते हैं। घम्बई प्रान्तिक सभाने भी शायद इसीपर विश्वास करके अपने २१ वें अधिवेशनके तृतीय प्रस्तावमें ५८ संख्याका तलत उल्लेख किया है। (देखो जनवरी सन् १९२२ का 'जैनबोधक' पत्र।)

* एक दो बातें और भी ऐसी ही हैं जिन्हें लेख बंद जानेके भयादिसे यहाँ छोड़ दिया है।

परी वाचना चाहिए। और वह बहुत बात यह है कि, आपकी समझमें यह प्रत्येक एक एक प्रत्येक प्रत्येक होता है और इसलिये आप इसमें १० श्लोक मूलके और बाकी सब श्लोक समाहित हैं। इसी बातको आपने अपने बीच इस ४ एक पंक्ति १८४४ के पत्रमें हम पर इस प्रकार प्रकट भी किया था—

“....यह बात है और ५० श्लोक श्लोक हैं १ श्लोक वाक्यमें हैं”

परंतु यह सब आपकी केवल कल्पना ही कल्पना है। आपके पास इसके सम-बंधमें कोई भी प्रमाण साक्ष्य नहीं होता जिसका यहाँ पर उदाहरण दिया गया। ही एक बार प्रबन्धवास्तविक अवसर पर उसकी प्रस्तावनामें आपने प्रत्येक श्लोकके हुए १८ पक्षोंके समर्थनमें यह प्रकट किया था कि वे पक्ष प्रत्येक कर्मादिक वगैरह प्रतियोग्य लक्षण समर्थन दिये हुए हैं, अतः समस्तमात्राचार्यके न होकर दूसरे आचार्यके होवे, हमने उन्हें इस पुस्तकमें ग्रहण नहीं किया। प्रस्तावनाके वे वाक्य इस प्रकार हैं—

“यह पुस्तकवाक्य शरीर कर्मादिकोंके लिये आदेशित लक्षण नहीं लक्षण प्रत्येक श्लोक वाक्यके आदेशित है श्लोक समस्तमात्र आचार्यके लक्षणके प्रमाण प्रमाण आचार्यके अग्रजानुसार है आचार्य यह पुस्तकलक्षण प्रमाण नहीं है।”

परंतु कर्मादिक वगैरहकी यह दूसरी प्रति कीमती है जिसमें अब १८ पक्षोंके लक्षण व समर्थन दिया है इस बातका कोई पक्ष आप कुछ मित्रोंके द्वारा प्राप्त करने पर भी नहीं बतला सके। और इस लिये आपका एक श्लोक मिथ्या प्रमाण है। इस प्रकारके मिथ्या लक्षणोंके करके प्रत्येकी प्रमाण प्रमाण करनेमें आपका क्या उद्देश्य बनना होता था इसे आप ही समझ सकते हैं। परंतु कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं और व इस लक्षणमें हमें बरा भी संकोच हो सकता है कि आपकी यह सब कर्मवाही विच्छिन्न ही अनिश्चित हुई है और बहुत ही आपत्तिके योग्य है। कुछ पक्षोंका कम भी आपने बतलाया है और वह भी आपत्तिके योग्य है। एक मापनीय प्रमाणमें दिया किसी प्रत्येक प्रमाणकी

* यद्यपि एक द्वितीयवास्तविकी ५ की वाक्य ४९ श्लोक ही श्लोकके लिये हैं और ११ आपके लिये हैं परंतु प्रस्तावनामें १ श्लोकोंके अपेक्षित ही सूचना दी गई है। इससे संभव है कि अन्तर्गत पापमर्यादा वाक्य पक्ष लक्षणोंके लक्षणोंके होकर कम प्रमाण हो और, एक पक्षोंपर एक कर्मके व्यवहार न होनेके कारण प्रमाण कुछ वाक्य न रहा हो।

उपलब्धिके और विना इस बातका अच्छी तरहसे निर्णय हुए कि उसमें कोई क्षेपक शामिल है या नहीं, अपनी ही कोरी कल्पनाके आधारपर अथवा स्वरुचिमात्रसे कुछ पद्योंको (चाहे उनमें कोई क्षेपक भा भले ही हों) इस तरहपर निकाल डालना एक बहुत ही बड़े दुःसाहस तथा भारी घृष्टताका कार्य है । और इस लिये नागसाहयकी यह सय अनुचित कार्रवाई कदापि अभिनदनके योग्य नहीं हो सकती । आपने उन पद्योंको निकालते समय यह भी नहीं सोचा कि उनमेंसे कितने ही पद्य ऐसे हैं जो आजसे कई शताब्दियों पहलेके बने हुए प्रथमोंमें स्वामी समतभद्रके नामसे उल्लेखित पाये जाते हैं, कितने ही 'श्रावकपदानि देवै' जैसे पद्योंके निकाल डालनेसे दूसरे पद्योंका महत्त्व तथा विषय कम हुआ जाता है, अथवा रत्नरंङकपर संस्कृत तथा वनदी आदिकी कितनी ही टीकाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें वे सब पद्य मूलरूपसे दिये हुए हैं, और इस लिये मुझे अधिक सावधानीसे काम लेना चाहिये । सचमुच ही नागसाहबने ऐसा करते हुए बड़ी भारी भूलसे काम लिया है । परन्तु यह अच्छा हुआ कि अन्तमें आपको भी अपनी भूल मालूम पड़ गई और आपने अपनी इस नासमझीपर खेद प्रकट करते हुए, यह प्रण किया है कि, मैं भविष्यमें ऐसी कमती श्लोकवाली कोई प्रति इस ग्रंथकी प्रकाशित नहीं करूँगा * ।

यह सब कुछ होते हुए भी, ग्रंथके कितने ही पद्योंपर अभी तक आपका संदेह बना हुआ है । एक पत्रमें तो आप हमें यहाँतक सूचित करते हैं कि— 'क्षेपककी शका बहुत लोगोंको है परन्तु उसका पक्का आधार नहीं मिलता ।'

इस वाक्यसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि नाग साहबने जिन पद्योंको 'क्षेपक' करार दिया है उन्हें क्षेपक करार देनेके लिये आपके अथवा आपके मित्रोंके पास कोई पक्का आधार (प्रमाण) नहीं है और इसलिये आपका यह सब कोरा संदेह ही संदेह है । अस्तु, ग्रंथकी संस्कृतटीकाके साथ इस प्रस्तावनाको पढ़ जानेपर आशा है आपका और आपके मित्रोंका वह संदेह बहुत कुछ दूर हो जायगा । इसी लिये जाँचका यह सब प्रयत्न किया जा रहा है ।

रत्नकरंङ श्रावकाचारकी एक आश्रुति दक्षिण महाराष्ट्र जैनसभाके जनरल सेक्रेटरी († प्रोफेसर अण्णा साहब धाबाजी लठ्ठे) ने भी मराठी अनुवादादिसहित

* देखो 'जैनबोधक' वर्ष ३२ का छठा अंक ।

† यह नाम हमें प० नाना रामचन्द्रजी नागके पत्रसे मालूम हुआ है । साथ ही

अप्रतिष्ठ करी है। प्रत्यक्ष है। माला बाबाजी कहे कुंहरबाब। इस जातिमें
 वरपि मूक श्लोक वही १५। शिरो है जो पाल्मके सामने उपस्थित इस सटीक
 प्रतिमें पाये जाते हैं वरतु प्रस्तावनामें इतना बखर सुचित किया है कि इस
 श्लोकमें कुछ अलम्बन श्लोक भी है। साथ ही यह भी बतलवा है कि
 कनवी सिपिनी एक प्रतिमें जो उन्हें रा देवाप्याउपाप्यावये प्राप्त हुई थी ५
 श्लोक अधिक है बिजमिसे ठग श्लोकोंको छोड़कर जो स्पष्ट रूपसे शेषक
 मान्य होता ये शेष ७ पद्योंको पाल्मिके तीरपर दिया गया है। इस सूचनसे
 दो बातें पारी जाती है—एक तो यह कि कनवी सिपिमें इस प्रत्यक्ष ऐसी भी
 प्रति है जिसमें २ श्लोक पाये जाते हैं। दूसरी यह कि कहे साहसको भी इस
 कनवी श्लोकोंमें कुछ पर शेषक होनेका संशय है जिन्हें वे अलम्बन कहते हैं।
 वरपि आपने देवे पद्योंकी कोई सूची नहीं दी और न शेषकसम्बन्धी कोई
 विशेष विचार ही उपस्थित किया—बल्कि उस प्रकारके विचारको वहाँ पर 'अप्र-
 स्तुत' कह कर छोड़ दिया है—यहां भी उदाहरणके लिये आपने २७ वें पद्यकी
 ओर संकेत किया है और उसे अलम्बन बतलवा है। वह पद्य इस प्रकार है—
 यदि पापकरोबोन्मत्तपदा कि प्रबोधन।
 जब पापाजबोन्मत्तपदा कि प्रबोधन ॥

वह पद्य स्पष्टरूपसे अके ही कुछ अलम्बनसा मान्य होता हो वरतु जब
 इसके नीचे बर्बर पद्योंके साथ विचार किया जाता है और पूर्वोक्त पद्योंके
 बर्बर साथ कनवी श्लोकका मिश्रण जाती है तो यह अलम्बन वही रहता।
 इसके पहले १५ वें पद्यमें मर्याद अहमेदात्मक स्वयं बतलाने पर १६ वें पद्यमें
 उस मर्याद करके दोन विचारना बना है और वह बतलाना पना है कि
 किसी कुछ जाति या ऐश्वर्यविके मर्याद आकर बर्पात्ताओंको अलम्बनकाविक
 पुत्र स्वयंकोका शिरस्तर नहीं करना चाहिये। इसके बाद विचारस्व पद्यमेंसे
 इस बातकी सिद्धा की गई है कि जो जोय कुम्भधर्माके सम्पत्तिसे कुछ हैं वे
 अपनी तत्त्विकवक मर्यादविकिसे दूर करके लिये कैरे और किन प्रकारके
 यह भी हाथ हुआ है कि इस जातिका बहुधावादि कार्य भी प्रोफेसर साहसका
 ही किया हुआ है।

× बर्बा—“मूक पुस्तकांत अचूक लिखना १५ श्लोकोंके देखीक धर्मी अर्ध
 कह विद्यमान उदाहरणार्थ २७ वा श्लोक पहा। परंतु हा विचार वा मिश्रणी
 अप्रस्तुत आहे

कुछ विद्वानोंका खयाल है कि सम्बन्धहीनकी महिमावाक्ये पद्योंमें कितने ही पद्य श्लेषक हैं। उनकी रचनामें वा तो वे सभी पद्य श्लेषक हैं जो कंठ परिवर्तनको सिद्धि हुए—१५ वें पद्यके बाद परिच्छेदके अन्त तक—पाये जाते हैं और वही तो वे पद्य श्लेषक बनकर होवे चाहिये जिनमें उन्हें पुनरुक्तिवर्ती माध्यम मिली है। इसमें संदेह नहीं कि प्रत्यक्षमें १५ वें पद्यके बाद अनुपुपकी सम्प्रदाय आती कंठ बदलता है। परन्तु कंठका परिवर्तन किसी पद्यको श्लेषक बनाने के लिये कोई जरूरी नहीं होता। बहुतोंका मतमें इस प्रकारका परिवर्तन पाया जाता है—एक स्वामी समस्तमन्त्रके “किन्तुतक” और “इहत्स्मर्तुमू स्तोत्र” ही इसके लिये उदाहरण हैं जिनमें किसी किसी तीर्थंकरकी स्तुति भिन्न कर्मों की नहीं किन्तु एक ही अधिक कर्मों की भी की गई है। इसके सिवाय वहाँ पर जो कंठ बदलता है वह भी एक अपवादोंको छोड़कर बराबर प्रत्यक्षके अन्त तक चलता है—प्रत्यक्षके लक्ष्य सभी परिवर्तनोंकी रचना प्रत्यक्ष की कर्मों की है—और इस सिद्धि के लिये कदाचित् पर ठीकी हुई इस कथामें कुछ भी बल सम्भव नहीं होता। ही पुनरुक्तिवर्तीका बाद बनकर निराश्रय है यद्यपि केवल पुनरुक्ति भी किसी पद्यको श्लेषक नहीं बनाती तो भी इसे कर्मोंमें हमें बरा भी संशय नहीं होता कि स्वामी समस्तमन्त्रके प्रत्यक्षोंमें प्रत्यक्षकी पुनरुक्तिवर्ती नहीं हो सकती। इसी बातकी जीर्णसे सिद्धि हमने इन पद्योंको कई बार बहुत धीरेके ध्यान पढ़ा है परन्तु हमें इनमें बरा भी पुनरुक्तिका दर्शन नहीं हुआ। प्रत्यक्ष पद्य बने बने प्रत्यक्ष और बने बने कर्मविष्णुको सिद्धि हुए हैं। प्रत्यक्षमें निश्चितता बड़ी जाती है—इस एकका प्रतिपादनविषय सम्बन्धहीनका माध्यम बनना पड़ते हुए भी बलका अन्त है—और सभी पद्य एक एक-एक—एक ही विद्वान द्वारा रचे हुए—माध्यम होते हैं। जिनमेंसे किसी एकको बनना किसीको भी श्लेषक कहनेका समझ नहीं होता। माध्यम नहीं कम लोगोंने कहे हैं इनमें पुनरुक्तिवर्तीका अनुपम निम्ना है। काव्य कर्मोंनि वह समझा हो और वे इसी बातको कहें भी कि जब १५ वें पद्यका वह अनुपम वा पुनरुक्ति है कि कुछ सम्प्रदाय जीव नारक निर्णय अनुपम और भी पद्योंमें बल नहीं होता व कुछोंमें जाता है और व निश्चय अन्त्यतः तथा समीची ही होता है तो इसके वह लक्ष्यका लक्ष्यही निश्चय जाता है कि वह अनुपम और वैयक्तिकोंमें बल होता है, अनुपम होता है, अच्छे कर्मोंमें जाता है, पाप ही बना निश्चय अन्त्य अन्त्यतः भी पाता है। और इस सिद्धि अनुपम तथा वैयक्तिक

यकी अवस्थाओंके सूचक अगले दो पद्योंके देनेकी जरूरत नहीं रहती । यदि उन्हें दिया भी था तो फिर उनसे अगले दो पद्योंके देनेकी कोई जरूरत न थी । और अन्तका ४१ वाँ पद्य तो बिल्कुल ही अनावश्यक जान पड़ता है, वह साफ तौरसे पुनरुक्तियोंको लिये हुए है—उसमें पहले चार पद्योंके ही आशयका समग्र किया गया है—या तो उन चार पद्योंको ही देना था और या उन्हें न देकर इस एक पद्यको ही दे देना काफी था ।

इस सम्बन्धमें हम सिर्फ इतना ही कहना उचित समझते हैं कि अगले तो “जरूरत नहीं रहती” या “जरूरत नहीं थी” और “पुनरुक्ति” ये दोनों एक चीज नहीं हैं, दोनोंमें बहुत बड़ा अन्तर है और इस लिये जरूरत न होनेका पुनरुक्ति समझ लेना और उसके आधारपर पद्योंको क्षेपक मान लेना भूलसे खाली नहीं है । दूसरे, ३५ वें पद्यसे मनुष्य और देव पर्यायसम्बन्धी जो नतीजा निकलता है वह बहुत कुछ सामान्य है और उससे उन विशेष अवस्थाओंका लाजिमी तौरपर बोध नहीं होता जिनका उल्लेख अगले पद्योंमें किया गया है—एक जीव देव पर्यायको प्राप्त होता हुआ भी भवनत्रिकमें (भवनवासी-व्यतर-ज्योतिषियोंमें) जन्म ले सकता है और स्वर्गमें साधारण देव हो सकता है । उसके लिये यह लाजिमी नहीं होता कि वह स्वर्गमें देवोंका इन्द्र भी हो । इसी तरह मनुष्य पर्यायको प्राप्त होता हुआ कोई जीव मनुष्योंकी दुष्कुल और दरिद्रतादि दोषोंसे रहित कितनी ही जघन्य तथा मध्यम श्रेणियोंमें जन्म ले सकता है । उसके लिये मनुष्यपर्यायमें जाना ही इस बातका कोई नियामक नहीं है कि वह महाकुल और महा घनादिककी उन सपूर्ण विभूतियोंसे युक्त होता हुआ ‘मानवतिलक’ भी हो जिनका उल्लेख ३६ वें पद्यमें किया गया है । और यह तो स्पष्ट ही है कि एक मनुष्य महाकुलादिसम्पन्न मानवतिलक होता हुआ भी, नारायण, बलभद्रादि पदोंसे विभूषित होता हुआ भी, चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर नहीं होता । अतः सम्यग्दर्शनके माहात्म्य तथा कुलको अच्छी तरहसे प्रख्यापित करनेके लिये उन विशेष अवस्थाओंको दिखलानेकी खास जरूरत थी जिनका उल्लेख बादके चार पद्योंमें किया गया है और इस लिये वे पद्य क्षेपक नहीं हैं । हाँ, अन्तका ४१ वाँ पद्य, यदि वह सचमुच ही ‘संग्रहपूत’ है—जैसा कि टीकाकारने भी प्रकट* किया है—कुछ खटकता जरूर है । परन्तु हमारी रायमें वह

* यथा—“यत्प्राक् प्रत्येक श्लोकैः सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्दर्शनाधिकारस्य समाप्तौ संग्रहपूतेनोपसंहृत्य प्रतिपादयन्नाह—”

कोप संभव नहीं है। उसमें प्रेमकर सहोदरने एक दूसरा ही भाव रक्खा है जो पहले परोक्ष सम्बन्ध नहीं होता। पहले पक्ष अपनी अपनी बातचीत खंडित करने करते हैं। वे इस बातको नहीं बतलाते कि एक ही जीव सम्बन्धसंबन्धके सम्बन्धमें उन सभी अवस्थाओंको भी सम्बन्ध प्राप्त कर सकता है—ज्योंकि, देवता, अन्तरात्मा और तीर्थकर पक्षोंके वाता हुआ मोक्षमें जा सकता है। इसी बात बतलाते बतलाते किने इस पक्षका अवतार हुआ मायात्म होता है। और इस किने वह भी शेषक नहीं है।

कोषका अवस्था उत्पत्तीका एक प्रदर्शित करनेवाले को निःशेषता आदि एक पक्ष है सम्बन्ध भी प्राप्त होता है। वे भी एक ही सम्बन्धके पक्ष हैं और पुनःपुनः रहित पाये जाते हैं। वही पहले पक्षमें त्रिबन्ध 'निःशेषता' और 'अन्तरात्मा' नामके कोषोंके सम्बन्ध है आगे पक्षोंमें उन्हीं दोषोंके स्वस्मात्तिका स्वीकरण किया गया है। अर्थात् दूसरेमें निःशेषता और उन्हीं अन्तरात्मा स्वस्म किया है और कोष पक्षोंमें निःशेषताके प्राप्त होने वाले पुनःपुनः स्वीकार किया है इस किने उनमें भी कोई शेषक नहीं और वे उन्हीं परस्पर कोई सम्बन्धता ही पाई जाती है।

इसी तरह पर क्षुत्पिपासा परयेति परम्परीति और अनात्मार्थ विचारणौ नामके तीनों पक्षोंमें भी कोई शेषक मायात्म नहीं होता। वे अन्तर्गत स्वस्मको विचार करनेके किने वचावस्थता और वचात्माव द्विबन्ध हैं। पहले पक्षमें हुआ तुषारि दोषोंके अनात्मार्थ प्रमाणतासे वास्तव स्वस्म बतलाता है और अन्तर्गत बतलायेकी अन्तरात्मा, अर्थात् विष्ण्वर और शैताम्बर दोषों सम्बन्धार्थोंके अन्तरात्माद्वेषसम्बन्धी कथनमें परस्पर बहुत बड़ा अन्तर बताया जाता है। शैताम्बर माई अन्तर्गत क्षुत्पिपासा होना भी मानते हैं जो विष्ण्वरोंको इस नहीं है—और वे एक अन्तर उनके प्रयास सिद्धान्तमेदोपर अवलम्बित हैं। इस पक्षके द्वारा पूर्वपक्षमें आए हुए अन्तर-

* शैताम्बर सम्बन्धार्थ द्वारा माने हुए अन्तरार्थ दोषोंके नाम इस प्रकार हैं—
 १ बीजात्मराय २ भोग्यन्तराय ३ उपमोक्षान्तराय ४ शान्तात्मराय ५ अन्तर्-
 न्तराय ६ निद्रा ७ भय ८ अज्ञान ९ क्षुत्पिपासा १० हस्त ११ रति १२
 वरति १३ रज १४ द्वेष १५ अतिरति १६ क्रम १७ शोक १८ निष्ठात्व।
 (इन्हीं विवेकविकास और जीवनसाधनार्थ।)

दोषेण' पदका बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। दूसरे पद्यमें आप्तके कुछ खास खास नामोंका उल्लेख किया गया है—यह बतलाया गया है कि आप्तको परमेष्ठी, परंज्योति, विराग, (वीतराग) विमल, कृती, सर्वज्ञ, सार्व तथा शास्ता आदि भी कहते हैं—और नामकी यह परिपाटी दूसरे प्राचीन ग्रंथोंमें भी पाई जाती है जिसका एक उदाहरण श्रीपूज्यपादस्वामीका समाधितंत्र ग्रंथ है, उसमें भी परमात्माकी नामावलीका एक 'निर्मल केवल' इत्यादि पद्य दिया है। अस्तु। तीसरे पद्यमें आप्तस्वरूपसे उत्पन्न होनेवाले इस प्रश्नको हल किया गया है कि जब शास्ता वीतराग है तो वह किस तरहपर और किस उद्देशसे हितोपदेश देता है और क्या उसमें उनकी कोई निजी गर्ज है? इस तरहपर ये तीनों ही पद्य प्रकरणके अनुकूल हैं और ग्रंथके आवश्यक अंग जान पड़ते हैं।

कुछ लोगोंकी दृष्टिमें, भोगोपभोगपरिमाण नामक गुणव्रतके कथनमें आया हुआ, 'त्रसहतिपरिहरणार्थ' नामका पद्य भी खटकता है। उनका कहना है कि 'इस पद्यमें मद्य, मांस और मधुके त्यागका जो विधान किया गया है। वह विधान उससे पहले अष्टमूल गुणोंके प्रतिपादक 'मद्यमांसमधुत्यागै' नामके श्लोकमें आ चुका है। जब मूल गुणोंमें ही उनका त्याग आचुका तब उत्तर गुणोंमें, बिना किसी विशेषताका उल्लेख किये, उसको फिरसे दुहरानेकी क्या जरूरत थी? इस लिये यह पद्य पुनरुक्त दोषसे युक्त होनेके साथ साथ अनावश्यक भी जान पड़ता है। यदि मांसादिकके त्यागका हेतु बतलानेके लिये इस पद्यके देनेकी जरूरत ही थी तो इसे उक्त 'मद्यमांसमधुत्यागै' नामक पद्यके साथ ही—उससे ठीक पहले या पीछे देना चाहिये था। वही स्थान इसके लिये उपयुक्त था और तब इसमें पुनरुक्त आदि दोषोंकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी।'

ऊपरके इस कथनसे यह तो स्पष्ट है कि यह पद्य मद्यादिकके त्याग विषयक हेतुओंका उल्लेख करनेकी वजहसे कथनकी कुछ विशेषताको लिये हुए जरूर है और इसलिये इसे पुनरुक्त या अनावश्यक नहीं कह सकते। अब देखना सिर्फ इतना ही है कि इस पद्यको अष्ट मूलगुणवाले पद्यके साथ न देकर यहाँ क्यों दिया गया है। हमारी रायमें इसे यहाँ पर देनेका मुख्य हेतु यह मालूम होता है कि ग्रंथमें, इससे पहले, जो भोगोपभोगपरिमाण व्रतका तथा 'भोग' का स्वरूप दिया गया है उससे यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि क्या मद्यादिक भोग पदार्थोंका भी इस व्रतवालेको परिमाण करना चाहिये? उत्तरमें आचार्य महोदयने इस पद्यके द्वारा, यही

सुनिश्चित किया है कि नहीं इन चीजोंका उसके परिमाण नहीं होता वे तो उसके सिधे विच्छिन्न बर्तनीय हैं। साथ ही यह भी बतला दिया है कि क्यों बर्तनीय बनना स्वाभाविक है। यदि यह पक्ष नहीं बतलाया जाकर अष्टमूकगुणवाले पक्षके साथ ही दिया जाता तो वहाँ पर इसके सिधे सुकटे आसन्नके किसी दूसरे पक्षको देना पड़ता और इस तरह पर प्रथम एक वातकी पुनरुक्ति बनना एक पक्षकी प्रतीति होती। वहाँ इस पक्षके देनेसे दोनों काम सिधे जाते हैं—पूर्वोक्त संधाधिके स्वाभाविक हैं भी मान्य हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस कृतवाक्यके संधाधिकपरिमाण नहीं होता बल्कि उक्त संधावा स्वाभाविक होता है। ऐसी दृष्टिकोणमें यह सब संवेदकी दृष्टिसे बंध जानेके योग्य मान्य नहीं होता।

इस अर्थ तक अष्टमूकगुणवाले पक्षको ही अपेक्ष समझते हैं परंतु इसके समर्थनमें उनके पास कोई हेतु या प्रमाण नहीं है। वास्तविकतया यह बतला हो कि इस पक्षमें पञ्चाशत्प्रतीति को मूल गुणोंमें सामिक किया है यह दूसरे प्रतीति सिद्ध है जिसमें अष्टमूककी वस्तु पक्ष उद्भव्य प्रतीति स्वाभाविक विधान बाधा जाता है और इतने परसे ही वे लोग इस पक्षको संवेदकी दृष्टिसे देखने लगे हैं। यदि ऐसा है तो यह उक्तकी निरी मूल है। ऐश्वर्यमयी परिस्थितिके अनुसार आत्मबोध स्वयमेव परस्पर होता जाता है x। उसकी वजहसे कोई एक क्षेत्र कष्ट नहीं दिया या कष्टा। मयद्विधिवसेन आदि और भी कई व्याख्याओंमें अष्टमूकको मूल गुणोंमें सामिक किया है। प व्याख्याकारोंने अपने साधारणमोक्ष और उक्तकी दृष्टिके समस्तप्रतीति इस मतसे बतला देने भी किया है। वास्तवमें अष्टमूककी सुनिश्चित मूलगुणोंमें जिस प्रकार पक्ष अष्टमूककी होना जरूरी है उसी प्रकार अष्टमूककी व्याख्याओंमें मूलगुणोंमें पञ्चाशत्प्रतीति होना भी जरूरी मान्य होता है। ऐश्वर्यमयी व्याख्याओंमें कथन करते ही व्याख्या महोदयने इस मूल गुणोंकी दृष्टि की है। पक्ष उद्भव्यवाक्यके मूलगुण प्रकाशवाक्यकी—वाक्यियों बनना अनन्तस्त अष्टमूककीवाक्यों—कथन करते सिधे पक्ष हैं। ऐसा कि सिधेवाक्य व्याख्याओंके सिधे वाक्यसे भी प्रकाश है—

x इसके सिधे देखो व्याख्याओंका वास्तवमें नामके हयारे केवल जो सिधे दिशेकी १४ वें भागमें प्रकाशित हुए हैं।

मद्यमांसमधुत्यागसयुक्ताणुव्रतानि नु ।

अष्टौ मूलगुण पचोदुम्बरैश्चार्मकेष्वपि ॥

—रत्नमाला ।

ऐसी हालतमें यह पथ भी सदेहकी दृष्टिसे देखे जानेके योग्य नहीं । यह अणुव्रतोंके बाद अपने उचित स्थान पर दिया गया है । इसके न रहनेसे, अथवा यों कहिये कि भावकाचारविषयक ग्रन्थमें भावकोंके मूल गुणोंका उल्लेख न होनेसे, प्रथमें एक प्रकारकी भारी त्रुटि रह जाती जिसकी स्वामी समन्तभद्र जैसे अनुभवो ग्रन्थकारोंसे कभी आशा नहीं की जा सकती थी । इस लिये यह पथ भी क्षेपक नहीं हो सकता ।

संदिग्ध पथ ।

प्रथमें प्रोषधोषवास नामके शिक्षाव्रतका कथन करनेवाले दो पथ इस प्रकारसे पाये जाते हैं—

(१) पर्वण्यष्टम्यांच ज्ञातव्य प्रोषधोपवासस्तु ।

चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यान सदेच्छामि ॥

(२) चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषध सकृद्वृत्तिः

स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारभमाधरति ॥

इनमें पहले पथसे प्रोषधोपवास व्रतका कथन प्रारंभ होता है और उसमें यह बतलाया गया है कि 'पर्वणी (चतुर्दशी) तथा अष्टमीके दिनोंमें सदेच्छा अथवा सदिच्छासे, जो चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है उसे प्रोषधोपवास समझना चाहिये' । यह प्रोषधोपवास व्रतका लक्षण हुआ । टीकामें भी निम्न वाक्यके द्वारा इसे लक्षण ही सूचित किया है—

‘अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षण शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणा प्राह’—

इस पथके बाद दो पथमें उपवास-दिनके विशेष कर्तव्योंका निर्देश करके व्रतातीचारोंसे पहले, वह दूसरा पथ दिया है जो ऊपर नवर २ पर उद्धृत है । इस पथमें भी प्रोषधोपवासका लक्षण बतलाया गया है । और उसमें वही चार प्रकारके आहार त्यागकी पुनरावृत्ति की गई है । मालूम नहीं, यहाँपर यह पथ किस उद्देशसे रक्खा गया है । कथनक्रमको देखते हुए, इस पथकी स्थिति कुछ संदिग्ध जरूर मालूम होती है । टीकाकार भी उसकी इस स्थितिको स्पष्ट नहीं कर सके । उन्होंने इस पथको देते हुए सिर्फ इतना ही लिखा है कि—

अथवा प्रोपचोपवासस्य लक्षणं कुरुष्व ।

अर्थात्—अथ प्रोपचोपवासस्य लक्षणं कुरुष्व इति कहते हैं । परंतु प्रोपचोपवासस्य लक्षणं तो दो ही पक्ष पहले किया और कहा था कुछ है, अब फिर से उसका लक्षण करने तथा कहनेकी क्या जरूरत पड़ा हुई इसका कुछ भी स्पष्टीकरण अबका समाधान दीक्षामें नहीं है । अतः यदि वह क्या बात कि इस पक्षमें प्रोपच और उपवासका अलग अलग स्वल्प दिया है—यार प्रकरके आहारत्यागको उपवास और एक बार भोजन करनेको प्रोपच कह दिया है—और इस तरह पर वह सूचित किया है कि प्रोपचपूर्वक—पहले दिन एकत्र भोजन करके—जो अगले दिन उपवास किया जाता है—यार प्रकरके आहारका त्याग किया जाता है—उसे प्रोपचोपवास कहते हैं तो इसके सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही निवेदन है कि प्रथम तो पहले पूर्वार्थमें मने ही उपवास और प्रोपच अलग अलग स्वल्प दिया हो परंतु उसके उपरांतसे वह ध्वनि नहीं निकलती कि इसमें प्रोपचपूर्वक उपवासका साथ प्रोपचोपवास स्तथापना मना है । इसके सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही अब निश्चयता है कि उपोषण (उपवास) पूर्वक जो वारंवारक किया जाता है उसे प्रोपचोपवास कहते हैं—वाची वारंवार और वारंवारके दिनोंमें एकत्र भोजन को अथवा दीक्षाकरने की है वह अब इसकी वारंवारक अभ्यन्ता माहम होती है । इस लक्षणसे वाच्य उपवास भी प्रोपचोपवास हो जाते हैं और ऐसी हस्तमें इस पक्षकी स्थिति और भी ज्ञाना भव्यमें पद जाती है । अतः, यदि वह मन्त्र भी किया जाय कि प्रोपचपूर्वक उपवासका नाम ही प्रोपचोपवास है और वही इस पक्षके हस्त अभिहित है तो वह स्वामी समस्तमन्त्रके इस पूर्वकपक्षके निश्चय पक्षता है जिसके द्वारा पूर्वदिनोंमें उपवासका नाम प्रोपचोपवास सूचित किया गया है और इस तरह पर प्रोपचोपवासकी प्रोपच पूर्वदिने उपवास प्रोपचोपवास वह निश्चय की गई है । प्रोपच काय पूर्वपक्षवाची है और प्रोपचोपवासका अब प्रोपच उपवास है, वह बात भी पूर्णपक्ष, अक्षरार्थसे विचारण योग्यदेव जाति समी प्रसिद्ध सिद्धान्तके प्रकोष्ठ पाई जाती है जिसके दो एक उदाहरण नीचे दिये जात हैं—

“प्रोपच कुरुष्व । पूर्वपक्षवाची । अथवा विग्रहः । यतिभिः पूर्यमाणानि पक्षा यतिभिः कान्धुपेयं तस्मिन्पक्षेयिभ्युपवासः । अथवा विग्रहः पक्षिभ्यः । प्रोपच उपवासः प्रोपचोपवासः ।

—सर्वार्थसिद्धि ।

“प्रोपधशब्द पर्यपर्यायवाची, प्रोपधे उपवासः प्रोपधोपवाम ।” इत्यादि
—तत्त्वार्थराजवार्तिक ।

“प्रोपधे पर्यण्युपवासः प्रोपधोपवाम ।” —श्लोकवार्तिक ।

“पर्वाणि प्रोपधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च ” इत्यादि—यशस्तिलक ।

“ प्रोपध पर्यपर्यायवाची । पर्वाणि चतुर्विधाहारनिवृत्ति प्रोपधोपवास ” ।
—चारित्रसार ।

“इह प्रोपधशब्द रूढया पर्वसु घतते । पर्वाणि चाष्टम्यादितिथय पूरणात्प-
र्वधर्मोपचयहेतुत्वादिति ”—

—श्रा० प्र० टीकार्या हरिभद्र ।

बहुत कुछ छानबीन करनेपर भी दूसरा ऐसा कोई भी ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया जिसमें प्रोपधका अर्थ ‘सकृद्भुक्ति’ और प्रोपधोपवासका अर्थ ‘सकृद्भुक्तिपूर्वक उपवास’ किया गया हो । प्रोपधका अर्थ ‘सकृद्भुक्ति’ नहीं है, यह बात खुद स्वामी समतभद्रके निम्न वाक्यसे भी प्रकट होती है जो इसी ग्रन्थमें बादको ‘प्रोपधोपवास’ प्रतिमाका स्वरूप प्रतिपादन करनेके लिये दिया गया है—

पर्वदिनेषु चतुर्जपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य ।

प्रोपधनियमविधायी प्रणधिपर प्रोपधानशन ॥

इससे ‘चतुराहारविसर्जन’ नामका उक्त पद्य स्वामी समतभद्रके उत्तर कथनके भी विरुद्ध है, यह स्पष्ट हो जाता है । ऐसी हालतमें—ग्रन्थके पूर्वोत्तर कथनोंसे भी विरुद्ध पढ़नेके कारण—इस पद्यको स्वामी समतभद्रका स्वीकार करनेमें बहुत अधिक संकोच होता है । आश्चर्य नहीं जो यह पद्य इस टीकासे पहले ही, किसी तरहपर, ग्रन्थमें प्रक्षिप्त हो गया हो और टीकाकारको उसका खयाल भी न हो सका हो ।

अब हम उन पद्योंपर विचार करते हैं जो अधिकांश लोगोंकी शकाका विषय बने हुए हैं । वे पद्य दृष्टांतोंवाले पद्य हैं और उनकी संख्या ग्रन्थमें छह पाई जाती है । इनमेंसे ‘तावदजन’ और ‘ततो जिनेन्द्रभक्त’ नामके पहले दो पद्योंमें सम्यग्दर्शनके नि शकितादि अष्ट अंगोंमें प्रसिद्ध होनेवाले आठ व्यक्तियोंके नाम दिये हैं । ‘मातगो धनदेवध’ नामके तीसरे पद्यमें पांच व्यक्तियोंके नाम देकर यह सूचित किया है कि इन्होंने उत्तम पूजातिशयको प्राप्त किया है । परंतु किस विषयमें ? इसका उत्तर पूर्व पद्यसे सम्बन्ध मिलाकर यह दिया जा सकता है कि अहिंसादि पञ्चाणुव्रतोंके पालनके विषयमें ।

इसके बाद ही कन्या नामक पद्यमें पाँच नाम और देकर किया है कि कन्या भी कन्या: इती प्रकर उपाख्यानका विषय बताया चाहिये । परंतु इसके उपाख्यानका क्या विषय होना चाहिये जबका ये किंतु विषयके छांट है, यह कुछ सूचित नहीं किया और न पूर्व पद्योंमें है। इसका कोई अच्छा निष्कर्ष निकलता है । पहले पद्यके पांच सम्बन्ध सिझानेसे तो यह मतीय निष्कर्ष निकलता है कि ये पाँचों छांट भी अहिंसात्मिक मतोंके हैं और इस सिद्धे इसके भी पूजाति कन्यासे निकलना चाहिये । हीं दीक्षान्तरमें यह जरूर सूचित किया है कि ये कन्या: हिंसात्मिकसे कुछ व्यक्तिगतके छांट हैं । धीरे-धीरे नामक पाँचवें पद्यमें बार नाम देकर यह सूचित किया है कि ये चतुर्वेदात्मक वैवाहिकके छांट हैं । और अर्धव्रतपद्यमें नामक छठे पद्यमें किया है कि शम्भुहर्षमें एक प्रमोदमत (विशिष्ट बभ्रुरामसे मत) वैदिकके एक पुरुषके द्वारा अर्धव्रतके चरित्रकी पूजाके माहुरम्बके महात्माओंपर प्रकट किया था ।

इन पद्योंपर जो आपत्तियों की जाती है जबका की जा सकती है उनका सार संक्षेप प्रकर है—

(१) प्रथमके संवत् और उसकी कन्याओंकीपरसे यह स्पष्ट है कि प्रथममें नामक वर्गका प्रतिपादन औपरोधिक रूपसे नहीं किन्तु विधिवान्वेष्टि तीरपर जबका आदेशक्रमसे किया गया है । ऐसी छान्दमें किसी छांट का उपाख्यानका उल्लेख करने जबका ऐसे पद्योंके देनेकी कोई जरूरत नहीं होती और इस सिद्धे प्रथममें ये पद्य सिरे अनावश्यक तथा बेबेक समझा होते हैं । इसकी अनुपस्थितिसे प्रथमके प्रतिपादन विषयसम्बन्धान्वितमें किसी प्रकारकी बाधा भी नहीं जाती ।

(२) साक्ष्योंमें एक ही विषयके अनेक छांट जबका उपाख्यान पाये जाते हैं, जैसे अहिंसाप्रत्ये मुख्यतः बीररथ अतत्त्वभावनामें राजा बह्मका कन्यासेवर्गमें कथार विषय और परिग्रह विषयमें विध्याक गव का उदाहरण उपस्थित है । मणवती आराधना और यज्ञसिद्धिकारि प्रथममें इन्हींका उल्लेख किया गया है । एक ही व्यक्तिकी कथासे कई कई विषयोंके उदाहरण भी निकलते हैं—जैसे नारीनेमकी कथासे स्त्रितीकरण का तथा कर्षीवैश्वनाथ और अन्य मनीकी कथासे ब्रह्मचर्यमत तथा मि काश्चित् अर्थका । इसी तरहपर कुछ ऐसी भी कथाएँ उपलब्ध हैं जिनके छांटोंका प्रयोग विभिन्नरूपसे पाया जाता है । इसी प्रथममें अथर्ववेदी जित कथाओंके अंतर्गत उपाख्यानका उदाहरण दिया गया है मणवती आराधना और यज्ञसिद्धिकारि उपाख्यान की ओरके सम्बन्धमें प्रयुक्त किया गया

है। इसी तरह विष्णुकुमारकी कथाको कहीं कहीं 'वात्सल्य' अगमें नन्दर 'प्रमानांग'में दिया गया है†। कथासाहित्यकी ऐसी हालत होती हुए और एक नामके अनेक व्यक्ति होते हुए भी स्वामी समतभद्र जैसे मतर्क विद्वांसोंसे, जो अपन प्रत्येक शब्दको बहुत कुछ जौंच तोलकर लिखते हैं, यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उन दृष्टांतोंके यथेष्ट मार्मिक अंशका उल्लेख किये बिना ही उन्हें केवल उनके नामोंसे ही उद्धृत करनेमें संतोष मानने, और जो दृष्टांत मर्यामान्य नहीं उसे भी प्रयुक्त करते, अथवा बिना प्रयोजन ही किसी भास दृष्टांतको दूसरोंपर महत्त्व देते।

(३) यदि प्रथकार महोदयको, अपने प्रथमें, दृष्टांतोंका उल्लेख करना ही इष्ट होता तो वे प्रत्येक व्यक्तिके कायकी गुणता और उसके फलके महत्त्वको कुछ जैसे तुले शब्दोंमें जरूर दिसलाते। साथ ही, उन दूसरे विषयोंके उदाहरणोंका भी, उसी प्रकारसे, उल्लेख करते जो प्रथम अनुदाहृत स्थितिमें पाये जाते हैं—अर्थात्, जब अहिंसादिक व्रतोंके साथ उनके प्रतिपक्षी हिंसादिक पापोंके भी उदाहरण दिये गये हैं तो सम्यग्दर्शनके निश्चिन्तादि अष्ट अंगोंके साथ उनके प्रतिपक्षी शकादिक दोषोंके भी उदाहरण देने चाहियें थे। इसी प्रकार तीन मूढताओंको धरनेवाले न धरनेवाले, मद्य-मांस-मधु आदिका सेवन करनेवाले न करनेवाले, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंके पालनमें तत्पर—अतत्पर, 'उचैर्गोत्र प्रणते' नामक पद्यमें जिन फलोंका उल्लेख है उनको पानेवाले, सल्लेखनाकी शरणमें जानेवाले और न जानेवाले इन सभी व्यक्तियोंका अलग अलग दृष्टांत रूपसे उल्लेख करना चाहिये था। परंतु यह सब कुछ भी नहीं किया गया और न उक्त छहों पद्योंकी उपस्थितिमें इस न करनेकी कोई माकूल (समुचित) वजह ही मालूम होती है। ऐसी हालतमें उक्त पद्योंकी स्थिति और भी ज्यादा सदहास्पद हो जाती है।

(४) 'धनश्री' नामका पद्य जिस स्थितिमें पाया जाता है इससे उसके उपाख्यानोका विषय अच्छी तरहसे प्रतिभासित नहीं होता। स्वामी समतभद्रकी रचनामें इस प्रकारका अधूरापन नहीं हो सकता।

(५) ब्रह्मचर्याणुव्रतके उदाहरणमें 'नीली' नामकी एक स्त्रीका जो दृष्टांत दिया गया है वह ग्रंथके सदर्थसे—उसकी रचनासे—मिलता हुआ मालूम नहीं

† देखो, 'अरुणल छेप्पु' नामक तामिल भाषाका ग्रंथ, जो अंग्रजी जैन-गजटमें, अनुवादसहित, मुद्रित हुआ है।

होता । स्वामी समतमद्वारा यदि उस पक्षकी रचना हुई होती तो वे अपने प्रेसकी पूर रचनाके अनुसार वहीँपर किसी पुस्तक व्यवस्था ही बदाहरण देते —और वहीँ कबोकि उन्होंने ब्रह्मचर्यानुव्रतका जो स्वरूप व ह्य परदायक गच्छति नामके पक्षमें परदारनिवृत्ति और स्वदारसंतोष नामके धारा दिया है वह पुस्तकोंमें प्रधान करने ही सिखा गया है । श्रान्त भी उसके अनुसार ही होना चाहिये था ।

(१) परिग्रह परिमात्रत्वमें जब यह इर्हात दिया गया है । जीवमें जब 'ये कुम्भकी राखा 'सोमप्रम'का पुत्र और सुलोकका पति सुचित किया है । परन्तु इस राखा 'जब (जबकुमार) की जो कथा सम्प्रजित केनके आदिपुराण'में पाई जाती है उससे यह परिग्रहपरिमात्रत्व का एक व होकर 'परदारनिवृत्ति' नामके धीकजतक—ब्रह्मचर्यानुव्रतका चारक माहम होता है और उसी जतकी परीकामें जतीन होनेपर उसे बेशठा द्वारा पूजादिचमकी शक्ति हुई थी । जीककर महात्म भी इस चमको किया वहीँ सके और न प्रवत्त करने पर भी इस कथाके पूरी तीरसे परिग्रहपरिमात्रत्वके अनुव्रतकी वन्द सके हैं । उन्होंने सानर मूकके अनुलोचन यह सिखा तो दिया कि 'जब' परिमितपरिमही था और स्वर्गमें इन्होंने भी उसके इस परिग्रहपरिमात्रत्वकी प्रशंसा की थी वरु कथामें वे जन्तवक उसका निर्वाह पूरी तीरसे नहीं कर सके । उन्होंने एक बेशठाको लीके रूपमें जेवकर भी परीका कराई है उससे यह जनके धीक जतकी ही परीका हो गई है । आदिपुराणमें ह्या प्रसंस्कार सक्त तीरसे जबके धीकजतका ही बोलचाल किया है, जिसके कुछ पक्ष इस प्रकार हैं—

अमरोन्ने प्रभामन्ने धीकमाहात्म्यवर्धनम् ।

अनत्य तथिवात्मात्र प्रकुर्वति कथाचम् ॥ १६ ॥

कुत्थ तदादिमे कस्ये रविप्रभविमाचमः ।

जीवो रविप्रभाकदेन तच्छीकान्वेषनं प्रति ॥ १६१ ॥

मेविता कांचका नाम देवी माध्य कर्ष सुधीः ।

स्वानुपार्ग कवे अत्यमकरीद्विज्ञेद्वन्ध ।

तदुक्तेवितं ह्यु मा मीत्वा पापमीरक्ष ॥ १६७ ॥

धीवर्षा त्वं समाकाशि मया मुनिवराह्यत ।

परादव्यपसर्गमुक्तं मे विप्रकल्प ॥ १६८ ॥

है। इसी तरह विष्णुकुमारकी कथाको कहीं कहीं 'वात्सल्य' अगमें न देकर 'प्रभाव-
नांग'में दिया गया है † । कथासाहित्यकी ऐसी हालत होते हुए और एक नामके
अनेक व्यक्ति होते हुए भी स्वामी समतभद्र जैसे सतर्क विद्वानोंसे, जो अपने
प्रत्येक शब्दको बहुत कुछ जाँच तोलकर लिखते हैं, यह आशा नहीं की जा
सकती कि वे उन दृष्टांतोंके यथेष्ट मार्मिक अंशका उल्लेख किये बिना ही उन्हें
केवल उनके नामोंसे ही उद्धृत करनेमें संतोष मानते, और जो दृष्टांत सर्वमान्य
नहीं उसे भी प्रयुक्त करते, अथवा बिना प्रयोजन ही किसी खास दृष्टांतको
दूसरोंपर महत्त्व देते।

(३) यदि प्रयत्नकार महोदयको, अपने ग्रंथमें, दृष्टांतोंका उल्लेख करना ही
इष्ट होता तो वे प्रत्येक व्यक्तिके कार्यकी गुरुता और उसके फलके महत्त्वको
कुछ जँचे बूले शब्दोंमें जरूर दिखलाते। साथ ही, उन दूसरे विषयोंके उदाहर-
णोंका भी, उसी प्रकारसे, उल्लेख करते जो ग्रंथमें अनुदाहृत स्थितिमें पाये जाते
हैं—अर्थात्, जब अहिंसादिक व्रतोंके साथ उनके प्रतिपक्षी हिंसादिक पापोंके
भी उदाहरण दिये गये हैं तो सम्मगर्दर्शनके नि शकितादि अष्ट अंगोंके साथ
उनके प्रतिपक्षी शकादिक दोषोंके भी उदाहरण देने चाहियें थे। इसी प्रकार
तीन मूढ़ताओंको धरनेवाले न धरनेवाले, मद्य-मांस-मधु आदिका सेवन करने-
वाले न करनेवाले, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंके पालनमें तत्पर-अ-
तत्पर, ' उच्चैर्गोत्र प्रणते ' नामक पदमें जिन फलोंका उल्लेख है उनको पानेवाले,
सल्लेखनाकी शरणमें जानेवाले और न जानेवाले इन सभी व्यक्तियोंका अलग
अलग दृष्टांत रूपसे उल्लेख करना चाहिये था। परंतु यह सब कुछ भी नहीं
किया गया और न उक्त छहों पद्योंकी उपस्थितिमें इस न करनेकी कोई माकूल
(समुचित) वजह ही मालूम होती है। ऐसी हालतमें उक्त पद्योंकी स्थिति और
भी ज्यादा संदेहास्पद हो जाती है।

(४) ' धनश्री ' नामका पद्य जिस स्थितिमें पाया जाता है इससे उसके
उपाख्यानोका विषय अच्छी तरहसे प्रतिभासित नहीं होता। स्वामी समतभद्रकी
रचनामें इस प्रकारका अधूरापन नहीं हो सकता।

(५) ब्रह्मचर्याणुव्रतके उदाहरणमें ' नीली ' नामकी एक स्त्रीका जो दृष्टांत
दिया गया है वह ग्रंथके सदर्मसे—उसकी रचनासे—मिलता हुआ मालूम नहीं

† देखो, ' अरुगल छेप्पु ' नामक तामिल भाषाका ग्रंथ, जो अंग्रजी जैन-
गजटमें, अनुवादसहित, मुद्रित हुआ है।

हीता । स्वामी समतमद्वारा यदि उस पक्षी स्वना हुई होती तो वे अपने मंत्रकी पूर्व रचनाके अनुसार वहाँपर किसी पुण्य व्यक्ति का ही अद्वारण देते — सीधे नहीं; क्योंकि उन्होंने ब्रह्मचर्याभ्युत्थता को स्वल्प न तु परदत्तात् पश्यन्ति नामके पद्यमें परदारमिदृति और स्वहारसंतोष नामोंके साथ दिया है वह पुस्तकोंमें प्रमाण करके ही सिद्धा गया है । द्रष्टव्य भी उसके अनुस्यू ही होना चाहिये था ।

(१) परिग्रह परिमाणप्रत्यय जब का उदात्त दिया गया है । टीकामें जब 'को कुम्भकी रात्रा 'सोमप्रम'का पुत्र और कुलोचनाका वसि सुनित किया है । परन्तु इस रात्रा 'जब (जम्भुमार) की भी कथा मन्मथिजव केवके नासिपुराणमें पाई जाती है उससे यह परिग्रहपरिमाण प्रत्यय बारक न होकर 'परदारमिदृति' नामके श्लोकप्रत्यय—ब्रह्मचर्याभ्युत्थता वारक माह्वय होया है और उसी प्रत्यय परीक्षामें उतीर्ण होनेपर उष्टि वेदता द्वारा पूज्यसिधमकी मूर्ति हुई थी । टीकानगर महाकव भी इस उत्पद्ये किया नहीं सके और न प्रवत्न करने पर भी इस कथामें पूरी तीरसे परिग्रहपरिमाणनामके अनुस्यूकी बना सके । उन्होंने कायद मूकके अनुस्यूवसे यह सिद्ध तो दिया कि 'जब' परिमितपरिग्रही था और स्वयंमें इन्होंने भी उसके इस परिग्रहपरिमाणप्रत्ययकी प्रशंसा की थी परंतु कथामें वे अन्ततक उसका निर्वाह पूरी तीरसे नहीं कर सके । उन्होंने एक वेदताको श्रीके रूपमें भेजकर भी परीक्षा कराई है उससे यह सबके श्लोक-मन्त्री ही परीक्षा हो गई है । नासिपुराणमें इस प्रशंगपर साफ तीरसे जबके श्लोकमाह्वयनाम ही उल्लेख किया है जिसके कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

जमरेग्रे क्षमामध्ये श्रीकमाह्वयनार्थं ।

अपत्यं तद्विजानात्तं प्रकुर्वन्ति कदाचन ॥ १६ ॥

कुत्सा तथादिमे कथे रविमभिमिमाजः ।

श्रीतो रविप्रजाकमेव तच्छ्रीकाम्यैर्धर्मं पति ॥ १७ ॥

येपिता क्वचन नाम देवी माप्य जर्षं सुधीः ।

स्वापुराणं कथे अन्धमकरीद्विद्वेदकम् ।

तदुद्धरेतिं दत्ता मा संस्था पापमीच्छं ॥ १८ ॥

श्रीधर्मा त्वं प्रमादामि मया मुनिवरादृतं ।

परागावागैर्धर्ममुक्तं मे विपनकर्म ॥ १९ ॥

है। इसी तरह विष्णुकुमारकी कथाको कहीं कहीं 'वात्सल्य' अर्गमें न देखर 'प्रभाव-नाग'में दिया गया है†। कथासाहित्यकी ऐसी हालत होते हुए और एक नामके अनेक व्यक्ति होते हुए भी स्वामी समतभद्र जैसे मतर्क विद्वानोंसे, जो अपने प्रत्येक शब्दको बहुत कुछ जाँच तोलकर लिखते हैं, यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उन दृष्टांतोंके यथेष्ट मार्मिक अंशका उद्भेग किये बिना ही उन केवल उनके नामोंसे ही उद्धृत करनेमें संतोष मानते, और जो दृष्टांत गर्वमान्य नहीं उसे भी प्रयुक्त करते, अथवा बिना प्रयोजन ही किसी नाम दृष्टांतके दूसरोंपर महत्त्व देते।

(३) यदि ग्रथकार महोदयको, अपने ग्रथमें, दृष्टांतोंका उद्भेग करना है इष्ट होता तो वे प्रत्येक व्यक्तिके कार्यकी गुस्ता और उसके फलके महत्त्वको कुछ जँचे तुले शब्दोंमें जरूर दिखलाते। साथ ही, उन दूसरे विषयोंके उदाहरणोंका भी, उसी प्रकारसे, उद्भेग करते जो ग्रथमें अनुदाहृत स्थितिमें पाये जाते हैं—अर्थात्, जब अहिंसादिक प्रतीकोंके साथ उनके प्रतिपक्षी हिंसादिक पापोंके भी उदाहरण दिये गये ह तो सम्यग्दर्शनके नि शक्तितादि अष्ट अंगोंके साथ उनके प्रतिपक्षांशकादिक दोषोंके भी उदाहरण देने चाहिये थे। इसी प्रकार तीन मूढताओंको धरनेवाले न धरनेवाले, मद्य-मास-मधु आदिका सेवन करनेवाले न करनेवाले, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंके पालनमें तत्पर—अतत्पर, 'उच्चैर्गोत्रं प्रणते' नामक पद्यमें जिन फलोंका उद्भेग है उनकी पानेवाले, सब्देखनाकी धारणमें जानेवाले और न जानेवाले इन सभी व्यक्तियोंका अलग अलग दृष्टांत रूपसे उद्भेग करना चाहिये था। परंतु यह सब कुछ भी नहीं किया गया और न उक्त छहों पद्योंकी उपस्थितिमें इस न करनेकी कोई माकूल (समुचित) वजह ही मालूम होती है। ऐसी हालतमें उक्त पद्योंकी स्थिति और भी ज्यादा सदेहास्पद हो जाती है।

(४) 'धनश्री' नामका पद्य जिस स्थितिमें पाया जाता है इससे उसके उपाख्यानोका विषय अच्छी तरहसे प्रतिभासित नहीं होता। स्वामी समतभद्रकी रचनामें इस प्रकारका अधूरापन नहीं हो सकता।

(५) ब्रह्मचर्याश्रुव्रतके उदाहरणमें 'नीली' नामकी एक स्त्रीका जो दृष्टांत दिया गया है वह ग्रथके संदर्भसे—उसकी रचनासे—मिलता हुआ मालूम नहीं

† देखो, 'अरुणल छेप्पु' नामक तामिल भाषाका ग्रथ, जो अग्रजी जैन-गजटमें, अनुवादसहित, मुद्रित हुआ है।

छात्रोंकी जो क्वाएँ थी हैं वे बहुत ही साधारण तथा भीड़िय हैं और कहीं कहीं जर तो अप्राकृतिक भी जाय पकती हैं। तबमें भाषाको विषय विकटुक नहीं और इस विषय के प्रायः मिथ्यापन माहूम होती हैं। टीकरकारने उन्हें ऐसे हुए, इस बातका कुछ भी प्याय रक्खा माहूम नहीं होता कि जिस मत अमृत बनवा गुण-बोधाधिके विषयमें वे छात्रागत विवेक गये हैं कबका वह स्वरूप इस क्वाके पात्रमें परिस्पृष्ट (अच्छी तरहसे स्पष्ट) कर दिया गया था नहीं जो इस प्रबंध अथवा दूसरे प्रबंध प्रयोगोंमें पता जाता है, और उसके फलप्रदर्शनमें भी किसी असाधारण विशेषताका उल्लेख किया गया अथवा नहीं। अनेकमतीकी क्वामें एक अपवाद भी विचार्यित अनेके स्वरूपको और उसके विषयम जाय समतीकी अथवाको स्पष्ट नहीं किया गया, प्रत्युत इसके अनेकमतीके ब्रह्मचर्य प्रत्येक माहुरस्वरूप ही यत्र तत्र कीर्तन किया गया है; प्रभावना अथवा अथवा क्वामें प्रभावना के स्वरूपको प्रदर्शित करना तो बूढ़ रहा वह भी नहीं बतलाया गया कि ब्रह्मकुमारने कैसे रच चकड़ाया—क्वा अतिरूप विचलना और उसके द्वारा क्वोंकर और क्वा प्रभावना चैतन्यकलाकी हुई; मनदेवकी क्वामें इस बातको बतलानेकी कायद अमृत ही नहीं समझी गई कि मनदेवकी अथवाको राजाने कैसे प्रभावित किया और जिहा उसको सुचित विवेक ऐसे ही एवासे इसके हकमें फैसला किया दिया गया। अत्यन्तमापनका हीय दिखाने के विवेक की अत्यन्तकी क्वा ही गई है उसमें उसे चोरीका ही अपराधी ठहराया है, जिससे वह छात्र अत्यन्तमापनका व रहकर दूसरे प्रयोगों की तरफ चोरीका ही बन गया है। और इस तरहपर इस सभी क्वामेंमें इसकी अधिक बुद्धिची पाई जाती है कि उनपर एक भाषा मिलत विषय किया जा सकता है। परंतु टीकरकार माहुरान यदि इन छात्रोंको अच्छी तरहसे शिक्षा नहीं सके उनके मार्मिक अंतोका उल्लेख नहीं कर सके और न बुद्धिचोको बूढ़ करके इनकी क्वा कोको प्रभावकाकिनी ही बना सके हैं, तो वह सब इनका अपवाद होय है। इसकी बराहसे मूक प्रत्यक्ष कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। और न मूक आपत्तान केसे कुछ विचार अथवा माहुरापन ही हो सकते बिधा कि टीकरमें उन्हें बचा दिया गया है। इसीसे हमारा यह कहना है कि इस ७ वीं आपत्तिमें कुछ भी गलत नहीं है।

कठो आपत्तिके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि नयमें विस्तृत नय का बोध है यह सुकीर्णवाके पक्षमें मिल कोई वृत्ता ही व्यक्ति होग्य नयका वृत्त

आविम्यद्देवता चैव शीलवत्या परे न के ।

ज्ञात्वा तच्छीलमाहात्म्यं गत्वा स्वस्वामिन प्रति ॥ २७१ ॥

प्राज्ञासत्ता तयोस्तादृष्ट्याहात्म्यं सोऽपि विस्मयात् ।

रविप्रभ समागत्य ताद्युग्मा तद्गुणप्रिय ॥ २७२ ॥

स्ववृत्तान्त समाख्याप युवाभ्यां क्षम्यतामिति ।

पूजयित्वा महारत्नेनाकलोक समीपियान् ॥ २७३ ॥

—पर्व ४७ वाँ ।

श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत हरिवंशपुराणमें भी, निमलिनित दो पद्यों द्वारा 'जय'के शीलमहात्म्यको ही सूचित किया है—

“ दामप्रदासनादेस्य रतिप्रभसुरेण सः ।

परीक्ष्य स्वस्त्रिया भेरावन्यदा पूजितो जयः ॥ १३० ॥

सर्वासामेव शुद्धीनां शीलशुद्धिः प्रशम्यते ।

शीलशुद्धिर्विशुद्धानां किंकरास्त्रिदशा नृणाम् ॥ ३१ ॥

—सर्ग १२ वाँ ।

इस तरह पर जयका उक्त दृष्टान्तरूपसे उल्लेख उसके प्रसिद्ध आल्यानके विरुद्ध पाया जाता है और इससे भी पद्यकी स्थिति सदिग्ध हो जाती है ।

(७) इन पद्योंमें दिये हुए दृष्टान्तोंको टीकामें जिस प्रकारसे उदाहृत किया है, यदि सबमुच ही उनका वही रूप है और वही उनसे अभिप्रेत है तो उससे इन दृष्टान्तोंमें ऐसा कोई विशेष महत्त्व भी मात्तम नहीं होता, जिसके लिये स्वामी समतभद्र जैसे महान् आचार्योंको उनके नामोल्लेखका प्रयत्न करनेकी जरूरत पड़ती । वे प्रकृत विषयको पुष्ट बनाने अथवा उसका प्रभाव हृदयपर स्थापित करनेके लिये पर्याप्त नहीं हैं । कितने ही दृष्टान्त तो इनसे भी अधिक महत्त्वके, हिंसाअहिंसादिके विषयमें, प्रतिदिन देखने तथा सुननेमें आते हैं ।

इन्हीं सब कारणोंसे उक्त छहों पद्योंको स्वामी समतभद्रके पद्य स्वीकार करनेसे इनकार किया जाता है और कहा जाता है कि वे 'क्षेपक' हैं ।

हमारी रायमें, इन आपत्तियोंमेंसे सबसे पिछली आपत्ति तो ऐसी है जिसमें कुछ भी बल मात्तम नहीं होता, क्योंकि उसकी कल्पनाका आधार एक मात्र टीका है । यह बिलकुल ठीक है, और इसमें कोई संदेह नहीं कि टीकाकारने इन

छात्रोंमें जो क्वाँएँ हो हैं वे बहुत ही साधारण तथा भीड़िय हैं और कहीं कहीं पर तो अत्यन्तही भी जान पड़ती हैं। उनमें माथोंका निम्न निम्नका यही और इस सिद्धि के प्रायः निम्नान्तर माध्यम होती हैं। टीकाकारने उन्हें ऐसे हुए, इस बातका कुछ भी ध्यान रखना माध्यम नहीं होता कि जिस प्रतः अथवा अथवा गुण-दोषादिके विषयमें वे छात्रांत सिद्धि गये हैं अथवा वह स्वयं उस क्वाँएँ पाठमें परिस्तुत (अच्छी तरहसे व्याख्या) कर दिया गया या नहीं। इस प्रसंग अथवा दूसरे प्रसंग प्रयोगोंमें जाना जाता है, और उसके फलप्रदर्शनमें भी किसी असाधारण विशेषताका उल्लेख किया गया अथवा नहीं। अर्न्तमर्तीकी क्वाँएँ एक अपर भी निश्चिन्तित अथवा स्वयंसे और उसके विषयमें अनेक मर्तीकी माध्यमसे व्याख्या नहीं किया गया; प्रस्तुत इसके अर्न्तमर्तीके प्रत्यक्ष अथवा माध्यमसे ही वह एक हीरक किया गया है; प्रत्यक्ष अथवा अपर की क्वाँएँ प्रमाणों के स्वयंसे प्रदर्शित करना तो यह रहा वह भी नहीं बतलाना तथा कि वह द्वाराये कैसे एक क्वाँएँ—क्या अतिशय निम्नका और उसके द्वारा कर्त्तव्य और क्या प्रमाणों के निम्नका ही है; वनदेवकी क्वाँएँ इस बातको बतलानेकी जानकर बहुत ही नहीं समझी थी कि वनदेवकी स्वयंसे रात्राये कैसे प्रमाणित किया और दिया उसको सुनिश्चित सिद्धि कैसे ही रात्राये उसके हृदयमें फैलकर फैल गया। अत्यन्तमाध्यम दोष निम्नका केके सिद्धि को अत्यन्तकी क्वाँएँ ही नहीं है उसमें उसे बीरकी ही अपराधी छूटा है, जिससे वह छात्र अत्यन्तमाध्यम वरहकर दूसरे प्रयोगों की तरह बीरकी ही बन गया है। और इस तरहपर एक सभी क्वाँएँमें इतनी अधिक बुद्धिवाँ पाई जाती है कि उनपर एक छात्रा निम्न निम्न किया जा सकता है। परंतु टीकाकार माध्यम यदि इन छात्रोंको अच्छी तरहसे निम्न नहीं करके उनके मध्यम अथवा उल्लेख नहीं कर सके और न बुद्धिवाँसे यह करके उनकी क्वाँएँ प्रमाणोंकी ही बना सके हैं, तो यह सब अथवा अपना दोष है। उसकी बजाये मूल प्रमाणों की आपत्ति नहीं की जा सकती। और न मूल आपत्तान्तरों के कुछ निम्न अथवा माध्यम ही हो सकते हैं कि टीकाकारने उन्हें बतल दिया गया है। इसीसे हमारा वह कहना है कि इस ७ वीं आपत्तिमें कुछ भी कम नहीं है।

छठी आपत्तिके सम्बंधमें यह कहा जा सकता है कि पद्यमें निम्न बन का अर्थ है वह बुद्धिवाँके प्रतिष्ठित मित कोई पद्य ही अथवा होना अथवा दूसरे

किसी प्राचीन पुराणमें जयको, परदारनिवृत्ति व्रतकी जगह थापवा उसने अनि-
रिक्त, परिग्रहपरिमाणव्रतका प्रती लिखा होगा। परंतु पहली अवस्थामें इतना
जल्द मानना होगा कि यह व्यक्ति टीकाकारके समयमें भी इतना क्षमप्रतिद था
कि टीकाकारको उसका योष नहीं हो सका और इस लिये उसने मुलोचनाके
प्रति 'जय' को ही जैसे तैसे उदाहरण किया है। दूसरी हालतमें, उदाहरण क्या
परसे, टीकाकारका उस दूसरे पुराणग्रन्थसे परिचित होना संदिग्ध जरूर मालूम
होता है। चौथी आपत्तिके सम्बन्धमें यह कल्पना की जा सकती है कि 'घनधी'
नामका पद्य कुछ बलुद्ध हो गया है। उसका 'यथा क्रम' पाठ जरा गड़बड़ा
भी है। यदि ऐसे पद्योंमें इस आशयके किसी पाठके उन्नेकी जरूरत होती तो
वह 'मातंगो' तथा 'धीषेण' नामके पद्योंमें भी जरूर दिया जाता, क्योंकि
उनमें भी पूर्वकथित विषयोंके क्रमानुसार दृष्टांतोंका उल्लेख किया गया है। परंतु
ऐसा नहीं है, इस लिये यह पाठ यहाँपर अनावश्यक मालूम होता है। इस
पाठकी जगह यदि उसीकी जोड़का दूसरा 'अन्यथासम' पाठ बना दिया जाय
तो क्षणका बहुत कुछ मिट जाता है और तब इस पद्यका यह स्पष्ट आशय
हो जाता है कि, पहले पद्यमें मातंगादिकके जो दृष्टांत दिये गये हैं
उनके साथ ही (सम) इन 'घनधी' आदिके दृष्टांतोंको भी विपरीत
रूपसे (अन्यथा) उदाहरण करना चाहिये—अर्थात्, वे अहिंसादिप्रतीकोंके दृष्टांत
हैं तो इन्हें हिंसादिक पापोंके दृष्टान्त समझना चाहिये और वहाँ पूजातिशयको
दिखाना है तो यहाँ तिरस्कार और दुःखके अतिशयको दिखलाना होगा। इस
प्रकारके पाठभेदका हो जाना कोई कठिन बात भी नहीं है। भटारोंमें प्रर्थोंकी
हालतको देखते हुए, वह बहुत कुछ साधारण जान पड़ती है। परंतु तब इस
पाठभेदके सम्बन्धमें यह मानना होगा कि यह टीकासे पहले हो चुका है
और टीकाकारको दूसरे शुद्ध पाठकी उपलब्धि नहीं हुई। यही वजह है कि
उसने 'यथाक्रम' पाठ ही रक्खा है और पद्यके विषयको स्पष्ट करनेके लिये उसे
टीकामें 'हिंसादिविरत्यभावे' पद की वैसे ही ऊपरसे कल्पना करनी पड़ी है।

शेष आपत्तियोंके सम्बन्धमें, बहुत कुछ विचार करने पर भी, हम अभीतक
ऐसा कोई समाधानकारक उत्तर निश्चित नहीं कर सके हैं जिससे इन पद्योंको †

† यद्यपि छोटे पद्यका रंगदम दूसरे पद्योंसे कुछ भिन्न है और उसे प्रथका
अग माननेको जी भी कुछ चाहता है परंतु पहली आपत्ति उसमें खास तौरसे बाधा
बालती है और यह स्वीकार करने नहीं देती कि यह भी प्रथका कोई अग है।

प्रत्येक एक अंग स्वीकार करनेमें सहजता मिल सके । इन आपत्तियोंमें बहुत कुछ सम्भव था कि जाता है, और इस लिये हमका पूरी तीरसे समझना हुए बिना ठीक जहाँ पक्षोंको प्रत्येक अंग नहीं कहा जा सकता—अन्तर्गत स्वामी समस्तप्रकार स्वीकार करनेमें बहुत बड़ा संशय होता है । आशय नहीं जो ये पक्ष भी टीकासे पहले ही प्रथममें प्रक्षिप्त हो गये हों और साधारण विधिसे देखने अथवा परीक्षादिसे न देखनेके कारण ये टीकाकारको कश्चित्त हो सके हों । यह भी सम्भव है कि हमें किसी दूसरे संस्कृत टीकाकारने ऐसा ही और कदाचित् पहले उनकी सूचनाके लिये अपनी टीकामें दिया हो और वक्तुको उस टीका परसे मुक्तप्रकार की लक्ष्य उत्तरसे समझ असाधारण केन्द्रोंकी कृपासे वे मुक्तका ही अंग बना लिये गये हों । परंतु कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि ये पक्ष संश्लेष करके हैं और हमें सहसा मूल प्रत्येक अंग अथवा स्वामी समस्तप्रकार स्वीकार नहीं कहा जा सकता ।

यहाँ तककी इस संपूर्ण बीजमें जिस पक्षोंकी वहाँ की थी है, हम समझते हैं, इनसे मिल प्रथममें हमारे ऐसे कोई भी पक्ष सम्भव नहीं होते जो बाद औरसे संश्लेष स्वरूपमें पाये जाते हों अथवा बिनापर किसीने अपना बुद्धि उत्तर संश्लेष प्रकट किया हो और इसलिये जिसकी बीजकी इस समय बकरत हो । अस्तु ।

यह तो हुई प्रत्येक उन प्रतिबोधोंकी वहाँ की इस समीक प्रविष्टि परसे वे ही अंग संख्याको लिये हुए है, जब दूसरी उन प्रतिबोधोंकी भी बीजमें जिसमें प्रत्येक कोकसंख्या कुछ अनुपातिकरूपसे पाई जाती है ।

अधिक पक्षोंवाली प्रतियाँ ।

प्रत्येक हस्तलिखित प्रतिबोधोंमें कदापि ऐसी कोई भी कोक-संख्या प्रविष्टि अथवा एक हमारे देखनेमें नहीं आई जिसमें कोकोंकी संख्या केन्द्रीयसे कम हो; परंतु आर्यके बीजसिद्धान्तप्रमाणमें प्रत्येक ऐसी प्रविष्टि की पुष्टि प्रतियों सावधानीपर कर मीमांसा है जिसमें कोक-संख्या परस्पर कमती बढ़ती होते हुए भी केन्द्र-वृत्ति अधिक पाई जाती है । इन प्रतिबोधोंमें ही मूल प्रतिबोधोंकी बीजमें और बाद ही दो कमकी टीकावाली प्रतियोंपरसे अन्तर्गत प्रविष्टि अथवा प्रविष्टि है और उस बीजमें प्रविष्टि की ऐसी वार्त्ता सम्भव हुई है जिन्हें प्रत्येक पक्षोंकी बीजमें इस अवसर पर प्रकट कर देना बड़ी माहिर होता है—जिसे अन्तर्गत

प्रकट किये यह जाँच अधूरी ही रहेगी। अतः पाठवोंकी अनुभववृद्धिके लिये यहाँ उस जाँचका कुछ सार दिया जाता है—

(१) भवनकी मुद्रित सूचीमें रत्नकरउभायवाचारकी जिम प्रतिका नंबर ६३६ दिया है वह मूल प्रति है और उसमें ग्रंथके पद्योंकी संख्या १९० दी है— अर्थात्, ग्रंथकी इस सटीक प्रतिसे अथवा देदसां स्लोकोवाली अन्यान्य मुद्रित अमुद्रित प्रतियोंसे उसमें ४० पद्य अधिक पाये जाते हैं। ये चालीस पद्य, अपने अपने स्थानकी सूचनाके साथ, इस प्रकार हैं—

‘ नाशहीनमल ’ नामके २१ वें पद्यके बाद—

सूर्यार्ष्यो ग्रहणस्तान सक्रान्तौ द्रधिणष्यय ।

सध्यासेचाग्रिमंस्कारो (सत्कारो) देहगेहाचर्चनाधिधि ॥२१॥

गोष्ठान्तनमस्कारः तन्मूत्रस्य निषेवणं ।

रत्नवाहनभूवृक्षशस्त्रशैलादिसेवन ॥ २३ ॥

‘ न सम्यक्त्वसम ’ नामके ३४ वें पद्यके बाद—

दुर्गतावायुपो यथाऽसम्यक्त्वस्य जायते ।

गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरास्थिति ॥ ३८ ॥

‘ अष्टगुण ’ नामके ३७ वें पद्यके बाद—

उक्त च—आणिमा महिमा लाघिमागारिमान्तर्धानकामरूपित्व ।

प्राप्ति प्राकाम्यवक्षिषेक्षित्वाप्रतिहतरवमिति वैक्रियिका ॥४१॥

‘ नवनिधि ’ नामके ३८ वें पद्यके बाद—

उक्त च ग्रंथ—रक्षितयक्षसहस्रकालमहाकालपाण्डुमाणवशस्त्र—

नैसर्पपद्मार्पिगलनानारत्नाश्च नवनिधय ॥४३॥

अतुयोग्यवस्तुभाजनधान्यापुधतूर्पहर्षधस्त्राणि ।

आभरणरत्ननिकरान् क्रमेण निधय प्रयच्छति ॥४४॥

चक्रं छत्रमसिर्दण्डो मणिश्चर्म च काकिणी ।

गृहसनेपत्ती तक्षपुरोधाश्वगजस्त्रियः ॥४५॥

‘ प्राणातिपात ’ नामके ५० वें पद्यके बाद—

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्व्यात्मा कपायवान् ।

पूर्वं प्राण्यतराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा चघ ॥ ६० ॥

६ वटिपाह्या नामके ११ वें पद्यके बाद—

नवावसराद्यौर्मास्य कामाद्यर्धमासिचर्तव्यं ।
 पंचकमनुवर्तं शम्भुमुक्तिः पञ्चमपुत्रतय् ॥ ७१ ॥
 अष्टोमुखोऽवस्थायै च नो द्वे द्वे वटिके त्यजन् ।
 गितामोजनदोषोऽप्यवस्थायै शुक्लमात्रकम् ॥ ७२ ॥
 मोक्षं मोक्षकैक्यां ज्ञातव्यं विषयो भवेत् ।
 रश्मिं चाभिमानस्त्येतुर्दिक्षति सुनीचराः ॥ ७३ ॥
 इदं दृष्ट्वां स्वार्थं पूज्यं परमोदितं ।
 मोक्षं सुरतं स्तोत्रं कुर्वीत्यैकसमन्वितं ॥ ७४ ॥
 मांसरक्षां चर्मास्त्रिभुवनं वत्सलमेव ।
 मृत्युविषीक्याद्यर्थं मत्पात्वागच्छतेनवात् ॥ ७५ ॥
 मार्तण्डपचादीनां वर्तये तद्वचः कुतः ।
 मोक्षं परिहर्तव्यं मन्मूषादिदृष्टये ॥ ७६ ॥

७ पद्मपाठ नामके ११ वें पद्यके बाद—

मांसमक्षिपु द्वा वाचरा न सत्त्वं मद्यपविषु ।
 चर्मपाथो च जीवेषु मद्युष्मरसेषु ॥ ७७ ॥

८ अल्पक नामके ५ वें पद्यके बाद—

एषां दृष्ट्वास्तथा बीजं सन्तुष्टुमन्मयाः ।
 उत्तिमिष्ठं विनोदितं पंचैश्वर्यचर्तव्यं ॥ १ ॥
 रसद्वयकर्म नो दद्याति ज्ञातपुरतैर्जसमिजम् ।
 तस्य च मीनविहृतिर्विचक्रा कस्तु भवति शुच्यम् ॥ २ ॥
 विषाकाशुक्रां विमुक्तविमयी किञ्चिद्वृत्तं (१) च सेवेत ।
 जार्पकद्वयतिथिम् पयोऽपि ज्ञातोऽप्यवस्थायै ॥ ३ ॥
 गात्रिष्ठं दृष्ट्वाप्यमुं संयुज्जति मुहूर्तकः ।
 अहोरात्रं त्र्युज्जं स्वर्गार्थं च दूरवर्तिकं ॥ ४ ॥
 वटिपाथेषु पाथेषु तोत्रं स्वेष्टं तु नास्तेत् ।
 मन्वीर्यं च चर्तव्यं दृष्ट्वां तु महारथतः ॥ ५ ॥

‘चतुराहारविसर्जन’ नामके पद्य न० १०९ के पद्यके बाद—

स प्रोषधोपवासस्तूतममध्यमजघन्यतास्त्रिविधः ।

चतुराहारविसर्जनजलसहिता चाम्लभेदः स्यात् ॥ १३० ॥

‘नवपुष्पै’ नामके पद्य न० ११३ के बाद—

खड्गो पेयणी चुम्बुही उदकुम्भी प्रमार्जिनी ।

पचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्ष न गच्छति ॥ १३५ ॥

स्थापनमुष्पै स्थान पादोदकमर्चन प्रणामश्च ।

वाक्कायहृदयशुद्धय एषणशुद्धिश्च नवविधं पुण्यं ॥ १३६ ॥

श्रद्धाशक्तिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता दया क्षान्ति ।

यस्यैते सप्तगुणास्त दातार प्रशसन्ति ॥ १३७ ॥

‘आहारौषध’ नामके पद्य न० ११७ के बाद—

उक्त च त्रयम्—मैषज्यदानतो जीवो बलवान् रोगवर्जितः ।

सत्त्वक्षण सुवज्रांग तप्त्वा मोक्ष भजेदसौ ॥ १४२ ॥

‘श्रावकपदानि’ नामके पद्य न० १३६ के बाद—

दर्शनिकव्रतिकावपि सामायिक प्रोषधोपवासश्च (सी च) ॥

सच्चित्तरात्रिमक्तव्रतनिरतौ ब्रह्मचारी च ॥ १६२ ॥

भारभाद्विनिवृत्त परिग्रहादनुमते ततोद्दिष्टाद् ।

इत्येकादशानिलया जिनोदिता श्रावका क्रमशः ॥ १६३ ॥

‘सम्यग्दर्शनशुद्ध’ नामके पद्य न० १३७ के बाद—

मूत्रत्रय मदाक्षाष्टौ तथानायतनानि षट् ।

अष्टौ शकादयश्चेति द्वादशोपा पंचावशति ॥ १६५ ॥

घूत च मांस च सुरा च वेश्या पापद्विचौर्यां परदारसेवा ।

एतानि सप्तव्यसनानि लोके पापाधिके पुंसि करा भवति ॥ १६६ ॥

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्ष्म्यप्रोधादिकलान्पापि ।

एत्येन्मधुविशुद्ध्यासौ दर्शनिक इति स्मृतः ॥ १६७ ॥

‘मूलफल’ नामके पद्य न० १४१ के बाद—

येन सचित्तं त्यक्तं दुर्जयजिह्वा विनिर्जिता तेन ।

जीवदया तेन कृता जिनवचन पालितं तेन ॥ १७२ ॥

वर्ष पाने नामके पद्य नं १४९ के बाद—

बो विजि सुतर्क सुचति तेवावधानं कृतं च पन्माद्यं ।

पंचाक्षरस्य मध्ये विविधं मुनिचरोतेति ॥ १०४ ॥

मन्त्रीय नामके पद्य नं १४९ के बाद—

बो न च वाति विचार बुवतिमन्त्राद्यवधानविदोपि ।

सत्येव (न) सूर्यधरो रत्नधरो बो मन्त्रधरो ॥ १०५ ॥

‘मन्त्रेण रक्षतु नामके पद्य नं १४५ के बाद—

कोई वास्तु वर्ष चान्त्रं द्विपदं च चतुष्पदं ।

वर्षं सप्तवर्षं चतुर्वर्षं मासं चेति विविधं ॥ १०६ ॥

मित्राज्यवेदहस्तामित्ररक्षकचतुर्वर्षं ।

रागाद्विषाद्यं संपा लुप्तं चतुर्वर्षं ॥ १०७ ॥

वाद्यमंत्रविहीनं वरिष्ठमनुजः स्वपापतः सन्ति ।

मुनिरन्तर्हस्तामन्त्री कोकेऽतिबुद्धमो जीवः ॥ १०८ ॥

द्विती मुनिवत् नामके पद्य नं १४० के बाद—

सूर्यरक्षके स्वामे चोत्पद्यमाने मन्त्रविधिः ।

मन्त्रैक्यं च मन्त्रः कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु ॥ १०९ ॥

कौपीनोऽमी रात्रिप्रतिमायोगं करोति विद्यमेव ।

कोचं विटं कृत्वा मुक्तिं सुजनेन पाप्मिदुटे ॥ ११० ॥

वीरचर्चा च सूर्यप्रतिमा विद्यमानोऽयमिदमन्त्रः ।

सिद्धांताहस्तादित्यज्यवर्षं वासिदेवाभिराज्यं ॥ १११ ॥

अथस्तु सूर्यरक्षकः सूर्यमन्त्रात्तदनु वर्षः ।

कोपी हापुत्रमापुत्री जेनेषु विद्यमाने ॥ ११२ ॥

(१) मन्त्रकी दूसरी सूत्रप्रतिमें जिसका नंबर ६३१ है, इस उपपुंख नामके पद्यमें ४३ ४४ ४५, ६ वीर ८१ नंबरवाके पद्य पद्य तो निम्नलिखित गरी है, क्षेत्र पौरीछ कर्मायें यी २२, २३ ३० १३५ १३६ १३७ १६२ १६३ १६५, १६६ १६७ १६४ १ ५, १६६ १६ नंबरवाके पद्य पद्यमें मूत्रमन्त्र मन्त्र गरी बताया गया—उन्हें द्विपदीके वीरवर वर उपर हापिनेर दिवा है वीर वरदेष्टे लक्ष्मी वरणी आदि तीनों पद्योंके साथ उक्त च तथा एका-

‘दशके’ आदि चार पद्योंके साथ ‘उक्त च चतुष्टय’ ये शब्द भी लगे हुए हैं। ४१, १७४ और १७६ नवरवाले तीन पद्योंको प्रथका अग वनाकर पीछेसे कोष्टक-के भीतर कर दिया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि ये पद्य मूलप्रथके पद्य नहीं हैं—भूलसे मध्यमें लिखे गये हैं—उन्हें टिप्पणीके तौरपर हाशियेपर लिखना चाहिये था। इस तरहपर अठारह पद्योंको प्रथका अग नहीं बनाया गया है। बाकीके सतरह पद्योंमेंसे, जिन्हें प्रथका अग बनाया गया है, ७१ से ७६, १०१ से १०५ और १७२ नवरवाले बारह पद्योंको ‘उक्त च’ ‘उक्त च पचक’ इत्यादि रूपसे दिया है और उसके द्वारा प्रथम मूलप्रतिके आशयसे भिन्न यह सूचित किया गया है कि ये स्वामी समतमद्रसे भी पद-भेदके—दूसरे आचार्योंके—पद्य हैं और उन्हें समन्तभद्रने अपने मूलप्रथमें उद्धृत किया है। हाँ, पहली प्रतिमें ‘भैषज्यदानतो’ नामके जिस पद्य न० १४२ को ‘उक्त च त्रय’ शब्दोंके साथ दिया है वह पद्य यहाँ उक्त शब्दोंके संसर्गसे रहित पाया जाता है और इस लिये पहली प्रतिमें उक्त शब्दोंके द्वारा जो यह सूचित होता था कि अगले ‘श्रीपेण’ तथा ‘देवाधिदेव’ नामके वे पद्य भी ‘उक्त च’ समझने चाहिये जो डेढ़सौ श्लोकवाली प्रतियोंमें पाये जाते हैं वह घात इस प्रतिसे निकल जाती है। एक विशेषता और भी इस प्रतिमें देखी जाती है और वह यह है कि ‘अतिवाहना’ नामके ६२ वें पद्यके बाद जिन छह श्लोकोंका उल्लेख पहली प्रतिमें पाया जाता है उनका वह उल्लेख इस प्रतिमें उक्त स्थानपर नहीं है। वहाँ पर उन पद्योंमेंसे सिर्फ ‘अहोमुखे’ नामके ७२ वें पद्यका ही उल्लेख है—और उसे भी देकर फिर कोष्टकमें कर दिया है। उन छहों पद्योंको इस प्रतिमें ‘मद्यमांस’ नामके ६६ वें पद्यके बाद ‘उक्त च’ रूपसे दिया है और उनके बाद ‘पचाणुव्रत’ नामके ६३ वें मूल पद्यको फिरसे उद्धृत किया है।

(३) भवनकी तीसरी ६४१ नम्बरवाली प्रति कनदीटीकासहित है। इसमें पहली मूल प्रतिवाले वे सब चालीस पद्य, जो ऊपर उद्धृत किये गये हैं, अपने अपने पूर्वसूचित स्थानपर और उसी क्रमको लिये हुए, टीकाके अंगरूपसे पाये जाते हैं। सिर्फ ‘द्यूत च मांस’ नामके पद्य न० १६६ की जगह टीकामें उसी आशयका यह पद्य दिया हुआ है—

द्यूत मांस सुरा वैश्या पापार्द्धि परदारता ।

स्तोयेच सह सप्तेति व्यसनानि विदूरयेत् ॥

इसके विषय इसी विवेचना और भी है कि पक्षी मूक प्रतिमें सिर्फ पाँच पक्षोंके साथ ही उर्ध्व व उर्ध्व व त्रय चन्द्रोंका संयोग था। इस प्रतिमें इन पक्षोंके अतिरिक्त बुधरे और भी २१ पक्षोंके साथ वैसे चन्द्रोंका संयोग माना जाता है—अर्थात् मं १ १ से १ ५ तकके पाँच पक्षोंको उर्ध्व व उर्ध्व १३५० से १३० मंवरवाके तीस पक्षोंको उर्ध्व व १६५ से १६० मंवरवाके तीस पक्षोंको उर्ध्व व त्रय १०२ १०४ १०६ मंवरवाके पक्षोंको उर्ध्व व १०९ से १८१ मंवरवाके तीस पक्षोंको उर्ध्व व त्रय और १८४ से १ ७ मंवरवाके बार पक्षोंको उर्ध्व व चतुर्दश चन्द्रोंके साथ उद्भूत किया है। साथ ही इस टीका तथा बुधरी टीकामें भी मैत्रज्यहानतो नामके पक्षके साथ श्रीवेच और देवाचिरेव नामके पक्षोंको भी उर्ध्व व त्रय रूपसे एक साथ उद्भूत किया है। माऊ बाबाजी कहे द्वारा प्रकाशित रत्नकरण-नामप्रचारकी प्रस्तावनासे ऐसा मान्य होता है कि कनकी विधिमें १ श्लोकोंवाली प्रतिमें मैत्रज्यहानतो नामक पक्षके बार वह पक्ष भी दिया हुआ है—

(१) शालग्रामपक्षकेनामा कनकसु रत्नकरणावि ।

परिक्रान्ता पक्षेकशालेयकशायमात्रम् ॥ १

यस्य है कि बीच-बीच नामक पक्षको साथ केन्द्र के तीनों पक्ष ही 'उर्ध्व व त्रय' चन्द्रोंके साथ ही बार 'शालग्राम' नामक वह पक्ष कनकी टीकाकी इस प्रतिमें मूक पक्ष हो।

(४) मन्त्रकी चौथी ६२९ मंवरवाकी प्रति भी कनकीटीकापरिचित है। इसकी श्रुत श्रमा तीसरी प्रति भी है, विवेचना सिर्फ इसकी ही नहीं उल्लेख योग्य है कि इसमें १०४ मंवरवाके पक्षके साथ उर्ध्व व उर्ध्व व त्रय वही सिरे और १०२ मंवरवाके पक्षके साथ उर्ध्व व श्री नामक 'उर्ध्व व त्रय' चन्द्रोंका संयोग किया है परंतु इनके बाद श्लोक नहीं मूक किया है। इसके विषय इस टीकाकी ६ मंवरवाके पक्षके उर्ध्व व ७१ से ७६ मंवरवाके छह पक्षोंको उर्ध्व व त्रय और १६२ १६३ मंवरवाके दो पक्षोंको उर्ध्व व द्वय किया है। और इन ९ पक्षोंका वह उल्लेख तीसरी प्रतिमें इस प्रतिमें नहीं है।

०१३५ और १३६ मंवरवाके पक्ष रत्नकरणाकी इस संस्कृतटीकामें भी 'उद्भूत' शब्दके साथ उद्भूत किया गया है।

(५) चारों प्रतियोंके इस परिचयसे * भाग जाहिर है कि उक्त दोनों मूल प्रतियोंमें परस्पर मितनी विभिन्नता है। एक प्रतिमें जो आठ टिप्पणादिके तौर पर दिये हुए हैं, दूसरीमें वे ही आठ मूल रूपसे पाये जाते हैं। इसी तरह दोनों टीकाओंमें जिन पद्योंको 'उक्त च' आदिरूपसे दूसरे ग्रंथोंसे उद्धृत करके टीकाका एक अंग बनाया गया था उन्हें उक्त मूल प्रतियों अथवा उनसे पहली प्रतियोंके लेखकोंने मूलका ही अंग बना डाला है। यद्यपि, इस परिचयपरसे, किसीको यह बतलानेकी ऐसी कुछ जरूरत नहीं रहती कि पहला मूल प्रतिमें जो ४० पद्य बढ़ हुए हैं और दूसरी मूलप्रतिमें जिन १७ पद्योंको मूलका अंग बनाया गया है वे सब मूल ग्रंथके पद्य नहीं हैं, बल्कि टीका-टिप्पणियोंके ही अंग हैं—विज्ञ पाठक ग्रंथमें उनकी स्थिति, पूर्वापर पद्योंके साथ उनके सम्बन्ध, टीकाटिप्पणियोंमें उनकी उपलब्धि, ग्रंथके साहित्यसंदर्भ, ग्रंथकी प्रतिपादन शैली, समतभद्रके मूल ग्रंथोंकी प्रकृति † और दूसरे ग्रंथोंके पद्यादि विषयक अपने अनुभवपरसे सहजहीमें इस नतीजेको पहुँच सकते हैं कि वे सब दूसरे ग्रंथोंके पद्य हैं और इन प्रतियों तथा इन्हीं जैसी दूसरी प्रतियोंमें किसी तरहपर प्रक्षिप्त हो गये हैं—फिर भी साधारण पाठकोंके सतोषके लिये, यहाँपर कुछ पद्योंके सम्बन्धमें, नमूनेके तौरपर, यह प्रकट कर देना अनुचित न होगा कि वे कौनसे ग्रंथोंके पद्य हैं और इस ग्रंथमें उनकी क्या स्थिति है। अतः नीचे उक्तीका यत्किंचित् प्रदर्शन किया जाता है—

क—'सूर्यार्घ्यों ग्रहणस्नान,' 'गोपृष्टान्तनमस्कार' नामके ये दो पद्य, यद्यस्तिलक ग्रंथके छठे आश्वासके पद्य हैं और उसके चतुर्थकल्पमें पाये जाते हैं। दूसरी मूल प्रतिमें, यद्यपि, इन्हें टिप्पणीके तौर पर नीचे दिया है तो भी पहली मूल प्रतिमें 'आपगासागरस्नान' नामके पद्यसे पहले देकर यह सूचित किया है कि ये लोकमूढताके द्योतक पद्य हैं और, इस तरह पर, ग्रंथकर्ताने लोकमूढताके तीन पद्य दिये हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। ग्रंथकार महोदयने शेष दो मूढताओंकी

* यह परिचय उस नोट परसे दिया गया है जो जैनसिद्धान्तमन्वन आराका निरीक्षण करते हुए हमने प० शातिराजजीकी सहायतासे तय्यार किया था।

† दोनों मूल प्रतियोंमें कुछ पद्योंको जो 'उक्त च' रूपसे ग्रंथका अंग बनाया गया है वह स्वामी समतभद्रके मूल ग्रंथोंकी प्रकृतिके विरुद्ध जान पड़ता है।

उक्त लोकमूल्यांक भी बर्नर एक ही पक्षमें किया है। ११ भी अताम्बीके निम्न ५ आम्बावरबीमें भी अर्धे अन्वयवमासुतकी दीक्षमें स्वामि अन्वयवके नामसे— स्वामिसूच्यमि पदके साथ—मूत्रवके दोषक इन्हीं तीन पक्षोंके उद्धृत किया है जो इस सटीक ग्रंथमें पाये जाते हैं। इसके सिवाय एक दोनो पक्ष आदि लोकमूल्यांक के दोषक हैं भी नहीं। और व उन्हें वेषा सुविष्ट किया गया है। वस्तुस्थितिमें उनके सम्बन्धों यह पक्ष और दिया है—

वहीवदसुवैषु मन्त्रं चर्मवैतलं ।

तत्त्वव्यवसायार्थं कर्मणं सुगुणवत् ।

और इस तरहपर दोनों पक्षोंमें मूल्यान्वयके कर्मणं कुछ समुच्चय किया गया है, पुनः १ स्वयं किटीका नहीं दिया गया—बैसा कि उनके चारोंके निम्न पक्षोंके प्रकट है—

समन्वयव्यवसायवैतलकोकमाधवत् ।

स्वमादि विमूल्यान्वयं क्षेत्रं मूत्रमन्त्रकम् ।

इस पक्ष कर्मणं यह विच्छिन्न स्पष्ट ही जाया है कि उक्त दोनों पक्ष मूलमन्त्रके नहीं बल्कि वस्तुस्थितिमें हैं।

क—‘मूत्रमन्त्र’ नामक ११५ अन्वयवत्त पक्ष भी वस्तुस्थितिमें उक्त आम्बावर (अन्व ५ ११) का पक्ष है। यह साथ हीरके ‘अन्वयवत्तमन्त्र’ पदकी दीक्ष विपरीत किन्ने उद्धृत किया हुआ ही जान पड़ता है—दूसरी प्रविही विपरीतमें यह दिया भी है। मूत्रमन्त्रके संक्षेपके साथ अक्षय कोई मेक नहीं—यह नहीं निरा अन्वयवत्त जान पड़ता है। स्वामिअन्वयवत्तने सुत्ररूपसे प्रत्येक प्रविष्टाक्ष स्वयं एक एक पक्षमें ही दिया है।

इसी तरहपर ‘मौलाधिपु’ और ‘वज्राधिपि’ नामके पक्ष व ८१ ११० भी वस्तुस्थितिमें ही जान पड़ते हैं। वे कमका पक्षके ० हैं। वे आम्बावरमें चारोंके आम्बेवत्त ० साथ पाये जाते हैं। मूलमन्त्रके संक्षेपके साथ इनका भी मेक

• पदके वक्षमें ‘वर्ममन्त्रा व औवपु’ की जगह आम्बवत्त व अन्वयवत्त यह पाठ दिया है। और दूसरे पक्षमें ‘उपि’ की जगह ‘वज्राधिपि’ की जगह अम्बाधिपि और ‘वत्सवत्’ की जगह वत्सवत् ये पाठ दिये हैं जो बहुत अक्षय है।

उरह ओकमूढता'का भी नहीं एक ही पक्षमें लिया है। ११ वीं अंशमें लिखा है कि आचार्यजीने भी अपने अनपारकमाधुर्य'की टीकामें स्वामि समतन्त्रके नामसे— स्वामिसूत्रालि पक्षके साथ—मूहत्रयके दोषक उन्हीं तीन कबोंको उद्धृत किया है जो इस सटीक ग्रंथमें पाये जाते हैं। इसके सिवाय एक दोनो पक्ष काचित ओकमूढता'के दोषक हैं भी नहीं। और व उन्हीं दोनो सूचित किया गया है। ब्रह्मसिद्धिकमें उनके सम्बन्धों यह पक्ष और दिया है—

बहीचदसमुपैतु मज्जनं नर्मवेत्तया ।

उक्तसुप्रममयावो कन्दर्प सुगुणैः ।

और इस तरहपर तीनों पक्षोंमें मूहताओंके कवयका कुछ समुच्चय किया गया है, इनमें १ स्वस्म कियाका नहीं दिया गया—किसी कि उनके बाह्यके निम्न पक्षसे स्पष्ट है—

सम्बन्धान्तरात्मकवेदकोकलमात्रकम् ।

पुनर्महि विमुक्तार्थं क्षेत्रं सुहृन्मनेकया ।

इस सब कवयों यह विच्छिन्न स्वस्म हो जाता है कि उक्त दोनों पक्ष मूहत्रयके नहीं बल्कि ब्रह्मसिद्धिकके हैं।

क—'मूहत्रय' नामक ११५ अक्षरवाच्य पक्ष भी ब्रह्मसिद्धिकके छठे अम्बास (अध्याय ११) का पक्ष है। यह साक तीरसे 'सम्बन्धान्तरात्मक' पक्षकी टीका द्विपक्षोंके निम्न उद्धृत किया हुआ ही जाव सकता है—दूसरी प्रतिकी द्विपक्षोंमें यह दिया भी है। मूहत्रयके तीरमेंके साथ उक्तका कोई मेल नहीं—यह वही मेल अनापत्त्यक जान सकता है। स्वामिसमतन्त्रने सुहृन्मनेके प्रत्येक प्रतिमात्र स्वस्म एक एक पक्षमें ही दिया है।

इसी तरहपर 'माधुर्य' और 'भ्रष्टाचार' नामके पक्ष व ८१ १३० वीं ब्रह्मसिद्धिकके ही जाव सकते हैं। वे कवय उनके हैं ८ हैं आचार्यमें आचार्य नामके ८ साथ पाये जाते हैं। मूहत्रयके तीरमेंके साथ इनका भी मेल

• पहले पक्षमें 'नर्ममात्रो न जीवेतु' की जगह 'आह्वयस्व न मर्त्ये' यह पाठ दिया है। और दूसरे पक्षमें 'गुणि' की जगह 'गुणि' 'ब्रह्मास्मि' की जगह 'कमलचित्' और 'ब्रह्मते' की जगह 'नर्मते' के पाठ दिये हैं जो उद्धृत अपरान है।

(५) चारों प्रतियोंके इस परिचयसे * माफ जाहिर है कि उक्त दोनों मूल प्रतियोंमें परस्पर कितनी विभिन्नता है। एक प्रतिमें जो श्लोक टिप्पणादिके तौर पर दिये हुए हैं, दूसरीमें वे ही श्लोक मूल रूपसे पाये जाते हैं। इसी तरह दोनों टीकाओंमें जिन पद्योंको 'उक्त च' आदिरूपसे दूसरे ग्रंथोंसे उद्धृत करके टीकाका एक अंग बनाया गया था उन्हें उक्त मूल प्रतियों अथवा उनसे पहली प्रतियोंके लेखकोंने मूलका ही अंग बना डाला है। यद्यपि, इस परिचयपरसे, किसीको यह बतलानेकी ऐसी कुछ जरूरत नहीं रहती कि पहली मूल प्रतिमें जो ४० पद्य बढ़ हुए हैं और दूसरी मूलप्रतिमें जिन १७ पद्योंको मूलका अंग बनाया गया है वे सब मूल ग्रंथके पद्य नहीं हैं, बल्कि टीका-टिप्पणियोंके ही अंग हैं—विज्ञ पाठक ग्रंथमें उनकी स्थिति, पूर्वापर पद्योंके साथ उनके सम्बन्ध, टीकाटिप्पणियोंमें उनकी उपलब्धि, ग्रंथके साहित्यसंदर्भ, ग्रंथकी प्रतिपादन शैली, समतभद्रके मूल ग्रंथोंकी प्रकृति † और दूसरे ग्रंथोंके पद्यादि विषयक अपने अनुभवपरसे महजहीमें इस नतीजेको पहुँच सकते हैं कि वे सब दूसरे ग्रंथोंके पद्य हैं और इन प्रतियों तथा इन्हीं जैसी दूसरी प्रतियोंमें किसी तरहपर प्रक्षिप्त हो गये हैं—फिर भी साधारण पाठकोंके संतोषके लिये, यहाँपर कुछ पद्योंके सम्बन्धमें, नमूनेके तौरपर, यह प्रकट कर देना अनुचित न होगा कि वे कौनसे ग्रंथोंके पद्य हैं और इस ग्रंथमें उनकी क्या स्थिति है। अतः नीचे उसीका यत्किंचित् प्रदर्शन किया जाता है—

क—'सूर्यार्घ्यों ग्रहणस्नान,' 'गोष्ठान्तनमस्कार' नामके ये दो पद्य, यशस्विलक ग्रंथके छठे आश्वासके पद्य हैं और उसके चतुर्थकल्पमें पाये जाते हैं। दूसरी मूल प्रतिमें, यद्यपि, इन्हें टिप्पणीके तौर पर नीचे दिया है तो भी पहली मूल प्रतिमें 'आपगासागरस्नान' नामके पद्यसे पहले देकर यह सूचित किया है कि ये लोकमूढताके द्योतक पद्य हैं और, इस तरह पर, ग्रंथकर्ताने लोकमूढताके तीन पद्य दिये हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। ग्रंथकार महोदयने शेष दो मूढताओंकी-

* यह परिचय उस नोट परसे दिया गया है जो जैनसिद्धान्तभवन आरा-का निरीक्षण करते हुए हमने प० शांतिराजजीकी सहायतासे तय्यार किया था।

† दोनों मूल प्रतियोंमें कुछ पद्योंको जो 'उक्त च' रूपसे ग्रंथका अंग बनाया गया है वह स्वामी समतभद्रके मूल ग्रंथोंकी प्रकृतिके विरुद्ध जान पड़ता है।

उक्त कोकमूषता'का भी बर्णन एक ही पद्यमें किया है। १३ वीं सताब्दीके विद्वान् पं. जाधवरावजीने भी अपने जलधारबमामृत'की टीकामें स्वामि कर्मव्रतके नामसे— स्वामिसूच्यानि पदके साथ—मूषत्रयके चोतक उन्हीं तीन पद्योच्छेद बहुत किया है जो इस सत्रके प्रथममें पाये जाते हैं। इसके सिवाय अब दोनों पद काचित कोकमूषता'के चोतक हैं भी नहीं। और न उन्हें वैसा सुनिश्चित किया गया है। ब्रह्मस्तिरुक्तमें उनके सम्बन्धों यह पद और दिया है—

बहीनदधनुर्द्वेषु मन्त्रार्थ बर्मवैतलं ।

तत्सत्प्राप्तमन्त्रार्थं कर्मार्थं युगुत्तमम् ।

और इस तरहपर तीनों पद्योंमें मूषताओंके कर्मका कृत्त समुचन किया गया है, इन १ स्वकर्म सिद्धीका नहीं दिया गया—किसा कि उनके चारके निम्न पद्यों प्रकट है—

समवात्तरपात्तमन्त्रार्थकोकमाम्नायम् ।

पुनर्मन्त्रि विमूढार्थं तेषां भूतमनेकम् ।

इस स्वरुपसे वह निकटतम स्पष्ट हो जाता है कि तब दोनों पद मूषत्रयके नहीं बल्कि ब्रह्मस्तिरुक्तके हैं।

क—'मूषत्रय' नामका १६५ संवरवाक्य पद्य भी ब्रह्मस्तिरुक्तके छठे भागका (कर्म नं. ११) का पद्य है। वह साफ तौरसे 'सम्पन्नार्थमन्त्र' पदकी टीका द्विपक्षीके लिये बहुत किया हुआ ही जान पड़ता है—द्वितीय प्रविष्टी द्विपक्षीमें यह दिया गी है। मूषत्रयके चर्मके साथ उसका कोई पैर नहीं—नहीं मिश्र बनावसक नाम पड़ता है। स्वामिसमवतमाने सुत्ररूपसे प्रत्येक प्रविष्टीका स्वकर्म एक एक पद्यमें ही दिया है।

इसी तरहपर 'मोक्षार्थ' और 'मन्त्रार्थ' नामके पद्य नं. ८१ १३० वीं ब्रह्मस्तिरुक्तके ही जान पड़ते हैं। वे कर्मका उसके नं. ८ वीं भागका पद्य परसे नामके * साथ पाये जाते हैं। मूषत्रयके चर्मके साथ इनका भी पैर

* पहले पद्यमें 'कर्मभावा न कोविदु' की जगह 'आनुकूल्य न मन्त्रेण' यह पाठ दिया है। और दूसरे पद्यमें 'कथित' की जगह 'तुष्टिः' 'ब्रह्मार्थ' की जगह 'कर्मार्थ' और 'बलवैते' की जगह 'वैते' ये पाठ दिये हैं जो बहुत अपर्याप्त हैं।

नहीं। पहले पद्य में 'उदुम्बरसोपा' का उद्देश, भाग भागमें गटकता है—ये पद्य भी टीका टिप्पणीके लिये ही उद्धृत लिये हुए जान पड़ते हैं। पहला पद्य दूसरी प्रतियों में भी नहीं और दूसरा उगकी टिप्पणीमें ही पाया जाता है। इसमें भी ये मूल पद्य मालूम नहीं होते।

ग—'ललोमुनेपगागे' नामका ७२ नम्बरवाला पद्य हेमचन्द्राचार्यके 'सौम-
दाय' का पद्य है और उमक गोगरे प्रकाशम १४२ पर पाया जाता है। यही
मूलप्रथकी पद्यति और उमके प्रतिपाद्य विषयके साथ उमका कोई सम्बन्ध नहीं।

घ—'पधादसायात्' नामका ७१ वाँ पद्य चाणुदरायके 'चारित्र्यार'
ग्रन्थका पद्य है और यहीमें लिया हुआ जान पड़ता है। इसमें जिन पञ्चा-
मृतोका उद्देश है उनका यह उद्देश इससे पहले, मूल प्रथके ५२ वें पद्यमें आ
सुका है। स्वामी समतभद्रजी प्रनिपादन'ली इस प्रकार स्वयंकी पुनरुक्ति
योंकी लिये हुए नहीं होता, इसके सिवाय ५१ वें पद्यमें अष्टमृतोकी संख्या
पाँच दी है और यहाँ इस पद्यमें 'राज्यभुक्ति' को भी छठा अष्टमृत मतलाया
है, इससे यह पद्य प्रथके साथ मिलकुल असम्बद्ध मालूम होता है।

इसी तरह पर 'दधनिकप्रतकायपि, ' 'आरंभाद्विहित ' और
'आद्यास्तु पद्व जपन्या' नामके तीनों पद्य भी चारित्र्यार प्रथके लिये हुए मालूम
होते हैं और उगमें यथास्थान पाये जाते हैं। दूसरी मूल प्रथमें भी इन्हें
टिप्पणीके तौर पर ही उद्धृत किया है और टीकामें तो 'उप च' रूपसे दिया
ही है। मूल प्रथके संदर्भके साथ ये अनावश्यक प्रतीत होते हैं।

इ—'मौन भोजनवेलायां', 'मांसारफाईचर्मोस्थि', 'स्थूला सूक्ष्मास्तथा जीवा',
नामके ७३, ७५ और १०१ नम्बरवाले ये तीनों पद्य पूज्यपादकृत उस उपा-
सकाचारके पद्य हैं, जिसकी जाँचका लेख हमने जैतर्हतेपी भाग १५ के १०
वें अङ्कमें प्रकाशित कराया था। उसमें ये पद्य क्रमशः न० २९, २८ तथा ११
पर दर्ज हैं। यहाँ प्रथके साहित्य, संदभादिसे इनका कोई मेल नहीं और ये
साथसे असम्बद्ध मालूम होते हैं।

ऐसी ही हालत दूसरे पद्योंकी है और वे कदापि मूल प्रथके अंग नहीं हो
सकते। उन्हें भी उक्त पद्योंकी तरह, किसी समय किसी व्यक्तिने, अपनी याद-
दाश्त आदिके लिये, टीका टिप्पणीके तौर पर उद्धृत किया है और बादको,
उन टीका टिप्पणवाली प्रतियों परसे मूल प्रथकी नकल उतारते समय, लेख-

कोई मतावधानों और वाचस्पतीयों से मूक प्रबंध ही एक विद्वत् अवस्था
 वैदिक धर्म बना दिने कहे हैं। शत्रु है। सुर्षा वरतत विन्दा क्वाह पाहो ना
 कि पूर्वो १। शत्रु हमारे कुछ कह नहीं सकते उन्हें कोई तोहो नाम तोहो उनको
 कमेराहिए करो अवस्था उन्हें तनुजीव बनाओ यह शत्रु केकरोके हावका
 ऐश और वन्हीकी कर्तव्य है ॥ इन कुछ अवस्था वाचस्पत केकरोकी नहीकरत
 मोकी मिठनी मिठी करण हुई है उक्तका अनुमान तक भी नहीं हो सकता।
 कपोती इस करानीते मिठनी ही मकतकहमिगी फेक चुकी है और यकार
 कतुस्मिथिओ समस्त करनेमें नहीं हो सकते आ रही हैं। मुगतामसुरिओ
 भी शत्रु प्रबंधों को ऐसी ही प्रति उपलब्ध हुई है और उन्होंने उन पर
 एकरकडे आदि उन बात पचोको स्वामी समस्तमर द्वारा ही निर्मित समस्त
 मित्रा है वा सुखो मुनिचममिला नामके १५० हैं वरुके बाद उक्त पहली
 मूक प्रतिमें पावे जाते हैं। नहीं बजह है कि उन्होंने परद्रावत की टीकामें*
 उनका महाकवि समस्तमरके नामके साथ जोका मित्रा है और उनके आदिमें
 मित्रा है उक्त व समस्तमरके महाकविना। अवस्था से समस्तमरके
 भी भी प्रथमें नहीं पावे जाते और न अवस्था साहित्य परसे ही वे इस वाच-
 को स्मृत करते हैं कि उनके रचयिता स्वामी समस्तमर जैसे कोई प्रीत मित्रान्
 और महाकवि आचार्य हैं। अवस्था ही वे सुखे मिठी प्रम अवस्था प्रथोंके वरु
 है और इसीसे सुखी मूक प्रतिके विषयमें और दोनों कनकी टीकाओंसे
 उन्हें वरु व कतुहम समस्तोंके साथ वरुक्त मित्रा है। एक पद्य तो उक्त-
 की चारिअर प्रबंध अमर वरुक्तना भी वा सुख है।

यही वर वर मरु करना शत्रु कुछ अप्राप्तमिक व होय कि जो अपे
 जानेको विवधानी मरुके मरु समस्तते हैं अवस्था उक्तकी मरुक्तका वर मरते हैं
 वरुके कि वर वर ही कनका विषय है जो उनके वाचमवाटमें उन्होंने वर
 मोकी ऐसी वरु हावका पाई जाती है। वाता उनके वाचने सुखी रहे
 वर वर अवस्था वरु रहे उनके अम मित्रा अवस्था विम विम प्रिये वरते रहे
 को वरु वरुत भी वरु करता रहे और वे उक्तकी कुछ भी परोह व करते
 इर मीवावधनी रहे। वर वरु वर मरुमरुत है। इतक नाम कतुपि
 मरुमरुत नहीं हो सकता। प्रथीका ऐसा आचरण उनके विम महान् कर्तव्य है और

उन्हें गिनायका पात्र मनाता है। उन् माताकी शुची गबरदारी और उसका सुची रक्षाका प्रथम करना चाहिये—ऐसा पिताल भागोजन करता चाहिये जिससे जिनतार्णाका प्रत्येक अंग—प्रत्येक परमप्रथम अपना अविकल रियगिमें—अपने उम असली म्यूरूपमें जिनमें किसी आभाय मद्दोदयों उभे जन्म दिया है—उपलब्ध हो सके। ऐसा होने पर ही वे अपना मुग उज्ज्वल कर मयेंगे और अपनेको जिनयाणा माताका भक्त कहल्य गयेंगे। अम्यु।

जौंचका माराज।

इम लम्बी चौड़ी जौंचका सारांज सिर्फ इतना ही है कि—

१—प्रथमी दो प्रकारकी प्रतियाँ पाई जाती हैं—एक तो वे जो इम सटीक प्रतियाँ तरद देदमां ओंकोसंख्याको न्यिये हुए हैं और दूसरी वे जिन्हें ऊपर 'अधिक पयों-वाली प्रतिया' सूचित किया है। तासरी प्रकारकी ऐसी कोई उद्देगयोग्य प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई जिसमें पयोंकी संख्या देदमांसे कम हो। परंतु ऐसी प्रतियोंके उपलब्ध होनेकी संभावना बहुत कुछ है। उनरी तलाशका अभी-तक कोई यथेष्ट प्रयत्न भी नहीं हुआ जिसके होनेकी जरूरत है।

२—प्रथमी देदमां ओंकोवाली इम प्रतिपे जिन पयोंको क्षेपक बतलाया जाता है अथवा जिन पर क्षेपक होनेका संदेह किया जाता है उनमेंसे 'चतुराहार-विसर्जन' और दृष्टान्तोंवाले पयोंको छोड़कर शेष पयोंका क्षेपक होना युक्तियुक्त मालूम नहीं होता और इसलिये उनके विषयका संदेह प्रायः निर्मूल जान पड़ता है।

३—प्रथमें 'चतुराहारविसर्जन' नामका पय और दृष्टान्तोंवाले छहों पय, ऐसे मात पय बहुत ही संदिग्ध स्थितिमें पाये जाते हैं। उन्हें प्रथका अंग मानने और स्वामी समतभद्रके पय स्वीकारनेमें कोई युक्तियुक्त कारण मालूम नहीं देता। वे शुशीसे उम कर्साटी (कारणकलाप) के दूसरे तीमरे और पाँचवें भागोंमें आ जाते हैं जो क्षेपकोंकी जौंचके लिये इस प्रकरणके शुरूमें दो गई हैं। परंतु इन पयोंके क्षेपक होनेकी हालतमें यह जरूर मानना पड़ेगा कि उन्हें प्रथमें प्रक्षिप्त हुए बहुत समय बीत चुका है—वे इस टीकासे पहले ही प्रथमें प्रविष्ट हो चुके हैं—और इसलिये ग्रन्थकी ऐसी प्राचीन तथा असंदिग्ध प्रतियोंकी खोज निकालनेकी खास जरूरत है जो इस टीकासे पहलेकी—विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहलेकी—लिखी हुई हों अथवा जो खास तीर पर प्रकृत

मिशन पर अच्छा प्रकाश डालनेके लिये समर्थ हो सके। साथ ही इस बातकी भी ठगस होनी चाहिये कि १३ वीं शताब्दीसे पहलेके कबे हुए कीच कीचसे प्रथमों किच वपसे वे पच पावे जाते हैं और इस संस्कृत टीकासे पहलेकी कबी हुई कोई दूसरी टीका भी इस ग्रंथ पर उपकरण होती है या नहीं।
 ऐसी होने पर ये पच तथा दूसरे कब भी और ज्यादा रोचनीमें आजायेंगे और धामना बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगा।

४—अधिक पद्योंकी प्रतिबोमें जो पच अधिक पावे जाते हैं वे सब दोषक हैं। उन पर दोषकरके प्रायः सभी कारण पारितोष्य होते हैं और प्रथमों उनकी स्थिति बहुत ही आपत्तिके योग्य पाई जाती है। वे बहुत सफ टीर पर दूसरे प्रथमों कीच टिप्पणीके टीर पर बहुत लिये हुए और बाहरी केचकीच वपसे प्रकाश भय बना लिये कबे पाक्ष्य होते हैं। ऐसे पद्योंके प्रकाश जय मायका कहे देखा और वैदिक बना देवा है। इस प्रकारकी प्रतिबो पद्योंकी एक ईश्वरकी लिये हुए नहीं हैं और यह बात उनके दोषकरकी और भी ज्यादा पुष्ट करती है।

बाधा है, इस लोचके लिये जो इतना परिश्रम किया गया है और ज्ञेय प्रकाश इतना स्वान रोच बना है वह कबे न जायगा। किच पाक्ष्य इसके द्वारा कबेच स्थितिबों परस्थितिबों और कबकाभीच बहुमय कर कर कबका कब कबसे और कबकी वस्तुस्थितिबों समग्रथमें बहुत कुछ हस्तकर्म होंगे। साथ ही मित्रवत्नी माताक मर्चिनी भी यह भाषा की जाती है कि वे कबे-प्रथमोंकी कबि अपनी इस हानिकर कारवाहीके और अधिक लोच एक बारो न रखकर ही माताकी सभी रक्षा कबी कबकीचरी और वपसे कबे उद्यम-रक्ष कोई टीर प्रकाश कहेगे किचसे ज्ञेयक कर्मप्रथ अपनी अधिक स्थितिमें कबे छावराकको उपकरण हो सके।

गीका और गीकाकार प्रमार्थद्व।

इस प्रथपर एतदकारक—विषयवद्व्याख्याय बावके एक संस्कृतटिप्पण-की दोषकर की बावके वैयक्तिकान्तमयकमें गीका है और किचपरसे इस के कर्तव्य कोई सामाजिक माक्ष्य नहीं होता संस्कृतकी * लिफे नहीं एक टीका

* कबकी मायामें भी इस प्रथपर कुछ टीकाएँ उपकरण हैं परंतु उनके रच-स्थितियों बाविका कुछ हल माक्ष्य नहीं हो सके। तमिक मायका कर्मक-

उन्हें धिक्कारका पात्र बनाता है। उन्हें माताकी सच्ची खबरदारी और उसकी सच्ची रक्षाका प्रवध करना चाहिये—ऐसा विशाल आयोजन करना चाहिये जिससे जिनवाणीका प्रत्येक अंग—प्रत्येक धर्मग्रन्थ अपनी अविकल स्थितिमें—अपने उस असली स्वरूपमें जिसमें किसी आचार्य महोदयने उसे जन्म दिया है—उपलब्ध हो सके। ऐसा होने पर ही वे अपना मुख उज्ज्वल कर सकेंगे और अपनेको जिनवाणी माताका भक्त कहला सकेंगे। अस्तु।

जौंचका सारांश।

इस लम्बी चौड़ी जौंचका सारांश सिर्फ इतना ही है कि—

१—ग्रन्थकी दो प्रकारकी प्रतियाँ पाई जाती हैं—एक तो वे जो इस सटीक प्रतिकी तरह ढेढ़सौ श्लोकसंख्याको लिये हुए हैं और दूसरी वे जिन्हें ऊपर 'अधिक पद्यों-वाली प्रतियाँ' सूचित किया है। तीसरी प्रकारकी ऐसी कोई उल्लेखयोग्य प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई जिसमें पद्योंकी संख्या ढेढ़सौसे कम हो। परंतु ऐसी प्रतियोंके उपलब्ध होनेकी संभावना बहुत कुछ है। उनकी तलाशका अभी-तक कोई यथेष्ट प्रयत्न भी नहीं हुआ जिसके होनेकी जरूरत है।

२—ग्रन्थकी ढेढ़सौ श्लोकोंवाली इस प्रतिके जिन पद्योंको क्षेपक बतलाया जाता है अथवा जिन पर क्षेपक होनेका संदेह किया जाता है उनमेंसे 'चतुराहार-विसर्जन' और दृष्टान्तोंवाले पद्योंको छोड़कर शेष पद्योंका क्षेपक होना युक्ति-युक्त मालूम नहीं होता और इसलिये उनके विषयका संदेह प्रायः निर्मूल जान पड़ता है।

३—ग्रन्थमें 'चतुराहारविसर्जन' नामका पद्य और दृष्टान्तोंवाले छहों पद्य ऐसे सात पद्य बहुत ही सदिग्ध स्थितिमें पाये जाते हैं। उन्हें ग्रन्थका अंग मानने और स्वामी समतभद्रके पद्य स्वीकारनेमें कोई युक्तियुक्त कारण मालूम नहीं देता। वे श्रुतीसे उस कसौटी (कारणकलाप) के दूसरे तीसरे और पाँचवें भागोंमें आ जाते हैं जो क्षेपकोंकी जौंचके लिये इस प्रकरणके शुरूमें दी गई है। परंतु इन पद्योंके क्षेपक होनेकी हालतमें यह जरूर मानना पड़ेगा कि उन्हें ग्रन्थमें प्रक्षिप्त हुए बहुत समय बीत चुका है—वे इस टीकासे पहले ही ग्रन्थमें प्रविष्ट हो चुके हैं—और इसलिये ग्रन्थकी ऐसी प्राचीन तथा असदिग्ध प्रतियोंको खोज निकालनेकी खास जरूरत है जो इस टीकासे पहलेकी—विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहलेकी—लिखी हुई हों अथवा जो खास तौर पर प्रकृत

विषय पर अच्छा प्रकाश डालनेके लिये समर्थ हो सके। साथ ही इस बातकी भी उम्मीद होती चाहिये कि १३ वीं अध्यायीके रहस्यके बने हुए बीज बीजसे प्रयोगोंमें स्थित हमसे ये पत्र पाये जाते हैं और इस संस्कृत टीकासे पहलेकी बनी हुई कोई दूसरी टीका भी इस ग्रंथ पर उपलब्ध होती है या नहीं। ऐसा होने पर ये पत्र तथा दूसरे पत्र भी और ज्यादा दीक्षकोंमें आचार्यने जोत सम्पन्न बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगा।

४—अधिक ब्रह्मावादी प्रतिपत्तियों को पत्र अधिक पाये जाते हैं वे सब श्लेषक हैं। इस पर श्लेषकत्वके प्रभाव सभी कारण कारितार्थ होते हैं और प्रथममें उनकी स्थिति बहुत ही आपत्तिके योग्य पाई जाती है। वे बहुत साफ तीर पर चुपरे प्रयोगोंकी टीका लिखनेकी तीर पर बहुत स्थिति हुए और वाक्यको श्लेषकी टीकासे प्रत्यक्ष रूप बना लिये पत्रे सम्पन्न होते हैं। ऐसे पत्रोंको प्रत्यक्ष ज्ञान सम्पन्न होने केबल और बेटीक बना देना है। इस प्रकारकी प्रतिपत्तियाँ प्रयोगोंकी एक टीकाको स्थिति हुए नहीं हैं और वह बात उनके श्लेषकत्वको और भी ज्यादा पुष्ट करती है।

५—आज्ञा है, इस बीजके लिये जो इतना परिश्रम किया गया है और प्रत्यक्ष-व्याख्या इतना स्वाभाविक बना है वह सर्वत्र ही जायगा। विद्वत्पत्रके द्वारा बनेके स्थितियों परिलक्षितियों और ब्रह्मावादीका अनुभव कर कर अच्छा काम उभरेगे और ब्रह्मावादी वस्तुस्थितिको समझनेमें बहुत कुछ सुगम्य होगे। साथ ही विद्वत्पत्रों यात्राके प्रयोगों की वह आज्ञा की जाती है कि वे यदि-प्रयोगोंकी और अपनी इस दृष्टिकर अपरवर्तीको और अधिक स्थितों तक धारी व रचकर ही मात्राकी सभी रक्षा सभी कर्मपीरी और उसके सबे कदा-रक्षा कोई टीका प्रकाश करेंगे किन्तु प्रत्यक्ष प्रयोग अपनी अधिकतम स्थितियों की आधारकको उपलब्ध हो सके।

टीका और टीकाकार प्रमाणार्थ।

एत प्रमाण रत्नकरणाच—निम्नप्रमाणानाम नामके एक संस्कृतग्रन्थको श्लेषक को आश्रिते शेषशिक्षाप्रमाणमें मौजूद है और विद्वत्पत्रके कृतके कदाचित् कोई नामाधिक सम्पन्न नहीं होता संस्कृतकी * लिखे गयी एक टीका

* कभी-कभी भी इस प्रमाण पर कुछ टीकाएँ उपलब्ध हैं परन्तु उनके रत्न मिश्रणों अधिक कुछ हाथ आकर नहीं हो सके। ग्रन्थिक ग्रन्थका अर्थक-

अभीतक उपलब्ध हुई है जो इस ग्रन्थके साथ प्रकाशित हो रही है। इसी टीका पर चर्चा, पिछले पृष्ठोंमें, हम बराबर कुछ न कुछ उलगा करते आये हैं। उस पृष्ठ पर टीकाका कितना ही परिचय मिल जाता है। हमारी इच्छा थी कि टीकापर एक विस्तृत आलोचना लिख दी जाती परन्तु समयके अभाव के कारण अधिक बढ़ जानेके कारण वह कार्यमें परिणत नहीं हो सकी। यहाँ टीकाके स्यधमें, सिर्फ इतना ही निवेदन कर देना उचित मालूम होता है कि टीका प्रायः साधारण है—ग्रन्थके मर्मको अच्छी तरहसे उद्घाटन करनेके प्रयास नहीं है और न इसमें गृहस्थधर्मके तत्त्वोंका कोई अच्छा विवेचन ही पाया जाता है—सामान्य रूपसे ग्रन्थके प्रायः शब्दानुवादको ही लिये हुए है। कहीं कहीं तो जम्मीरी पदोंके शब्दानुवादको भी छोड़ दिया है, जैसे 'ममादात्मना' नामके पदकी टीकामें 'कुदेवागमलिङ्गिना' पदका कोई अनुवाद स्पष्टीकरण नहीं दिया गया जिसके देनेकी खास जरूरत थी, और कितने ही पदोंमें आए हुए 'आदि' शब्दकी कोई व्याख्या नहीं की गई जिससे मालूम होता कि वहाँ उससे क्या कुछ अभिप्रेत है। इसके सिवाय, टीका में ये तीन खास विशेषताएँ पाई जाती हैं—

प्रथम तो यह कि, इसमें मूल ग्रन्थको सातकी जगह पाँच परिच्छेदोंमें विभाजित किया है—अर्थात्, 'गुणव्रत' और 'प्रतिमा' वाले अधिकारोंको अलग अलग परिच्छेदोंमें न रखकर उन्हें क्रमशः 'अणुव्रत' और 'सत्लेखना' नामके परिच्छेदोंमें शामिल कर दिया है। मालूम नहीं, यह लेखकोंकी कृपाका फल है अथवा टीकाकारका ही ऐसा विधान है। जहाँतक हम समझते हैं, विषय-विभागकी दृष्टिसे, ग्रन्थके सात परिच्छेद ही ठीक मालूम होते हैं और वे ही ग्रन्थकी मूल प्रतियोंमें पाये जाते हैं *। यदि सात परिच्छेद नहीं रखने थे तो फिर बार छेप्पु' (रत्नकरण्डक) ग्रन्थ इस ग्रन्थको सामने रखकर ही बनाया गया मालूम होता है और कुछ अपवादोंको छोड़कर इसीका ही प्रायः भावानुवाद अथवा सारांश-जान पड़ता है। (देखो, अंग्रेजी जैनगजटमें प्रकाशित उसका अंग्रेजी अनुवाद)। परन्तु वह कब बना और किसने बनाया, इसका कोई पता नहीं चलता और न उसे तामिल भाषाकी टीका ही कह सकते हैं। हिन्दीमें प० सदाशुखजीका भाष्य (स्वतंत्र व्याख्यान) प्रसिद्ध ही है।

* देखो 'सनातनजैनग्रन्थमाला' के प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित रत्नकरण्ड-भाषकाचार, जिसे निर्णयसागरप्रेस बम्बईने सन् १९०५ में प्रकाशित किया

हीने चाहिये वे । पुनश्चतोंके अधिकारको तो पूर्व पंचमकारमनुवर्त प्रति-
पदेवाची शिप्यकारं पुनश्चतं प्रतिपादयन्नाह । इस वाक्यके साथ अनु-
वर्त-परिच्छेदमें साम्यिक कर देना परंतु शिक्षावर्तोंके कवचको साम्यिक न करना
क्या कभी रहता है, यह कुछ समझमें नहीं आता । इसीसे टीकाकी यह निवे-
दना हमें आपत्तिके योग्य जान पड़ती है ।

दूसरी निवेदना यह कि इसमें दद्यान्तोवाके कहीं पक्षोंको उदाहृत किया है—
अर्थात्, उबकी सेईस क्वाएं बी है । वे क्वाएँ मिठगी साबारन भीहीन
मिठयन तथा आपत्तिके योग्य है और उबमें क्या कुछ बुद्धिवाँ पार्ह बाठी है,
इस विषयको कुछ सूचनाएँ पिछके पुष्ठोंमें संक्षिप्तपत्र कीचिन्हे नीचे
करवी आपत्तिक विचार करते हुए, बी का चुकी है । वास्तवमें इन क्वा-
न्तोकी बुद्धियोंको प्रवर्धित करनेके लिये एक अच्छा क्वाया निर्वच किया जा
रहता है, जिसकी वहाँ पर उपेक्षा की जाती है ।

तीसरी निवेदना यह है कि इस टीकामें भाष्यके ग्वाह पक्षोंको—प्रतिमाओं
केलिये अथवा पुनस्त्वान्तोंको—उत्तेजनाबुझावा (समाधिपरन करनेवाके) अथ
को ग्वाह मेद नतकया है—अर्थात्, यह प्रतिपादन किया है कि बी भाष्य
समाधिपरन करते हैं—उत्तेजनाप्रत्यक्ष अनुष्ठान करते हैं—क्योंकि वे ग्वाह मेद
हैं । क्या—

“साम्प्रत ओउरी उत्तेजनाबुझावा भाष्यस्तस्व कतिप्रतिमा मचन्तीत्वा-
कन्याह—

भाष्यमदानि हेतैरेक्यक हेतितानि वेदु कस्तु ।

स्वगुणः पूर्वगुणैः सह सम्भिडन्ते म्माविरुद्धः ॥”

इस वाक्यमें भाष्यमदानि नामक कस्तु और तो मूक प्रत्यक्ष पक्ष है
और उसके पहला अर्थ टीकाकारका यह वाक्य है किसे इसने उक्त पक्षको हिते
हुर कके निवर्तानिची सूचना समझे किया है । इस वाक्यमें किया है कि जब
उत्तेजनाप्र अनुष्ठान की जायक है उसके मिठगी प्रतिमाएँ होती हैं, इस वाक्यको
भाष्य करके भाष्यन कहते हैं । परंतु आप्तार्थ महीरवके उक्त पक्षमें न तो
ऐसी कोई भाष्यक कम्पई लई है और न वही प्रतिपादन किया गया है कि वे ११
वा । वैमप्रवरत्वाकर कर्नाक्य भम्पई नाहि प्राप्त प्रकाशित और बी बहुत
वस्तरुमें तथा पुरानी हस्तलिखित प्रतिमोंमें वे ही प्राप्त परिच्छेद जाने पाते
हैं किन्तु उनके प्रस्तावनाके हस्तमें प्रत्यपरिचय के नीचे किया गया है ।

अभीतक उपलब्ध हुई है जो इस ग्रंथके साथ प्रकाशित हो रही है। इसी टीकाकी वाच्यता, पिछले पृष्ठोंमें, हम बराबर कुछ न कुछ उल्लेख करते आये हैं और उसपरसे टीकाका कितना ही परिचय मिल जाता है। हमारी इच्छा थी कि इस टीकापर एक विस्तृत आलोचना लिख दी जाती परंतु समयके अभाव और लेखके अधिक बढ़ जानेके कारण वह कार्यमें परिणत नहीं हो सकी। यहाँ पर टीकाके सबधमें, सिर्फ इतना ही निवेदन कर देना उचित मालूम होता है कि यह टीका प्रायः साधारण है—ग्रंथके मर्मको अच्छी तरहसे उद्घाटन करनेके लिये पर्याप्त नहीं है और न इसमें गृहस्थधर्मके तत्त्वोंका कोई अच्छा विवेचन ही पाया जाता है—सामान्य रूपसे ग्रंथके प्रायः शब्दानुवादको ही लिये हुए है। कहीं कहीं तो जरूरी पदोंके शब्दानुवादको भी छोड़ दिया है, जैसे 'भयाशास्नेह' नामके पद्यकी टीकामें 'कुदेवागमलिङ्गिनां' पदका कोई अनुवाद अथवा स्पष्टीकरण नहीं दिया गया जिसके देनेकी खास जरूरत थी, और कितने ही पदोंमें आए हुए 'आदि' शब्दकी कोई व्याख्या नहीं की गई जिससे यह मालूम होता कि वहाँ उससे क्या कुछ अभिप्रेत है। इसके सिवाय, टीकामें ये तीन खास विशेषताएँ पाई जाती हैं—

प्रथम तो यह कि, इसमें मूल ग्रंथको सातकी जगह पाँच परिच्छेदोंमें विभाजित किया है—अर्थात्, 'गुणव्रत' और 'प्रतिमा' वाले अधिकारोंको अलग अलग परिच्छेदोंमें न रखकर उन्हें क्रमशः 'अणुव्रत' और 'सल्लेखना' नामके परिच्छेदोंमें शामिल कर दिया है। मालूम नहीं, यह लेखकोंकी कृपाका फल है अथवा टीकाकारका ही ऐसा विधान है। जहाँतक हम समझते हैं, विषय-विभागकी दृष्टिसे, ग्रंथके सात परिच्छेद ही ठीक मालूम होते हैं और वे ही ग्रंथकी मूल प्रतियोंमें पाये जाते हैं *। यदि सात परिच्छेद नहीं रखने थे तो फिर चार छेपु' (रत्नकरण्डक) ग्रंथ इस ग्रंथको सामने रखकर ही बनाया गया मालूम होता है और कुछ अपवादोंको छोड़कर इसीका ही प्रायः भावानुवाद अथवा सारांश जान पड़ता है। (देखो, अंग्रेजी जैनगजटमें प्रकाशित उसका अंग्रेजी अनुवाद।) परंतु वह कब बना और किसने बनाया, इसका कोई पता नहीं चलता और न उसे तामिल भाषाकी टीका ही कह सकते हैं। हिन्दीमें प० सदासुखजीका भाष्य (स्वतंत्र व्याख्यान) प्रसिद्ध ही है।

* देखो 'सनातनजैनग्रंथमाला' के प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, जिसे निर्णयसागरप्रेस बम्बईने सन् १९०५ में प्रकाशित किया

को बसने सजेकथा और प्रतिमाओंके दोनों अधिकारोंको एक ही परिच्छेदमें शामिल किया है। परंतु कुछ भी हो यह तीसरी विवेचना भी आपत्तिके योग्य बसर है। अस्तु।

यह टीका प्रमाणों की व्याख्या की बग़ाई हुई है। परंतु टीकामें न तो प्रमाणों की कोई प्रशंसा है न टीकाके बननेका समय दिया है और न टीकाकारके यहाँ पर अपने मुख्य ही नामोल्लेख किया है। ऐसी हालतमें यह टीका बीजसे प्रमाणोंकी व्याख्या की बग़ाई हुई है और कम बनी है, इस प्रकाश उत्पन्न होना स्वाभाविक है; और यह अवसर ही यहाँ पर विचार किये जानेके योग्य है; क्योंकि जब समाजमें प्रमाणों कायदे कीसिबों * व्यापार हो गये हैं, तबिनमें से कुछ—किन्तु इस जमी तक अनुसंधान कर सके हैं—सामान्य परिचय बनना पता मात्र इस प्रकार है—

(१) वे प्रमाणों किन्तु उल्लेख व्यवस्थितके प्रकाश से केवलमें पता चलता है, और किन्तु कायदे यह कहा जाता है कि वे व्यवहार में पुनः केवलके हीहित किन्तु समाज बनगुप्त से।

(२) वे प्रमाणों किन्तु भीष्टप्राप्तके बीजसे व्यापारके तत्त्व किन्तु प्रमाणों इस सूत्रमें लक्ष्य किया है।

(३) वे प्रमाणों किन्तु उल्लेख बीजसे विज्ञानमास्त्रकी ४ वीं किन्तु बने प्रकाशित इनका व्यापारकी गुणोंकी और बीजसेकी पञ्चमीके व्यापारोंकी नामावलीमें कोकलके बाद और बीजसेके से पहले पता चलता है। काय ही पञ्चमीमें किन्तु यह पर प्रतिष्ठित हीके समय भी कि पञ्च ४५३ दिया है †। नकि यह समय टीका हो तो दूसरे संवर वाले प्रमाणों और वे दोनों एक व्यक्ति भी हो सकते हैं।

* सन् १९२१-२२ में इस टीकाके कर्तृत्व-निर्णय पर कुछ विद्वानोंके यहाँ परवाई थी और प्रमाणों किन्तु हैं इत्यादि चीजोंके किन्तु हुए किन्तु ही केवल इस समय बीजसे बीजसे विज्ञान बीजसे और बीजसे पञ्चमें प्रकाशित हुए थे। उन केवलमें प्रमाणों कायदे विद्वानोंकी भी संख्या प्रकाशित हुई थी यह कायदे चीजोंके अधिक नहीं थी।

† बीजसेकी भाषा कायदे अंक ७-८ में प्रकाशित गुणोंकी और पञ्चमीमें भी यह सब उल्लेख मिलता है।

प्रतिमाएँ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके होती ह, वल्कि 'श्रावकपदानि' पदके प्रयोग द्वारा उसमें सामान्य रूपसे सभी श्रावकोंका ग्रहण किया है—अर्थात् यह मत-लाया है कि श्रावकलोग ११ श्रेणियोंमें विभाजित हैं। इसके सिवाय, अगले पद्योंमें, श्रावकोंके उन ११ पद्योंका जो अलग अलग स्वरूप दिया है उसमें सल्लेखनाके लक्षणकी कोई व्याप्ति अथवा अनुश्रुति भी नहीं पाई जाती—सल्लेखनाका अनुष्ठान न करता हुआ भी एक श्रावक अनेक प्रतिमाओंका पालन कर सकता है और उन पदोंसे विभूषित हो सकता है। इस लिये टीकाकारका उक्त लिखना मूल ग्रन्थके आशयके प्राय विरुद्ध जान पड़ता है। दूसरे प्रधान ग्रन्थोंसे भी उसका कोई समर्थन नहीं होता—प्रतिमाओंका कथन करनेवाले दूसरे किसी भी आचार्य अथवा विद्वानके ग्रन्थोंमें ऐसा विधान नहीं मिलता जिससे यह मालूम होता हो कि ये प्रतिमाएँ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके ग्यारह भेद हैं। प्रत्युत इसके ऐसा प्रकार देखनेमें आता है कि इन सभी श्रावकोंको मरणके निकट आनेपर सल्लेखनाके सेवनकी प्रेरणा की गई है, जिसका एक उदाहरण 'चारित्रसार' ग्रन्थका यह वाक्य है—“उत्तैरपासकैर्मरणान्तिकी सल्लेखना प्रीत्या सेन्या।” और यह है भी ठीक, सल्लेखनाका सेवन मरणके निकट होनेपर ही किया जाता है और घाकीके घर्मों—ग्रतानियमादिकों—का अनुष्ठान तो प्राय जीवनभर हुआ करता है। इस लिये ये ११ प्रतिमाएँ केवल सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके भेद नहीं हैं वल्कि श्रावकाचार*—विधिके विभेद हैं, श्रावकधर्मका अनुष्ठान करनेवालोंकी खास श्रेणियाँ हैं—और इनमें प्राय सभी श्रावकोंका समावेश हो जाता है। हमारी रायमें टीकाकारको 'सल्लेखनानुष्ठाता' के स्थानपर 'सद्धर्मानुष्ठाता' पद देना चाहिये था। ऐसा होनेपर मूलग्रन्थके साथ भी टीकाकी संगति ठीक बैठ जाती, क्योंकि मूलमें इससे पहले उस सद्धर्म—अथवा समीचीन धर्मके फलका कीर्तन किया गया है जिसके कथनकी आचार्य महादेयने ग्रन्थके शुरूमें प्रतिज्ञा की थी और पूर्व पद्यमें 'फलति सद्धर्म' ये शब्द भी स्पष्ट रूपसे दिये हुए हैं—उसी सद्धर्मके अनुष्ठाताको अगले पद्योंद्वारा ११ श्रेणियोंमें विभाजित किया है। परंतु जान पड़ता है टीकाकारको शायद ऐसा करना इष्ट नहीं था और शायद यही वजह हो

* श्रीअमितगति आचार्यके निम्नवाक्यसे भी ऐसा ही पाया जाता है—

एकादशोक्ता विदितार्थतत्त्वैरुपासकाचारविधेर्विभेदा ।

पवित्रमारोद्धमनस्पलम्य सोपानमार्गा इव सिद्धिसौधम् ॥

—उपासकाचार ।

(४) वे प्रभाचद्र जो परलुहनिवासी ' विनयनन्दी ' आचार्यके शिष्य थे और जिन्हें चालुक्य राजा ' कीर्तिवर्मा ' प्रथमने एक दान दिया था* । ये आचार्य विक्रमकी छठी और सातवीं शताब्दीके विद्वान् थे, क्योंकि उक्त कीर्तिवर्माका अस्तित्व समय शक सं० ४८९ पाया जाता है ।

(५) ' प्रमेयम्भलमार्ण्ड ' और ' न्यायकुमुदचन्द्रोदय ' के कर्ता दे प्रसिद्ध प्रभाचद्र, जो ' परीक्षामुख ' के रचयिता मात्तियनन्दी आचार्यके शिष्य थे और आदिपुराणके कर्ता श्रीजिनसेनाचार्यने जिनकी स्तुति की है । ये आचार्य विक्रमकी प्रायः ८ वीं ९ वीं शताब्दीके विद्वान् थे । जनेन्द्र व्याकरणका ' शब्दाम्भोजमास्कर ' नामका महान्यास † भी संभवतः आपका ही बनाया हुआ है और शायद ' शाकटायनन्यास ' के कर्ता भी आप ही हों, क्योंकि कि शिमोगा जिलेसे मिले हुए नगर ताल्लुकेके ४६ वें नंबरके शिलाखेतमें एक पथ इस प्रकार पाया जाता है—

सुखि . न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः ।

शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे मतीन्दवे ॥

(६) वे प्रभाचद्र जो ' पुष्पनदी ' के शिष्य और ' तोरणाचार्य ' के प्रशिष्य थे और जिनके लिये शक संवत् ७१९ वि० सं० ८५४ में एक वसतिगा बनाई गई थी, जिसका उल्लेख राष्ट्रकूट राजा तृतीय गोविंदके एक ताम्रपत्रमें मिलता है । शक सं० ७२४ के दूसरे ताम्रपत्रमें भी आपका उल्लेख है + ।

(७) वे प्रभाचद्र जो ' शृपमनन्दि ' अपर नाम ' चतुर्मुखदेव ' के शिष्य और वक्रगच्छके आचार्य ' गोपनन्दि ' के x सहाध्यायी (गुरुमाई) थे, और

* देखो ' साउथ इंडियन जैनियम ' भाग दूसरा, पृ० ८८ ।

† इस न्यासकी एक प्रति बम्बईके सरस्वतीभवनमें मौजूद है परंतु करीब १२००० श्लोक परिमाण होने पर भी वह अपूर्ण है—अन्तके दो अध्यायोंका न्यास उसमें नहीं है— पूरा न्यास ३०००० श्लोकपरिमाण बतलाया जाता है, ऐसा प० नाथूरामजी प्रेमी सूचित करते हैं ।

+ देखो, माणिकचद्रप्रथमालामें प्रकाशित ' पट्टप्रामृतादिसंग्रह ' की भूमिका ।

x गोपनन्दि को होयसल राजा एरेयगने शक सं० १०१५ में जीर्णोद्धार आदि कार्योंके लिये दो गाँव दान किये थे । देखो, एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द ५वींमें चन्नरायपट्टण ताल्लुकेका शि० लेख न० १४८ ।

ये प्रभाचद्र ' प्रमेयकमलमातंड' के टीका-टिप्पणकार जान पड़ते हैं, इसीसे उक्त पद्य तथा गद्य पक्तियां ग्रंथकी सभी प्रतियोंमें नहीं पाई जाती * । मुद्रित प्रतिमें, प्रथम परिच्छेदके अन्तमंगलके बाद जो सात पक्तियाँ मूल रूपसे छप गई हैं वे साफ तौर पर उक्त मंगलपद्यकी टीका ही हैं और ग्रंथकी टीका-टिप्पणीका ही एक अंग होनेको सूचित करती हैं । इसके सिवाय मुद्रित प्रतिमें जो फुटनोट लगे हुए हैं वे सब भी पाय उसी टीका-टिप्पणीपरसे लिये गये हैं † ।

यदि इन प्रभाचद्रके गुरु ' पद्मनरिसिद्धान्त ' और ८ वें नवरवाले प्रभाचद्रके गुरु ' अविद्वर्कण पद्मनरिसिद्धान्तिक ' दोनों एक ही व्यक्ति हों तो ये दोनों प्रभाचद्र भी एक ही व्यक्ति हो सकते हैं, और यदि ये प्रभाचद्र ' चतुर्मुखदेव ' के भी शिष्य हों तो ७ वें नवरवाले प्रभाचद्र भी इनके साथ एक ही व्यक्ति हो सकते हैं ।

(१०) वे प्रभाचद्र जो मेघचंद्रब्रह्मविद्यदेवके प्रधान शिष्य तथा विष्णुवर्धन राजाकी पट्टराणी ' शातलदेव' के गुरु थे, और शक सं० १०६८ (वि० सं० १२०३) में जिनके स्वर्गारोहणका उल्लेख श्रवणवेल्लोलके शिलालेख न० ५० में पाया जाता है । इस स्थानके और भी कितने ही शिलालेखोंमें आपका उल्लेख मिलता है । आपके गुरु मेघचंद्रका देवलोक शक सं० १०३७ में हुआ था, ऐसा ४८ वें शिलालेखसे पाया जाता है ।

(११) वे प्रभाचद्र जिन्हें श्रवणवेल्लोलके शक सं० १११८ के लिखे हुए, शिलालेख न० १३० में महामहलाचार्य ' नयकीर्ति ' का शिष्य लिखा है । नयकीर्तिका देहान्त शक सं० १०९९ (वि० सं० १२३४) में हो चुका था, ऐसा उक्त

* पूना के ' भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट ' में इस ग्रंथकी जो दो प्रतियाँ देवनागरी लिपिमें मौजूद हैं उनमेंसे किसीमें भी उक्त गद्य पक्तियाँ नहीं हैं और ८३६ नवरकी प्रतिमें, जो विक्रम सं० १४८९ की लिखी हुई पुरानी प्रतिपरसे नकल की गई है, उक्त पद्य भी नहीं है, ऐसा प० नाथूरामजी प्रेमी स्वयं उन प्रतियोंको देखकर सूचित करते हैं ।

† ग्रंथके संपादक प० वशीधरजी शास्त्रीने, इस बातको स्वीकार करते हुए सुद्धर प० नाथूरामजी पर प्रकट किया है कि जिस प्रतिपरसे यह ग्रंथ छपा है वह विस्तृत टिप्पणसहित है, और टिप्पणी जो छपी गई है वह वही है उनकी निजकी नहीं है ।

ठीक हो तब या तो यह कहना होगा कि प्रमेयकमलमार्तण्डका टिप्पण राजा भोज (प्रथम) के समयमें और महापुराणका टिप्पण भोजके उत्तराधिकारी जयसिंह (प्रथम) के समयमें लिखा गया है, अथवा यह कहना होगा कि महा-पुराणका टिप्पण जयसिंह (द्वितीय) के समयमें और प्रमेयकमलमार्तण्डका टिप्पण भोज (द्वितीय) के समयमें—वि० सं० १३४० के करीब—लिखा गया है। इसके सिवाय यह भी कहा जा सकता है कि दोनों प्रभाचद्र घारा-निवासी होते हुए भी एक दूसरेसे भिन्न थे और उनमेंसे एकने दूसरेका अनुकरण करके ही अपने लिये उन विशेषणोंका प्रयोग किया है जो अर्यकी दृष्टिसे प्रायः साधारण हैं और कोई विशेष ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखते। उत्तर-पुराण-टिप्पणकारके अन्तिम पद्योंमें जो ऊपर उद्धृत भी किये गये हैं, प्रमेयकमलमार्तण्डके अन्तिम पद्योंका * कितना ही अनुकरण पाया जाता है, और इस समानता परसे यह कहा नहीं जा सकता कि प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रथमके कर्ता प्रभाचद्र ही उत्तरपुराणके टिप्पणकार हैं, क्योंकि इन प्रभाचद्रके समयमें उक्त उत्तरपुराणका जन्म भी नहीं हुआ था—यह शक सं० ८८७ (वि० सं० १०२२) क्रोधन संवत्सरका बना हुआ पाया जाता है और उसमें 'वीरसेन' 'जिनसेन' का, उनके 'धवल जयधवल' नामक टीकाग्र्यों तकके साथ, उल्लेख मिलता है। इतिहासमें भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहके राज्यकी स्थिति भी बहुत कुछ संदिग्ध पाई जाती है। इन सब बातों परसे हमें तो यही प्रतीत होता है कि प्रमेयकमलमार्तण्डके टिप्पणकार चाहे भोज प्रथमके समकालीन हों अथवा भोज द्वितीयके परंतु उत्तरपुराणके उक्त टिप्पणकार जयसिंह

* वे पद्य इस प्रकार हैं—

गभीर निखिलार्थगोचरमल शिष्यप्रबोधप्रदं
यद्व्यक्त पदमद्वितीयमखिल भाषिष्यनन्दिप्रभो ।
सम्प्राख्यातमद्यो यथावगमतो किञ्चिन्मया लेशत
स्येयाच्छुद्धधियां मनोरसिगृहे चन्द्राकंतारावधि ॥ १ ॥
मोहध्वान्तविनाशनो निखिलतो विज्ञानशुद्धिप्रदो
भेयानन्तनमो विसर्पणपटुर्वस्सूक्तिभामासुरः ।
शिष्याब्जप्रसिद्धो धन समुदितो योऽद्वे परीक्षासुखा-
ज्जीयात्सोऽग्रनिबन्ध एष सुचिर मार्तण्डतुल्योऽमलः ॥ २ ॥

द्वितीयके सम्प्रदायीन ही होने चाहिये। इस निबन्ध और विशेष विवेचन दोनों विषयोंके अन्धे अध्ययन पर अवलम्बित है।

(१३) के प्रमाणों की प्राकृत माधस्यप्रह (भाषात्रिमयी) के कर्ता सुप्रसूति के शास्त्रगुरु (विद्यागुरु) के और कुछ माधस्यप्रहकी प्रसूतिमें * मित्रों सारत्रयस्त्रियुष आदि विशेषणोंके साथ स्मरण किया है। सारत्रय त्रियुष विशेषणसे ऐसा मान्य होता है कि आप समयसार प्रवचनकार और संवत्सिद्धय प्रयोगोंके अन्धे आचरण के और इसलिये इन प्रयोगों पर प्रमाणोंके समर्थ कि टीकाओंका अन्वेषण कि वेन प्रवचनता और उनके प्रथम X नामकी सूचीमें पता जाता है वे आचार इन्हीं प्रमाणोंकी बनाई हुई हो। वे प्रमाणों केप्रकार १३ की और १४ की कठमयीके विद्वान् के, क्योंकि अन्वेषण केप्रकारके विषय आचार्य सुप्रसूति की कि उक्त सुप्रसूतिके अन्वेषण होनेसे आपके प्रथम सम्प्रदायीन के एक सं १११५ (वि सं १३३) में प्रथम संघ सुत्तर एक टीका लिखी है, विशेष अन्वेषण कर्मावका-कविचरित कथा कर्मावका केवचि में मिलता है। उक्त प्रसूतीमें वि सं १३१६ (प्र की अन्वेषण किया है वह भी आपके समयके अन्वेषण पड़ता है।

(१४) के प्रमाणों केविषयी वास्तव विद्वान्प्रयोगों में ऐसा अन्वेषण किया है कि वे संवत् १३ ५ में प्रथम होकर विद्वान्में रचाम्बर हो पड़े थे—आचार्यकी आचार्य अन्वेषण रच बल आचरण कर लिये थे—और लाही अन्वेषण आचार्य विद्वान्में इस समय अन्वेषण प्रकाशके विषयत्व तथा कुमायेका अन्वेषण किया था। इनका समय भी केवचि १३ की १४ की सतम्बी समझना चाहिये। इनके मुख्य नाम आचार्य व होनेसे वह नहीं कहा जा सकता कि वे इससे पहले अथवा पीछेके अवस्थित किसी प्रमाणोंके विषय के वा अवस्थित।

एक रचाम्बर प्रमाणों अवस्थती आचार्यकी टीकाकार भी हो पड़े हैं विशेष { प्रयोग कुछ प्रसूतीमें मिलता है। आचार्य वहीं के थे ही के अथवा इनके विषय।

(१५) के प्रमाणों केविषयी, केवचिआचार्यप्रकारकी ४ की विषयमें प्रथम

* यह प्रसूति आचार्यप्रमाणोंके प्रकाशित माधस्यप्रहानि प्रयोगों केविषयी प्रकाशित हुई है।

X देखो बीवहितीकी भाग ६ अ अंक ५-६ और ९-१ ।

शित, शुभचद्रकी गुर्वावली* तथा मूल (नदी) संघकी दूसरी पद्यावलीमें रत्न-
कीर्तिके पट्टशिष्य, शुभकीर्तिके प्रपट्टशिष्य, और पद्मनन्दिके पट्टगुरु लिता है,
और साथ ही निम्न पद्यके द्वारा यह भी सूचित किया है कि पूज्यपादके शास्त्रों-
की व्याख्या करनेसे आपकी कीर्ति लोकमें विख्यात हुई थी—

पट्टे श्रीरत्नकीर्तिरनुपमतपस पूज्यपादीयशास्त्र—

व्याख्या-विरयातकीर्तिर्गुणगणनिधिप. सत्क्रियाचारुचक्षु ।

श्रीमानानन्दधामा प्रतिबुधनुतमा मानसदायिवादी

जीयादाचन्द्रतार नरपतिविदित श्रीप्रभाचन्द्रदेव. ॥

ये प्रभाचद्र जिन ' शुभकीर्ति ' (रत्नकीर्तिके पट्टगुरु †) के पट्टशिष्य थे वे
' वनवासी ' आश्रयके थे, ऐसा उक्त गुर्वावलीसे मालूम होता है । ध्वज-

* जैनहितपी, छठे भागके अंक ७-८ में जो ' गुर्वावली ' छपी है उसमें
भी यह सब दिया हुआ है ।

† गुर्वावलीमें पहले एक स्थान पर शुभकीर्तिको ' धर्मचद्र ' का पट्टगुरु
और रत्नकीर्तिका ' प्रपट्टगुरु ' भी सूचित किया है, परंतु वह कुछ ठीक प्रतीत
नहीं होता, क्योंकि उक्त धर्मचद्रकी बावत यह भी लिखा है कि वे ' हमीर '
भूपाल द्वारा पूजित थे, और हमीर (हम्मीर) का राज्यकाल वि० स० १३३८
या १३४० से प्रारंभ होकर १३५८ तक पाया जाता है । (देखो, भारतके प्राचीन
राजवंश, प्रथमभाग ।) ऐसी हालतमें प्रभाचद्रका समय विक्रमकी १५ वीं
शताब्दी हो जाता है, जो पद्यावलीके समयके विरुद्ध पड़ता है और उक्त शिला-
लेखके भी अनुकूल मालूम नहीं होता । क्योंकि शिलालेखमें शुभकीर्तिके
प्रशिष्य रूपसे जिन ' अमरकीर्ति ' आचार्यका उल्लेख है प्रभाचद्र उनके प्राय-
समकालीन विद्वान् होने चाहियें और शिलालेखमें अमरकीर्तिकी भी दो तीन
पीढ़ियोंका उल्लेख है । एक ' अमरकीर्ति ' आचार्यने वि० स० १२४७ में
' पदकर्मोपदेश ' नामक प्राकृत प्रथकी रचना की है । यदि ये वही अमर-
कीर्ति हों जो शुभकीर्तिके प्रशिष्य थे तो इससे इन प्रभाचद्रका समय और भी
स्पष्ट हो जाता है । पद्यावलिमें तथा गुर्वावलियोंमें, आचार्योंके नामोंका संग्रह
करते हुए, नाम-साम्यके कारण कहीं कहीं पर कुछ गड़बड़ जरूर हुई है, और
वह अच्छे अनुसंधानके द्वारा ही संशोधित हो सकती है । परंतु इसके लिये
गहरे अध्ययनके साथ साथ साधनसामग्रीकी सुलभताकी बड़ी जरूरत है
जिसकी ओर समाजका कुछ भी ध्यान नहीं है ।

केल्लोडके सिद्धांतके नं १११ (१७४) से भी जो सफ़्त से १३१५ का सिद्धा हुआ है, इसका समर्थन होता है। और साथ ही वह भी पाया जाता है कि सुमकीर्तिके एक विषय जमीयूबन भी वे विषयों विषयपरम्पराका इस सिद्धांतके अन्तर्गत है। अतः वे प्रमाणों भी सिद्धांतों १३ वीं और १४ वीं सताम्नीके सिद्धान्त से। सफ़ ४ वीं किरणमें प्रकाशित बन्धितनकी पद्यान शीके * बाजायोको नायावकीमें इनके पद्योहणका जो समय मि से १३१ सिद्धा है समर्थ है कि वह टीका ही हो अथवा इनका पद्योहण वस्ये भी कुछ पद्यों हुआ हो। वे आचार्य दीर्घजीकी—आव ही वस्येकी आपुके नारक—हुए बाव पद्यों है।

(१६) वे प्रमाणों (प्रमेय) सुनि जो अष्टम्योक्तम्पन से और सिद्धोने बरिजसारकी ऊह हवार कोकपरिमाण एक प्रति सिद्धकर (केवलिता) पद्योने अष्टम्योक्तिके विषय कल्याणकीर्तिके सम्पत्ति की दो और विषय कल्याण केवलितागत मयन आरामे ऊह बरिजसारकी कनवी टीकाके अन्तिम समय बावा बावा है। कल्याणकीर्ति मि से १४८ में मौजूद थे। उन्होंने राज बरके बोम्मदस्वामिचैतान्मयमें पद्यों हुए, सफ़ १३५३ में बसो-नोरिजकी रचना की है—इससे वे प्रमाणों विषयकी प्रावः १५ वीं सताम्नीके सतरावके सिद्धान्त से।

(१६) वे प्रमाणों जो कवयेन आचार्यकी संततिमें होनेवाके हेम-कीर्ति सारकाके विषय 'जमीयू' के पद्यविषय के और सिद्धोने कवयेन वर (एका विषय) में, कल्याणकु (कनेय) बाजावके 'चक' वस्तु (साह) के पुत्र पं सोनि वसो शर्वाणपर वरचार्यसुत्रकी तालावैरत्वप्रमाणों नायकी टीका सिद्धो है। इस टीकाकी रचनाका समय बरमाकी प्रतिये मि से १४९ सिद्धा हुआ है, ऐसा वस्तु हीराकनकी एम ए सुनिष्ठ करते हैं। इससे इन प्रमाणोंका समय भी सिद्धांतों १५ वीं सताम्नी बाव पद्यों है।

(१६) वे प्रमाणों भी सुमकीर्ति म के पद्य अथवा पद्यनिके प्राव पर अतिष्ठ होनेवाके विषय म के पद्यविषय के विषय पद्यनिके सम्पत्ति-विषय पर हुआ बा जो जमीयू जमीकीर्ति अथवा बरकीर्तिके पद्यनिके और सिद्धो वेदाप्यक्तकृति प्रमेयकमकार्तिव तथा वैज्ञानिक कल्याणकाकोका प्राव

* केवलिता नाम ऊह सफ़ ७-८ में प्रकाशित पद्यानकी में भी वेही समय सिद्धा है।

लिया है । ये प्रभाचंद्र विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान् थे, क्योंकि उक्त जिनचंद्रके एक शिष्य प० मेधावीने वि० सं० १५४१ में 'धर्मसंग्रह-भावका चार'को बनाकर समाप्त किया है ।

(१९) वे प्रभाचंद्र जिन्हें 'ज्ञानसूर्यादय' नाटकके कर्ता 'वादिचन्द्र' सूरिने अपना पट्टगुरु और ज्ञानभूषणका पट्टशिष्य लिया है । उक्त नाटक सं० १६४८ में बनकर समाप्त हुआ है । इससे ये प्रभाचंद्र विक्रमकी प्राय १६ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १७ वीं शताब्दीके प्रारम्भके विद्वान् जान पड़ते हैं ।

(२०) वे सब प्रभाचंद्र जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्य हुए हैं, और जिनके पृथक् पृथक् नामोल्लेखादिकी यहां कोई जल्दतर मालूम नहीं होती ।

इन 'प्रभाचंद्र' नामके विद्वानोंमेंसे प्रथम चार विद्वानोंकी बनाई हुई यह टीका नहीं है, क्योंकि इस टीकामें 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और 'न्यायकुमुदचद्रोदय' ग्रंथोंका उल्लेख पाया जाता है † और ये चारों ही प्रभाचंद्र इन दोनों ग्रंथोंकी रचनासे पहले हो गये हैं । पहले नम्बरके प्रभाचंद्र तो मूल ग्रंथकी रचनासे भी पहलेके विद्वान् हैं । १६ वें नम्बरसे १९ वें नम्बरतकके विद्वानोंकी भी बनाई हुई यह टीका नहीं है, क्योंकि ये चारों ही प्रभाचंद्र, जो विक्रमकी १५ वीं १६ वीं और १७ वीं शताब्दियोंके विद्वान् हैं, प० आशाधरजीसे बहुत पीछे हुए हैं और प० आशाधरजीकी अनगारधर्मामतटीकामें, जो वि० सं० १३०० में बनकर समाप्त हुई है, इस टीकाका निम्नप्रकारसे उल्लेख मिलता है—

यथाहुस्तत्र भगवन्त श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डकटीकायां 'चतु रावर्तत्रितय' इत्यादिसूत्रे 'द्विनिपद्य' इत्यस्य व्याख्याने " देववन्दनां कुवर्ता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणाम कर्तव्य " इति ।

—अ० ८, पद्य न० ९३ की टीकाका अन्तिम भाग ।

* देखो, जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रकाशित 'मूल (नन्दी) सधकी दूसरी पट्टावली' तथा 'पाण्डवपुराणकी दानप्रशस्ति,' और पिटर्मंड माहवकी ४ थी रिपोर्टमें प्रकाशित 'त्रिपष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रह' (न० १३९९) तथा 'ऋषभनाथचरित्र' (न० १४०४) की दानप्रशस्तियाँ, जो क्रमशः वि० सं० १६३२ और १७१० की लिखी हुई हैं ।

† देखो छठे पद्यकी टीकाका निम्नवाक्य—

'तदलमत्तिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचद्रे च प्रपचत प्ररूपणात् ।'

इसके सिवाय राजपरमार्थकी इस टीकाकी एक प्रति निजमसंग १४१५ (माघ सुदी ७ रवि दिव) की सिखी हुई कारनामों सारसंगार (बख्तखाना यार) में मौजूद है, एसा तब सूचीपरसे माहूम होता है जो हाथमें वा हीराबखशी एम ए ने महारके प्रयोगोंकी स्वयं देखकर कटारी की नीर हमारे पास देखनेके लिये भेजी थी। इससे यह टीका सि सं १४१५ के बाद जोबैबाके सिखी भी प्रमाणबद्धी बनाने नहीं है, इसकी बात और भी स्पष्ट हो जाती है। २. जे सम्बरमें उद्धृत सिखी येताम्बर प्रमाणबद्धी बनाने की यह टीका नहीं है, कबो कि केवलीके कबकाहार-मियवक ह्येताम्बरोंकी सम्बतथा इसम (कटे पक्षकी टीकामें) कास तीरसे कंकन किया गया है। और भी कई बातें ऐसी हैं जिनसे यह टीका सिखी येताम्बर आत्मानुष्ठान प्रतीत नहीं होती। जब देखना चाहिये कि खेप-५ से १५ सम्बर तक-विद्वानोंमें यह टीका कौनसे प्रमाणबद्धी बनाने की है अथवा बनाने की हो सकती है।—

कुछ विद्वानोंका कयाक है कि यह टीका उन्हीं प्रमाणबद्धी (व ५) की बनाने की है जो प्रमेवकमकार्थक तथा आत्मकुमुदधरोदनके कर्ता हैं, और अपने इस विचारके समर्थनमें वे प्रायः टीकाका निम्न वाक्य पेश करते हैं—

“ब्रह्ममहिमलोक प्रमेवकमकार्थकम् आत्मकुमुदधरोदनं सर्ववत्तमं कल्पनात् ।
कल्पना है कि इस वाक्यके द्वारा टीकाकारने केवलैकवकाहार मियवक प्रकृत प्रकारको संकोचते हुए, उसके मिलित कल्पको अपने ही बनाने हुए प्रमेवकमकार्थक तथा आत्मकुमुदधरोदन नामके प्रयोगोंमें देखबेकी प्रेरणा की है। परन्तु इस वाक्यमें ऐसा कोई भी निवारक कल्प नहीं है जिससे यह सिद्धांत किया जा सके कि टीकाकारने इसमें अपने ही बनाने हुए प्रयोगोंको जोड़ दिया है। वाक्यका स्वयं आशय सिर्फ इतना ही है कि प्रमेवकमकार्थक और आत्मकुमुदधर (बन्धोदय) में प्रकृत मियवक विस्तारके साथ प्रकृत होनेसे नहीं उक्त और अधिक कल्प देनेकी जरूरत नहीं है,—जो दिया गया है। इसी पर संतोच किया जाता है —उसमें ऐसा कहीं भी कुछ बतलाना नहीं गया कि वह प्रकल्पना मेरे ही द्वारा हुई है अथवा मैं ही तब प्रयोगोंका कर्ता हूँ। ही यह टीका है कि इस प्रकारके वाक्योंद्वारा एक प्रमाणकार अपने सिद्धी दूसरे प्रमाण भी जोड़कर अपने प्रमाण कर सकता है परन्तु ऐसे ही वाक्योंके द्वारा दूसरे विद्वानोंके प्रमाण भी जोड़कर दिया जाता है और अन्तर होता जाता है, जिसके दो एक नमूने नीचे दिये जाते हैं—

‘तथासमीमांसायां व्यासत समर्थितत्वात् ।’

‘यथा चाभार्यकान्तादिपक्षा न्यक्षेण प्रतिक्षिप्ता देवागमासमीमांसायां तथेह प्रतिपत्तव्या ह्यलमिह विस्तरेण ।’ —युक्त्यनुशासनटीका ।

‘इत्यादिरूपेण कृष्णादिपदद्वयैकलक्षणं भोमटपारादी विम्वरेण भणित-
मास्ते तदग्र नोच्यते ।’ —पचास्तिफायटीका जयसेनीया ।

ऐसी हालतमें, बिना किसी प्रबल प्रमाणकी उपलब्धिके, उक्त वाक्य मात्रसे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि यह टीका और उक्त दोनों प्रथम एक ही व्यक्तिके बनाये हुए हैं ।

इस टीकामें एक स्थानपर—‘वरोपलिप्सया’ पद्यके नीचे ये वाक्य पाये जाते हैं—

“नन्वेव श्रायकादीनां शासनदेवतापूजाविधानादिकं सम्यग्दर्शनम्लानताहेतु प्राप्नोतीति चेत् एवमेव यदि वरोपलिप्सया कुर्यात् । यदा तु शासनसत्तदेवता-
त्वेन तासां तत्करोति तदा न म्लानताहेतु । तत् कुर्यतश्च दर्शनपक्षपाताद्वर-
मयाचितमपि ताः प्रयच्छन्त्येव । तदकरणे चेष्टदेवताविशेषात् फलप्राप्तिर्निर्वि-
घ्नतो झटिति न सिद्ध्यति । न हि चक्रवर्तिपरिवारापूजने सेवकानां चक्रवर्तिन-
सकाशात् तथा फलप्राप्तिर्दृष्टा ।”

टीकाके इस अंशको लेकर दूसरे कुछ विद्वानोंका खयाल है कि यह टीका उन प्रभाचद्राचार्यको बनाई हुई नहीं हो सकती जो प्रमेयकमलमार्तण्डादिक ग्रंथोंके प्रणेता हैं। उनकी रायमें, इन वाक्योंद्वारा जो यह प्रतिपादन किया गया है कि ‘रागद्वेषसे मलिन शासन देवताओंका पूजनविधानादिक उस हालतमें सम्यग्दर्शनकी मलिनताका—उसमें दोष उत्पन्न करनेका—हेतु नहीं होता जब कि वह बिना किसी घरकी इच्छाके केवल उन्हें शासनभक्त देवता समझकर किया जाता है,’ और साथ ही, यह बतलाया गया है कि ‘वे शासनदेवता, दर्शनमें पक्षपात रखने—जैनधर्मके पक्षपाती होने—के कारण उन पूजनादिक करनेवाले श्रावकोंको बिना माँगे भी घर डेटे ही हैं, और यदि उनका पूजनादिक नहीं किया जाता किन्तु इष्टदेवताविशेष (अर्हन्तादिक) का ही पूजनादिक किया जाता है तो उस पूजनादिकसे इष्टदेवताविशेषके द्वारा शीघ्र ही निर्विघ्न रूपसे किसी फलकी सिद्धि उसी प्रकार नहीं हो पाती जिस प्रकार कि चक्रवर्तिके परिवारका पूजन न करने पर चक्रवर्तिके पाससे सेवकोंको फलकी प्राप्ति नहीं

होती वह सब कबल मूक मंत्र तथा समीचीन जाणने के निम्न है और बुद्धि-
बुध नहीं है ।

अमेरिका-यूनायटेड स्टेट्स के एक मित्र मित्रों से वे ऐसे कथन की कथा
इस प्रकार के निरंक बुद्धिप्रयोग की आशा नहीं रखते और इसी विषये हमका उप-
लब्ध करता है । इसमें संशय नहीं कि इसका यह कथन बहुत कुछ आपत्तिके
योग्य है और इसमें आसन्नदेवताओं का पूजन करने पर एक-आपत्तिकी भी बात
कही गयी है वह केनसिडिगन्तो की आत्मा के दृष्टि से निरी निरी है और निरंकुश
की कथो की कहाने की भी बात है । क्योंकि एकमात्र जिस प्रकार एक-आपत्तिके
कथन होता है, परिचित परिवार रहता है, अपने परिवार के आसन्नदेवताओं
के कथन प्रत्यक्ष होता है, परिवार के लोगों की बात सुनता है—उनकी विचारों
मन्त्र है—और इसका पूर्व के किसी भी विमल-अनुभव करता है कभी प्रत्यक्ष
निरी आसन्नदेवता इह देवताओं की नहीं है । उनमें एकमात्र के कथन के प्रति बलिष्ठ
नहीं होती—वे एक-आपत्तिके दृष्टि से, किसी की पूजा या कथन पर उनके आसन्न
देवता या आसन्नदेवता का नाम आसन्न नहीं होता कथन देवता के
गानों के कथन के तौर पर सम्भव नहीं है, वे आसन्न देवताओं की कोई विचारों
नहीं सुनते और न स्वयं ही इसका पूर्व के किसी भी विमल-अनुभव किया
करते हैं—उनके द्वारा एक-आपत्तिके रहस्य ही प्रकट है । इनके विचार आसन्न
देवता के कथन होने के कारण आसन्न दृष्टि से मन्त्रों (आसन्न) द्वारा पूजे
कथनों की समता भी नहीं रखते, कथन एक ही विषये कथन ही मन्त्रों की—
यहमें अपने से ही वे कथन प्रतिष्ठित व्यक्तिओं की—पूजा करने की चाहिने न कि
मन्त्रों से अपनी पूजा करने की चाहिने । यही आसन्न वरप्रदायिकों दृष्टि से पूजा
के ही कारण भी बुद्धि रखते ही हैं, फिर मन्त्र दृष्टि से कथन पूजन किया
गया वह कुछ सम्भव नहीं जाता । यदि आसन्नदेवता की दृष्टि से कथन अलग-अलग
रखने की जरूरत ही उन्हें पूजा जान तो सभी के भी पूजा रखते हैं, आसन्न
देवताओं की पूजा में सब कोई निरंकुश नहीं रहती । और वह बात तो कथनी
ही नहीं कि कोई आसन्नदेवता के कथन के कथन के या कथन के कथन

* इस एक-आपत्तिके रहस्य का कुछ अनुभव प्राप्त करने के विषये के कथन के
विषये हुए आसन्नदेवता की देवता चाहिने की कथन-अलग-अलग कथनों
कथन द्वारा प्रकटित हो चुका है ।

कूल किसी व्यक्तिको उमके कर्मका फल न होने देनेका मामर्थ्य रखता हो, अथवा यों कहिये कि परम भक्तिभावसे को हुई अर्हन्तदेवकी पूजाके अवश्यभावी फलको वह अपनी पूजा न होनेके कारण रोक सकता हो। इस लिये शामनदेवताओंकी पूजाके समर्थनमें उक्त युक्तिप्रयोग निर्वल तथा असमीचीन जरूर है और उसे समाजमें उस समय प्रचलित शासनदेवताओंकी पूजाका मूल ग्रथके साथ सामजस्य स्थापित करनेका प्रयत्न मात्र समझना चाहिये। परंतु किसीका भ्रद्धाका विषय ही यदि निर्वल हो तो उसे उसके समर्थनार्थ निर्वल युक्तियोंका प्रयोग करना ही पड़ेगा, और इस लिये केवल इन वाक्योंपरसे ही यह नहीं कहा जा सकता कि यह टीका प्रमेयकमलमार्तंडादिके कर्ता प्रभाचद्राचार्यकी बनाई हुई नहीं है, अथवा नहीं हो सकती। उसके लिये उक्त आचार्य महोदयके माने हुए ग्रंथों (प्रमेयकमलमार्तंडादिक) परसे यह दिखलानेकी जरूरत है कि उनके विचार इस शासनदेवताओंकी पूजाके विरुद्ध थे अथवा ग्रथके साहित्यकी जाँच, आदि दूसरे मार्गोंसे ही यह सिद्ध किया जाना चाहिये कि यह टीका उन आचार्यकी बनाई हुई नहीं हो सकती। अभीतक ऐसी कोई बात सामने नहीं आई जिससे शासन देवताओंकी पूजाके विषयमें इन आचार्यकी भ्रद्धा तथा विचारोंका कुछ हाल मालूम हो सके और इस लिये दूसरे मार्गोंसे ही अब इस बातके जाँचनेकी जरूरत है कि यह टीका उनकी बनाई हुई हो सकती है या कि नहीं।

प्रमेयकमलमार्तंड और न्यायकुमुदचद्र भी, दोनों टीकाग्रंथ हैं—एक श्री-माणिक्यनन्दी आचार्यके ' परीक्षामुख ' सूत्रकी श्रुति है तो दूसरा भट्टकलक-देवके ' लघुयत्त्रय ' ग्रंथकी व्याख्या। इन टीकाओंका ' रत्नकरण्डक ' की इस टीकाके साथ जब मीलान किया जाता है तो दोनोंमें परस्पर बहुत बड़ी असमानता पाई जाती है। एककी प्रतिपादनशैली—कथन करनेका ढंग—और साहित्य दूसरेसे एकदम भिन्न है, दोनोंके आदि अन्तके पद्योंमें भी परस्पर कोई सादृश्य नहीं देखा जाता, रत्नकरण्डकटीकाके प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें प्रतिपादित विषयकी सूचनादि रूपसे कोई पद्य भी नहीं है, प्रमेयकमलमार्तंडादिकमें साहित्यकी प्रौढता और अर्थगमीरतादिकी जो बात पाई जाती है वह इस टीकामें नहीं है, और यह बात तो बहुत ही स्पष्ट है कि यह टीका विवेचनोंसे प्रायः शून्य है, जब कि प्रमेय कमलमार्तंडादिक टीकाएँ प्रायः प्रत्येक विषयके विवेचनोंको लिये हुए हैं और इस टीकाकी तरह शब्दानुवादका अनुसरण करनेवाली अथवा उसीपर अपना प्रधान लक्ष रखनेवाली नहीं हैं। दोनोंकी इस सब विभि-

प्रत्यक्ष अथवा अनुभव इन टीकाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे सहजहीमें हो जाता है और इस विषये नहींपर इस विषयको अधिक ताल (विस्तार) देनेकी जरूरत नहीं है । किन्तु निम्नान्वेषि तुलनात्मक दृष्टिसे इन टीकाओंका अध्ययन किया है वे स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं कि दोनोंमें परस्पर बहुत बड़ी सम्यक्ता है । संक्षिप्त बंशीचरजी काशीमें भी प्रमेयकमकमार्तन्ध्या सम्पादन करते हुए, उसके 'अपोहपाठ'में लिखा है कि इस टीकाकी रचनातरंगमयी प्रमेयकमकमार्तन्ध्याकी रचनातरंगमयीसे विद्यमान है—इसके साथ सम्यक्ता बरका येक नहीं रहती । ऐसी हाकतमें निम्न पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं कि जब इन टीकाओंमें परस्पर इतनी अधिक असम्यक्ता पाई जाती है तो वे दोनों टीकाएँ एक ही व्यक्तिकी बनाई हुई कैसे हो सकती हैं, और साथ ही इस मतका भी अनुभव कर सकते हैं कि यदि वह टीका उन्हीं प्रमेयकमकमार्तन्ध्या-विषे रचिता है तो ग्रीक मिथ्यावादीकी बनाई हुई होती तो इसमें प्रमेयकमकमार्तन्ध्याविषे किसी कोई कास नहीं अवश्य पाई जाती—कमसे कम वह ध्यान-पूर्णके अच्छे विवेचनको बाहर लिये हुए होती जिससे वह इस सम्यक्ताय ध्यान-पूर्ण होती है । और साथ ही इसमें प्रत्यक्ष वे व्यक्तियोंके मुद्रिनों भी न होती किन्तु बहने कुछ दिग्दर्शन कराया जा चुका है ।

यहाँ तक हमने इस टीकाके साक्षिणकी बात की है अब परसे हमें वह टीका इन प्रमेयकमकमार्तन्ध्याविषे कर्ता प्रभाववातावेकी बघाई हुई मध्यम नहीं होती, इसकी रचना प्रमेयकमकमार्तन्ध्याविषे रचनासे बहुत नीचे—कई कालिद्वीकोंके बाद—हुई जान पड़ती है । नीचे इसी बातको कुछ निम्न प्रमाणों-द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

१ इसी टीकामें एक स्थानपर—'ननुपुनः' प्रतिपत्ति इत्यादि पदके नीचे 'सप्तपुनःसमाहितेन' पदकी व्याख्याके अन्तरपर एक पक्ष निम्न प्रकारसे बख़्श पाया जाता है—

* बघा— रत्नकरकामिनीय श्रीसामन्तमश्रीवभाषकाचार्यस्य बृहत्सर्व मन्त्रोक्तस्य समाधिसतकस्य चोपरि निवरणानि भीष्माचार्यैव निमित्तितानि चान्ति किन्तु तेषां प्रकृता स एवापरी वा प्रमाणास्तदन्तरकम्यबन्धेति न पार्वतेऽनन्तरादितुम्बक तथापि प्रमेयकमकमार्तन्ध्यावेकता तद्गुणीनां रचनातरंग-पद्मी निरूपणीति वस्तुमुक्तम् ।

“श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमाशक्तिः ।

यस्यैते सप्तगुणास्त दातारं प्रशसन्ति ॥”

“इत्येतैः सप्तभिर्गुणै समाहितेन तु दात्रा दान दातव्यं ।”

यह पद्य, जिसमें दातारके सप्तगुणोंका उल्लेख है, और जिसके अनन्तर ही उक्त टीकावाक्यद्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि ‘इन सप्त गुणोंसे युक्त दातारके द्वारा दान दिया जाना चाहिये,’ यशस्तिलक ग्रंथके ४३ वें “कल्प” का पद्य है। यशस्तिलक ग्रंथ, जिसे ‘यशोधरमहाराजचरित’ भी कहते हैं सोमदेवसूरिका बनाया हुआ है और शक स० ८८१ (वि० स० १०१६) में बनकर समाप्त हुआ है। इससे यह टीका ‘यशस्तिलक’ से बादकी अथवा यों कहिये कि प्रमेयकमलमार्तण्डसे प्रायः अढ़ाईसौ वर्षोंसे भी पीछेकी धनी हुई है, ऐसा कहनेमें कोई सकोच नहीं होता।

२ ‘दुःश्रुति’ अनर्थदण्डका स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले ‘आरभसग’ नामक पद्यकी टीकाका एक अंश इस प्रकार है—

“आरभश्च कृष्यादि सगश्च परिग्रह तयोः प्रतिपादनं वार्ता नीतौ विधीयते
‘कृषिः पशुपाल्य वणिज्य च वार्ता’ इत्याभिधानात् ।

इसमें ‘वार्ता’का जो लक्षण ग्रन्थान्तरसे उद्धृत किया है और जिसके उद्धरणकी बातको ‘इत्याभिधानात्’ पदके द्वारा सूचित भी किया है वह ‘नीतिवाक्यामृत’ ग्रंथके ‘वार्तासमुद्देश’ का प्रथम सूत्र है। ‘नीतौ विधीयते’ इस वाक्यसे भी नीतिग्रंथको सूचित करनेकी ध्वनि निकलती है। यह ‘नीतिवाक्यामृत’ वन्हीं सोमदेवाचार्यका बनाया हुआ है जो यशस्तिलकके कर्ता हैं और इसकी रचना यशस्तिलक ग्रंथसे भी पीछे हुई है, क्योंकि इसकी प्रशस्तिमें ‘यशोधरमहाराजचरित’ के रचे जानेका उल्लेख है। इससे यह टीका ‘नीतिवाक्यामृत’ से भी बादकी धनी हुई है।

१ इसके स्थानपर ‘सत्य’ पाठ गलतीसे मुद्रित हो गया मालूम होता है, अन्यथा इन गुणोंमें सत्यगुणका समावेश नहीं है।

२ ‘यत्रैते’ ऐसा भी पाठान्तर देखा जाता है।

३ ‘पशुपालनं’ यह पाठान्तर है और यही ठीक मालूम होता है।

४ ‘वणिज्या’ यह पाठान्तर है और यह भी ठीक जान पड़ता है।

नन्दि आचार्य प्राय वि० सं० १०७० के बाद हुए हैं, हम कहनेमें कुछ भी दिक्कत नहीं होती। परंतु कितने समय बाद हुए हैं, यह बात अभी नहीं कही जा सकती। हाँ, इतना जरूर कहा जा सकता है कि वे प० आशाधरजीसे पहले हुए हैं, क्योंकि प० आशाधरजीने अपने 'सागरधर्मामृत' की स्वोपहृष्ट टीकामें, जो वि० सं० १२९६ में बन कर समाप्त हुई है, वसुनन्दि श्रावकाचारकी 'पञ्चयरसहियाई' नामकी गाथाका उल्लेख करते हुए लिखा है—

‘इति वसुनन्दिसैद्धान्तिमतेन दर्शनप्रतिमाया प्रतिपन्नस्तस्येद । तन्मतेनैव व्रतप्रतिमा बिभ्रतो ब्रह्माण्वत स्यात्तद्यथा—‘पञ्चैषु इत्यिसेवा . ।’

इसके सिवाय, 'अनगरधर्मामृत' की टीकामें, जो वि० सं० १३०० में बन कर समाप्त हुई है, वसुनन्दिकी आचारवृत्तिका भी आशाधरजीने निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

‘एतच्च भगवद्वसुनन्दिसैद्धान्तदेवपादैराचारटीकाया ‘दुभो णद जहाजाद’ इत्यादिसूत्रे व्याख्यात इष्टव्य ।’

ऐसी हालतमें वसुनन्दि आचार्य वि० सं० १०७० और १२९६ के मध्यवर्ती किसी समयके—विक्रमकी प्राय १२ वीं या १३ वीं शताब्दीके—विद्वान् होने चाहिये। आपने अपने श्रावकाचारमें जो गुरुपरम्परा दी है उससे मालूम होता है कि आप 'नेमिचन्द्र' के शिष्य और 'नयनन्दी' के प्रशिष्य थे, और नयनन्दी 'श्रीनदी' के शिष्य थे। श्रीनदीको दिये हुए कुछ दानोंका उल्लेख गुडिगेरिके द्वाटे हुए एक कनड़ी खिलालेख* में पाया जाता है, जो शक संवत् ९९८ का लिखा हुआ है, और इससे मालूम होता है कि 'श्रीनदी' वि० सं० ११३३ में भी मौजूद थे। ऐसी हालतमें आपके प्रशिष्य (नेमिचन्द्र) के शिष्य 'वसुनन्दी'का समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका प्राय अन्तिम भाग और संभवत १३ वीं शताब्दीका प्रारंभिक भाग भी अनुमान किया जाता है और इस लिये यह टीका जिसमें वसुनन्दीके वाक्यका उल्लेख पाया जाता है विक्रमकी १३ वीं शताब्दीकी—प्रमेयकमलमार्तण्डसे प्राय चारसौ वर्ष पीछेकी—बनी हुई जान पड़ती है और कदापि प्रमेयकमलमार्तण्डादिके कर्ता प्रभावदाचार्यकी बनाई हुई नहीं हो सकती।

* देखो, इण्डियन ऐंटिकेरी, जिल्द १८, पृष्ठ ३८, Ind Ant, XVIII, P 38

४ चर्मायुतं यदुक्तः इत्यादि पद्योऽपि टीकायाम् आत्मन्यात्मनः पदयोः
प्राप्ता भवते ह्य, योने छिद्ये दो पद्य उद्धृतं किये गये हैं—

अनुवाचरान्ने यैव मय एकत्वमेव च ।

अन्तरत्वमनुचितं च तद्वैवाचरार्थवती ॥ १ ॥

निर्गुणं च तथा जोको जोकिर्गुणमवर्तता ।

ह्यारब्धेता अनुमेया मायिता विष्णुर्गुणैः ॥ २ ॥

ये दोनों पद्य 'पद्यवन्धि-उपासकप्रचार' के पद्य हैं जो 'पद्यवन्धिपञ्चविंशति'
में संश्लिष्ट थी पाया जाता है। इस उपासकप्रचारके कृता श्रीपद्यवन्धि व्याचारे
में आचारवरीसे पद्यके दो पद्ये हैं। १० वगैरे विक्रमकी १२ वीं सताब्दीके उत्तरार्धका
मिश्रान् समग्रका चाहिये। ये उन छन्दमन्त्राचार्यके शिष्य थे जिन्होंने देहावसान
कदम्ब १ ४५ (वि सं १९८) में हुआ है + १ इत्यत्र बताया हुआ
'एकत्वसत्त्वति' नामका भी एक पद्य है जो 'पद्यवन्धिपञ्चविंशति' में 'एकत्वाद्यति'
के नामसे संश्लिष्ट है X। नियमसारकी पद्यप्रम-सम्प्रदायवैशेष-विरचित टीकामें
इस पद्यके कितने ही पद्य तथाचोक्तमेकत्वसत्त्वती इस वाक्यके साथ उद्धृत
हैं और वे सब एक 'एकत्वाद्यति' में ज्योंके त्यों पाये जाते हैं। 'एकत्वाद्यति' के
मित्र पद्यमें भी इस प्रपञ्च नाम 'एकत्वसत्त्वति' ही दिया है—

एकत्वसत्त्वतिरिव सुरकिन्दुरस्यै

श्रीपद्यवन्धिप्रिमभूवतः प्रसूता ।

यो गाहते शिवपदमनुविधिं अविद्या—

मेवां कथेत स ना परमां किञ्चिद्विद्य ॥ ७७ ॥

जान पड़ता है 'एकत्वसत्त्वति' की प्रथम प्रतियोंमें कोई विशेष प्रवृत्ति की
कमी हुई है जिसमें किन्तु सामन्तको सामन्तचूडामणि के तीर पर
लगेकित किया है। इसीसे इतिहस्यस्य एव अथववेत्त्येव (एपिमेक्षित्वा
कथंदिद्य किन्तु दृष्टी) के द्वितीय संस्करण (धनु १९२२) की प्रस्तावना

* प आचारवरीने अपने अन्तर्गतचर्मायुतकी टीकाके ९ में अन्त्यावर्त
कत एव श्रीपद्यवन्धिपञ्चविंशति अन्त्यावर्तनं विष्णुमन्त्रमिहमविजये इस
वाक्यके साथ आपके आने काकथनः इत्यादि पद्योऽपि उद्धृत किया है जो
पद्यवन्धिपञ्चविंशतिके अन्तर्गत 'वैवाचरार्थवती' नामके प्रकरणमें पाया जाता है।

+ देहावसानके इस समयके किये देखी प्रपञ्चवेत्त्येव शिष्यके
ध ४३ (१९४) ।

X देखी यही बड़ाकर्णव कल्याणव पाठशिवकी जोरसे कद सं १८२ में
प्रवृत्ति 'पद्यवन्धिपञ्चविंशति' ।

मे, प्राक्तन-विमर्ष-विचक्षण राव घड़ादुर मिस्टर आर नरसिंहाचार एम. ए लिखते हैं कि—

He (Nimba Sāmanta) is praised as the crest jewel of Sāmantas in the Ekatvasaptati of Padmnandi a deciple of Subhachandra who died in 1123

अर्थात्—जिन शुभचन्द्रका ईसवी सन् ११२३ (शक सं० १०४५ वि० सं० ११८०) में देहान्त हुआ है उनके शिष्य पद्मनन्दिकी बनाई हुई 'निम्ब' सामन्तकी 'सामन्त-चूडामणि' के तौर पर प्रशंसा की गई है।

इससे पद्मनन्दिका उक्त उपासकाचार वि० सं० ११८० के करीबका बना हुआ मालूम होता है। उसके वाक्योंका उल्लेख करनेसे भी यह टीका विक्रम की १३ वीं शताब्दीकी बनी हुई सिद्ध होती है। विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहलेके बने हुए किसी ग्रंथमें इसका उल्लेख मिलता भी नहीं।

इन सब प्रमाणोंसे यह बात विलकुल स्पष्ट हो जाती है और इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि यह टीका प्रमेयकमलमार्तण्डादिके रचयिता प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई नहीं है और न हो सकती है। इसमें केवलीके कवलाहार विषयका कुछ कथन जरूर प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके आधारपर उनके कुछ वाक्योंको लेकर किया गया है और इसीसे विशेष कथनके लिये उन ग्रंथोंको देखनेकी प्रेरणा की गई है। परन्तु उनके उल्लेखसे टीकाकारका यह आशय कदापि नहीं है कि वे ग्रंथ उसीके बनाये हुए हैं।

जब कि यह टीका विक्रमकी १३ वीं शताब्दीकी—संभवतः इस शताब्दीके मध्यकालकी—बनी हुई पाई जाती है तब यह सहजहीमें कहा जा सकता है कि यह टीका उन दूसरे प्रभाचन्द्र नामके आचार्योंकी भी बनाई हुई नहीं है जिनका उल्लेख ऊपर ६ से १० नम्बर तक किया गया है और जो १३ वीं शताब्दीसे पहलेके विद्वान् हैं। अब देखना चाहिये कि शेष ११ से १५ नम्बर तकके विद्वानोंमें यह कौनसे प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई प्रतीत होती है। १४ वे नम्बरके रक्षाम्बर प्रभाचन्द्रकी बनाई हुई तो यह प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इसमें आचारभ्रष्टताको पुष्ट करनेवाली कोई खास बात नहीं देखी जाती। ११ वीं प्रतिमावाले उत्कृष्टश्रावकके कथनमें, 'चेलखण्डधर' * पदकी व्याख्या करते हुए, यह तक भी नहीं लिखा कि वह वस्त्र 'रक्ष' होना चाहिये, और जिसका

* इस पदकी व्याख्यामें 'कोपीनमात्रवस्त्रखण्डधारक आर्यालिंगधारीत्यर्थ' इतना ही लिखा है।

में, प्राक्तन-विमर्ष-विचक्षण राव बहादुर मिस्टर लिखते हैं कि—

He (Nimba Sāmanta) is praised of Sāmantas in the Ekatvasapta deciple of Subhachandra who died

अर्थात्—जिन शुभचन्द्रका ईसवी सन् ११२ सं० ११८०) में देहान्त हुआ है उनके शिष्य प- सामन्तकी 'सामन्त-चूडामणि' के तौर पर प्रशंस-

इससे पद्मनदिका उक्त उपासकाचार वि० सं० हुआ मालूम होता है। उसके वाक्योंका उल्लेख की १३ वीं शताब्दीकी बनी हुई सिद्ध होती है। पहलेके बने हुए किसी ग्रंथमें इसका उल्लेख मिलता

इन सब प्रमाणोंसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो सदेह नहीं रहता कि यह टीका प्रमेयकमलमार्तण्डा- र्थकी बनाई हुई नहीं है और न हो सकती है। इस यका कुछ कथन जरूर प्रमेयकमलमार्तण्ड और उनके कुछ वाक्योंको लेकर किया गया है और इन ग्रंथोंको देखनेकी प्रेरणा की गई है। परन्तु उन आशय कदापि नहीं है कि वे ग्रंथ उसीके बनाये हुए

जब कि यह टीका विक्रमकी १३ वीं शताब्दीकी मध्यकालकी—बनी हुई पाई जाती है तब यह सह कि यह टीका उन दूसरे प्रभाचन्द्र नामके आचार्योंको जिनका उल्लेख ऊपर ६ से १० नम्बर तक किया शताब्दीसे पहलेके विद्वान् हैं। अब देखना चाहिये कि तकके विद्वानोंमें यह कौनसे प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हैं नम्बरके रक्षाम्बर प्रभाचन्द्रकी बनाई हुई तो यह इसमें आचारप्रणयताको पुष्ट करनेवाली कोई खास वीं प्रतिमावाले उत्कृष्ट भावकके कथनमें, 'चेखल' हुए, यह तक भी नहीं लिखा कि वह वष

* इस पदकी व्याख्यामें 'कोपीनमात्रव' इतना ही लिखा है।

अधिकतमसोबत इत्यादि कुछ विशेषण भी जहाँकी छविसे परस्पर मिलते
सुझते हैं ।

(१) मध्यपरमके बाद दोनों टीकाओंके प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार हैं—
श्रीपुरुषपादस्वामी मुमुक्षुर्वा मोक्षोपाय मोक्षत्वकर्म चोपवर्तवितुष्यमो
विरहितः सत्यप्रसिद्धात्मादिकं प्रथममिहचिह्नदेवताविशेषं वमस्तुवन्तो
नेकमेवाह ।
—समाविष्टतफटीका ।

श्रीसमन्तमङ्गलस्वामी स्वामी रक्तोपायमुत्तरतन्त्रकर्मप्रवर्तं सम्मार्ग्यवादि
स्वामी पादोपायमूर्तं रक्तकर्मप्रवर्तकम आर्तं कर्तुष्यमो विरहितः साक्षात्पति
समस्तवर्तविकं प्रथममिहचिह्नदेवताविशेषं वमस्तुवन्तो ।
—रत्नकरचण्डीका ।

इन दोनों प्रस्तावनावाक्योंमें कितनी अधिक समानता है उसे वचनानेकी
भी जरूरत नहीं है । वह स्पष्ट स्पष्ट है ।

(१) समाविष्टतफटी टीकामें उसके प्रथम पद्यका शीर्षक इस प्रकार दिया है—
अथ पूर्वार्थेन मोक्षोपायः उत्तरार्थेन च मोक्षत्वकर्ममुपवर्तितम् ।
और रत्नकरचण्डी टीकामें प्रथम पद्यका शीर्षक इस प्रकार दिया हुआ है—
अथ पूर्वार्थेन मगवतः सर्वज्ञतोपायः उत्तरार्थेन च सर्वज्ञतोपायः ।

इससे स्पष्ट है कि दोनों टीकाओंके कवयका हम और सम्प्रतिष्ठास एक
बैद्य है ।

(४) दोनों टीकाओंमें परमेश्वरी परकी भी व्याख्या की गयी है वह एक
ही है । यथा—

परमे इन्द्रादिवर्षे वरे तिष्ठतीति परमेष्टी त्वान्वलीक ।

—समाविष्टतफटीका ।

परमे इन्द्रादीर्षं वरे वरे तिष्ठतीति परमेष्टी ।

—रत्नकरचण्डीका ।

(५) दोनों टीकाओंके अन्तिम पद्य इस प्रकार है—

नेत्रमसा कहिरन्तवत्तममिहा त्रैवा विदुष्योदितो

मोक्षोऽन्तवत्तुष्टनामकवत्तुः सन्त्यावतः कीर्तितः ।

बीजान्तोऽत्र विना समस्तविषय श्रीपादपुण्योऽम्बो

मन्वाकम्पकरः समप्रविष्टतः श्रीमत्पद्मेणु प्रभुः ॥

—समाविष्टतफटीका ।

इस पिछली बातकी संभावना अधिक पाई जाती है। धारामें बराबर उस समय विद्वान् आचार्योंका सद्भाव रहा है। ५० आशाधरजीने धारामें रहते हुए, धर-सेनाचार्यके शिष्य महावीराचार्यसे जेनेन्द्रव्याकरणादि ग्रंथोंको पढ़ा था। आश्चर्य नहीं जो ये महावीराचार्य ही इन धारानिवासी प्रभाचद्रके गुरु हों अथवा वह गुह्यत्व उनके किसी शिष्यको प्राप्त हो। अस्तु। हमारी रायमें यह टीका १५ वें नम्बरके उन प्रभाचद्राचार्यकी बनाई हुई मालूम होती है जिन्हें 'गुर्वावली'में पूज्यपादीय शास्त्रकी व्याख्या करनेवाले लिखा है। श्रीपूज्यपाद आचार्यके 'समाधितत्र' ग्रंथपर, जिसे 'समाधिशतक' भी कहते हैं, प्रभाचद्राचार्यकी एक टीका मिलती है और वह मराठी अनुवाद सहित सन् १९१२ में प्रकाशित भी हो चुकी है। उस टीकाके साथ जब इस टीकाका मीलान किया जाता है तब दोनोंमें बहुत बड़ा सादृश्य पाया जाता है। दोनोंकी प्रतिपादनशैली, कथन करनेका ढंग और साहित्यकी दशा एक जैसी मालूम होती है। वह भी इस टीकाकी तरह प्रायः शब्दानुवादको ही लिये हुए है। दोनोंके आदि अन्तमें एक एक ही पद्य है और उनकी लेखनपद्धति भी अपने अपने प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे समान पाई जाती है। नीचे इस सादृश्यका अनुभव करनेके लिये कुछ उदाहरण नमूनेके तौर पर दिये जाते हैं—

(१) दोनों टीकाओंके आदि मंगलाचरणके पद्य इस प्रकार हैं—

सिद्ध जेनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोध निर्वाणमार्गममल विबुधेन्द्रवद्यम् ।

संसारसागरसमुत्तरणप्रपोत वक्ष्ये समाधिशतक प्रणिपत्य वीर ॥ १ ॥

—समाधिशतकटीका ।

समन्तमद्र निखिलारमबोधन जिन प्रणम्याखिलकर्मशोधनम् ।

नियन्धन रत्नकरण्डक पर करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

—रत्नकरण्डकटीका ।

ये दोनों पद्य इष्ट देवको नमस्कारपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए हैं, दोनोंमें प्रकारान्तरसे ग्रंथकर्ता * और मूल ग्रंथको भी स्तुतिका विषय बनाया गया है और उनके अप्रतिमप्रबोध—निखिलारमबोधन तथा निर्वाणमार्ग—

* पहले पद्यमें 'जेनेन्द्र' पदके द्वारा ग्रंथकर्ताका नामोल्लेख किया गया है, क्योंकि पूज्यपादका 'जेनेन्द्र' अथवा 'जेनेन्द्रबुद्धि' भी नामान्तर है। और 'विबुधेन्द्रवद्य' पद्य पूज्यपादनामका भी श्रोतक है।

अधिककर्मसोबर्ण इत्यादि कुछ विशेषण भी धर्मकी दृष्टिसे परस्पर मिलते
सुझते हैं।

(१) दीपकाचरणके बाद दोनों टीकाओंके प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार हैं—
श्रीपद्मपादस्यमी मुमुक्षुर्वा मोक्षोपाय मोक्षत्वकर्म कोपदर्शितुकामो
निर्विग्रहः साक्षात्परिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषतिइत्येवताविशेषं वमस्तुवाचो
वेदमेत्याह ।
—समाधिपठकटीका ।

श्रीमन्मन्त्रभट्टस्यामी रत्नाचार्यं रत्नभोपायभूतरत्नकरचक्रधरं सम्प्रार्थयामि
रत्नाचार्यं वाचभोज्यभूत रत्नकरचक्रधरं साक्षात्कर्तुंकामो निर्विग्रहः साक्षात्परि
समाप्त्यादिकं फलमभिलषतिइत्येवताविशेषं वमस्तुर्मेत्याह ।
—रत्नकरचक्रकटीका ।

इस दोनों प्रस्तावनावाक्योंमें मिलनी अधिक समानता है उसे बतलानेकी
भी जरूरत नहीं है । वह स्पष्ट स्पष्ट है ।

(१) समाधिपठककी टीकामें उसके प्रथम पद्यका सारांश इस प्रकार दिया है—
नम पूरार्धेन मोक्षोपाय उत्तरार्धेन च मोक्षत्वकर्ममुपदर्शितम् ।

अत एतद्वचनकटी टीकाम प्रथम पद्यका सारांश इस प्रकार दिया हुआ है—
नम पूरार्धेन भगवतः सत्सुतोपाय उत्तरार्धेन च सर्वकृतोक्तम् ।

इससे स्पष्ट है कि दोनों टीकाओंके कवनका अर्थ और अर्थविन्यास एक
ही है ।

(४) दोनों टीकाओंमें परमेष्ठी पदकी जो व्याख्या की गई है वह एक
ही है । यथा—

वरमे ह्यन्नादिर्यस्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी त्वान्वयीका ।

—समाधिपठकटीका ।

परमे ह्यन्नादीनां र्यस्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी ।

—रत्नकरचक्रकटीका ।

(५) दोनों टीकाओंके अन्तिम पद्य इस प्रकार हैं—

वेदायमा बहिरन्तरतमभिदा वेदा विदुषोदितो

मोक्षोऽवन्तान्तुहवामकचपुः सार्वध्यावतः कीर्तितः ।

श्रीवन्तोऽहं जिना समस्तविपद्यः श्रीपादपुण्योऽमको

धन्यामन्करा समाधिपठकः श्रीमन्मोक्षुः प्रभुः ॥

—समाधिपठकटीका ।

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिल भभ्यारमचेतोगत
 सम्यग्ज्ञानमहाशुभिः प्रकटित सागारमार्गोऽखिलः ।
 स श्रीरत्नकरण्डकामलरवि संसृत्सरिच्छोपको
 जीयादेप समन्तभद्रमुनिप श्रीमध्वभेन्दुर्जिन ॥

—रत्नकरण्डकटीका ।

इन दोनों पद्योंमें, अपने अपने ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयका सारांश देते हुए, जिस युक्तिसे जिनदेव, ग्रन्थकार (श्रीपादपूज्य, समन्तभद्रमुनि), ग्रन्थ (समाधिशतक, रत्नकरण्डक) और टीकाकार (भवेन्दु=प्रभाचद्र) को आशीर्वाद दिया गया है वह दोनोंमें बिलकुल एक ही है, दोनोंकी प्रतिपादनशैली अथवा लेखन-पद्धतिमें जरा भी भेद नहीं है, छद्म भी दोनोंका एक ही है और दोनोंमें येन, जिन, श्रीमान्, भवेन्दु, स, जीयात्, पदोंकी जो एकता और कीर्तित प्रकटित आदि पदोंके प्रयोगकी जो समानता पाई जाती है वह मूल पद्योंपरसे प्रकट ही है, उसे और स्पष्ट करके बतलानेकी कोई जरूरत नहीं है ।

सादृश्यविषयक इस सब कथन परसे पाठक सहजहीमें अनुमान कर सकते हैं कि ये दोनों टीकाएँ एक ही विद्वानकी बनाई हुई हैं और वे विद्वान् वही प्रतीत होते हैं जिन्हें, उक्त गुर्वावलीमें ' पूज्यपादीयशास्त्रव्याख्याविख्यातकीर्ति विशेषणके साथ स्मरण किया है—अर्थात्, रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य प्रभाचद्र । इन प्रभाचद्रके पट्टारोहणका जो समय (वि० सं० १३१०) पट्टावलीमें दिया है यदि वह ठीक हो तो, ऐसी हालतमें, यह कहना होगा कि यह टीका उन्होंने इस पट्टारोहणसे पहले धारामें किसी दूसरे आचार्यके पद पर रहते हुए बनाई है, और इसकी रचना या तो वि० सं० १२९२ के बाद और १३०० से पहले, जयसिंह द्वितीयके राज्यमें, हुई है और या उससे भी कुछ पहले जयसिंहके पिता देवपालदेवके राज्यमें हुई जान पड़ती है, जिसके राज्यका * पता वि० सं० १२७५ से १२९२ तक चलता है । प० आशाधरजीने अपने सागार-धर्मामृतकी टीका वि० सं० १२९६ में बनाकर समाप्त की है, उसमें इस टीकाका कहीं पर भी कोई उल्लेख नहीं है परंतु वि० सं० १३०० में बनी हुई आपकी अनगरधर्मामृतकी टीकाके पिछले भागमें इसका उल्लेख जरूर पाया जाता है । इस परसे यह कहा जा सकता है कि सं० १२९६ से पहले या तो यह टीका

* देखो, ' भारतके प्राचीन राजवंश, ' प्रथम भाग, पृ० १६०, १६१ ।

कभी ही नहीं और बाबू पं आचार्यजीको देखनेकी नहीं मिली। अन्धबा बै इच्छा तोलेन अपने साधारणमाँसुतकी टीकामें बकर करते—कमसे कम इस टीकामें साधनदेवताओंकी पूजावाली बुद्धिको तो बाबू ही स्थान देते विच्छेद कर लेना था सुधा है,—परन्तु उक्त पूजाके समवेतमें उसे स्थान देना तो पुर रहा उन्होंने उक्त पहली प्रतिमावाले धानके सिने भी साधन देवताओंकी पूजाका निषेध किया है और साफ लिख दिया है कि वह बापदा कोषि कान्ति (केवैग) होने पर भी कभी कभी पूजा नहीं करता किन्तु पंचपरमेष्ठिके घरोंमें ही एक मात्र इति रचता है, तथा—

“परमेष्ठिपदेकबीः परमेष्ठिपदेन नरेणविपङ्कगुहचरनेन दृष्टा गीरन्तर्धित्वेन ।
बापदाकृतोपि दूर्ध्विकस्तमिहृत्पर्यं साधनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते ॥”

इसके सम्बन्धमें हम सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि साधन देवताओंकी पूजाकी बुद्धिके अन्तर्धित्व न करना इन बातका कोई विवक्षित अर्थ नहीं करता क्योंकि यह टीका आचार्यजीको उक्त वक्त देखनेकी नहीं मिली थी। क्योंकि बाबू देखनेको भिन्न जाने पर भी उन्होंने अनन्तरमाँसुतकी टीकामें उक्त बुद्धिके कोई अन्तर्धित्व नहीं किया बल्कि पीछे लिखे पत्रों में लिखा करते हुए साधन देवताओंकी कुदेषोंमें परिपणित करके उन्हें बाबूको ही बाबूजीय (बन्ना किने जानेके अनोम्ब) उद्धृष्टा है—

अन्तर्धित्वेन विरही गुह राजान्धर्षिताः ।

कुर्वन्ति वा कुदेषान् न वीर्याः सोपि सर्वतः ॥

टीका— ... कुर्वन्ति विरहापछादवाः बाबूस्थानवधः । कुदेषा आद्यं कृतदेवतावधः ।

देखी हाथमें नहीं लगाकर होता है कि आचार्यजीने उक्त बुद्धिको विच्छेद ही कि साधन देवताओंकी और अपने मंत्रके विच्छेद सम्पन्न है और इसी विच्छेद अर्थों की भी टीकामें उसे उद्धृत नहीं किया। परन्तु फिर भी साधारण माँसुतकी टीकामें इस टीकाका कुछ भी अन्तर्धित्व न होना—कमसे कम अन्तर्धित्व के अन्तर्धित्व करनेके लिये पर ही यह भी न लिखकरना जाना कि प्रमाणान्ते वृद्धे बाबूको मृत एक कम निज इस टीकामें ११ प्रतिमाओंको सम्प्रेषणात् इत्यं धानके ११ मेरु वतन्नाम है—कुछ संदेह अन्तर पैदा करता है। और एक सिने बाबू नहीं जो यह टीका कि ये ११११ है पहले वक्त ही न पाई हो। अन्धबा वक्त जाने और देखनेकी भिन्न जाने पर यह भी हो सकता है कि

धाराके इलाकेमें रहते हुए धाराके भट्टारकोंसे उपकृत और प्रभावित होनेके कारण उनकी इस तात्कालिक कृतिको किसी गलत बातको लेकर उसका प्रत्यक्ष रूपसे विरोध करना आशाधरजीने अपने शिष्टाचार तथा नीतिके विरुद्ध समझा हो। परंतु कुछ भी सही, १२९६ से पहले ही या पोछे दोनों ही हालतोंमें यह टीका ५० आशाधरजीके समयकी बनी हुई प्रतीत होती है।

हाँ यदि 'समाधिशतक' की उक्त टीका रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य या धारा-निवासी प्रभाचद्रकी बनाई हुई न हो, अथवा रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य प्रभाचद्रके सम्बंधमें गुर्वावली और पद्मावलीका यह उल्लेख ही गलत हो कि उन्होंने पूज्य पादोद्य शास्त्रकी व्याख्या करके प्रसिद्धि प्राप्त की थी, तो फिर यह टीका 'नय कीर्तिके' शिष्य ११ वें नम्बरके प्रभाचद्र, अथवा 'श्रुतमुनि'के विद्यागुरु १३ वें नम्बरके प्रभाचद्र की बनाई हुई होनी चाहिये। दोनोंका समय भी प्रायः एक ही है। अस्तु, यह टीका इन चारों प्रभाचद्रमेंसे चाहे जिसकी बनाई हुई हो परन्तु जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि यह विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहलेकी बनी हुई नहीं है।

यहाँपर इतना और भी प्रकट कर देना उचित माह्यम होता है कि डाक्टर भाण्डारकर तथा पिटर्सन साहबकी वावत यह कहा जाता है कि उन्होंने इस टीकाको वि० स० १३१६ में होनेवाले प्रभाचद्रकी बनाई हुई लिखा है। यद्यपि, इन विद्वानोंकी वे रिपोर्टें हमारे सामने नहीं हैं और न यही माह्यम हो सका कि इन्होंने उक्त प्रभाचद्रको कौनसे आचार्यका शिष्य लिखा है जिससे विशेष विचारको अवसर मिलता, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि उनके इस लिखनेका यह आशय कदापि नहीं हो सकता कि उन्होंने इस टीकाको वि० स० १३१६ की बनी हुई लिखा है अथवा इसके द्वारा यह सूचित किया है कि वि० स० १३१६ से पहलेके वर्षोंमें इन प्रभाचद्रका अस्तित्व था ही नहीं। हो सकता है कि इन प्रभाचद्रके बनाये हुए किसी ग्रंथकी प्रशस्तिमें उसके रचे जानेका स्पष्ट समय सं० १३१६ दिया हो और उसीपरसे उन्हें १३१६ में होनेवाले प्रभाचद्र, ऐसा नाम दिया गया हो। १५ वें नम्बरके प्रभाचद्र, नेनकी वावत इस टीकाके कर्ता होनेका विशेष अनुमान किया गया है, वि० स० १६ में मौजूद थे ही। १२ वें और १३ वें नम्बरके प्रभाचद्रकी भी उस मौजूद होनेकी संभावना पाई जाती है। ऐसी हालतमें यहाँ जो कुछ किया गया है उसमें उनके उस लिखनेसे कोई भेद नहीं पड़ता। अस्तु।

आमार और निवेदन ।

अब इस प्रस्तावनाको नहीं पर समाप्त करते हुए, हम उन सभी मित्रोंका हरमते आमार मानते हैं जिनके प्रबो केबो जवना पत्रोंसे हमें इस प्रस्तावना तथा स्वाधीनसमन्तमय नामक ऐतिहासिक निबन्ध (इतिहास) के लिखनेमें कुछ भी सहायता मिली है । साथ ही वह भी प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि इस प्रस्तावनाके लिखे जानेका वास्तविक भेद प्रबंधात्मक सुयोग्य मंत्री सुहृद् प. वाचस्पत्यजी प्रेमीको ॥ प्राप्त है जिनकी साक्षिपत्र प्रेरणा से इस इस कार्यमें प्रवृत्त हुए और उसीके फलस्वरूप यह प्रस्तावना तथा इसी एक केवल वाठकोके सामने उपस्थित हो सके हैं । प्रस्तावनाकी प्रारंभ लिखे हुए वर्ष भर में भी ऊपर हो कुछ इस बीचमें बीमारी और तन्मय निर्दलताके अतिरिक्त साधनसमन्तमयकी निरकृता तथा ऐतिहासिक प्रबोकी अतिरिक्तता के कारण कई बार इसे उत्पन्न रखना पड़ा और साधन सामन्तीको सुझावे के लिखनेमें कम्पना पड़ा । बीच बर्षोंसे निरन्तर रहती अंतराल एपिग्रैफिया कार्पेटिका (Epigraphia Carpathica) की भी बहुतसी किस्में देखी गईं, और अनेक मित्रोंसे वास्तविक और पर वचनबहार भी किया गया । प्रस्तावनाको हाथमें लेते हुए वह नहीं समझा गया था कि वह सब कार्य इतना अधिक परिश्रम और समय लेगा जवना इसे इतना निष्ठाक रूप देना पड़ेगा । उस समय साधारण तौर पर बड़ी कलाक कर किया गया था कि हो तीन महीनेमें ही हम इसे पूरा कर सकेंगे । और वास्तव इन्हीं जाका पर प्रेमीकी प्रबोके रूप वादेका इस समय मोटिफ भी निष्ठाक दिया था जिसकी वजहसे उनके पास प्रबोकी निरन्तरी ही मानें आई और जोरोंसे उनके मेनबनेके लिखे ऊपर बार बार तकावा किया । परंतु वह जब कुछ शेषों हुए भी प्रेमीकी इशारे के आशाशील और अनिवार्य निष्ठाक कारण इत्यादि नहीं हुए और व जोरोंके बार बार लिखने तथा तकावा करनेसे तंग जाकर, उन्होंने निम्न प्रस्तावनाके ही इस प्रबोको प्रकटित कर देना उचित समझा, बल्कि इस के अन्तमें अन्ततः बैठे ही कृपा हुआ रखना रहने दिया और हमें वे गठेवर प्रेमभरी कथोंमें प्रस्तावनाके वचनसमन्तमय धीमे पूरा करनेकी प्रेरणा करते रहे, बत्तीया लिखकर वह हुआ कि आज मैं अपनी उस प्रेरणामें कटब हो सके हैं । मैं प्रेमीकी इतने अधिक वैधेसे अभ्यस्य हो तो आज यह प्रस्ता

वना और इतिहास अपने वर्तमान रूपमें पाठकोंके सामने उपस्थित हो सकते, इसमें सदेह ही है। और इसी लिये हम इनके लिखे जानेका खास श्रेय प्रेमीजीको ही देते हैं। आपकी प्रेरणाको पाकर हम स्वामी समन्तभट जैसे महान् पुरुषोंका पवित्र इतिहास लिखने और उनके ग्रन्थोंके विषयमें अपने कुछ विचारोंको प्रकट करनेमें समर्थ हो सके हैं, यही हमारे लिये आनन्दका खास विषय है और इसके वास्ते हम प्रेमीजीके विशेष रूपसे आभारी हैं। इस अवसर पर देहलीके सुप्रसिद्ध अनुमवी राजवैद्य प० शीतलप्रसादजीका धन्यवाद किये बिना भी हम नहीं रह सकते, जिन्होंने वड़े प्रेमके साथ हमें अपने पास रखकर नि स्वार्थ भावसे हमारी चिकित्सा की और जिनकी सच्चिकित्साके प्रतापसे हम अपनी खोई हुई शक्तिको पुन प्राप्त करनेमें बहुत कुछ समय हो सके हैं, और उसीका प्रथम फल यह कार्य है। इसमें सदेह नहीं कि हमारी वजहसे ग्रन्थके शीघ्र प्रकाशित न हो सकनेके कारण कुछ विद्वानोंको प्रतीक्षा-जन्य कष्ट जरूर उठाना पड़ा है, जिसका हमें स्वयं खेद है और इसलिये हम उनसे उसके लिये क्षमा चाहते हैं। इसके सिवाय अनुसंधान-प्रिय विद्वानोंसे हमारा यह भी निवेदन है कि इस प्रस्तावनादिके लिखनेमें यदि हमसे कहीं कुछ भूल हुई हो तो उसे वे प्रमाणसहित हमें लिख भेजनेका कष्ट जरूर उठाएँ। इत्यलम्।

सरसावा, जि० सहारनपुर
ता० १७-२-१९२५

}

जुगलकिशोर, मुस्तार।

श्रीमत्समन्तमद्रस्वामिने नमः ।

स्वामी समन्तमद्र ।

प्राकयन ।



जैनसमाजके प्रतिभाशाली व्याचार्यों, समर्थ विद्वानों और मुख्य
महत्मान्जोमें मगवान्समन्तमद्र स्वामीका वात्सन बहुत
कम है । ऐसा शायद कोई ही अमाना जैनी होगा जिसने आपका पवित्र
नाम न सुना हो परंतु सम्राजका अधिकार्य माग ऐसा जरूर है जो आपके
विभिन्न गुणों और पवित्र जीवनवृत्तान्तोंसे बहुत ही कम परिचित है—
वस्तु यों कहिये कि, अपरिचित है अपने एक महान् नेता और
ऐसे नेताके विषयमें जिस 'विनोदसासनका प्रणेता' तक जिज्ञा है
समाजका इतना भारी अज्ञान बहुत ही लटकता है । हमारी बहुत दिनोंसे
होस कलकी बरामद इच्छा रही है कि आपार्त्यमहोदयका एक सच्चा
इतिहास—उनके जीवनका पूरा इत्तान्त—जिसपर लोगोंका यह अज्ञान
माग दूर किया जाय । परंतु बहुत कुछ प्रश्न करने पर भी हम जमी
तक अपनी उस इच्छाको पूरा करनेके लिये समर्थ नहीं हो सके ।

इसका प्रधान कारण यथेष्ट साधनसामग्रीकी अप्राप्ति है । समाज अपने प्रमादसे, यद्यपि, अपनी बहुतसी ऐतिहासिक सामग्रीको खो चुका है फिर भी जो अवशिष्ट है वह भी कुछ कम नहीं है । परन्तु वह इतनी अस्तव्यस्त तथा इधर उधर बिखरी हुई है और उसको मादम करने तथा प्राप्त करनेमें इतनी अधिक विघ्नवाधाएँ उपस्थित होती हैं कि उसका होना न होना बराबर हो रहा है । वह न तो अधिकारियों-के स्वयं उपयोगमें आती है, न दूसरोंको उपयोगके लिये दी जाती है और इसलिये उसकी दिनपर दिन तृतीया गति (नष्टि) होती रहती है, यह बड़े ही दुःखका विषय है !

साधनसामग्रीकी इस विरलताके कारण ऐतिहासिक तत्त्वोंके अनुसंधान और उनकी जाँचमें कभी कभी बड़ी ही दिक्कतें पेश आती हैं और कठिनाइयाँ मार्ग रोककर खड़ी हो जाती हैं । एक नामके कई कई और विद्वान् हो गये हैं, एक विद्वान् आचार्यके जन्म, दीक्षा, गुणप्रत्यय और देशप्रत्ययादिके भेदसे कई कई नाम अथवा उपनाम भी हुए हैं,

१ जैसे, ' पद्मनन्दि ' और ' प्रभाचन्द्र ' आदि नामोंके धारक बहुत से आचार्य हुए हैं । ' समन्तभद्र ' नामके धारक भी कितने ही विद्वान् हो गये हैं, जिनमें कोई ' लघु ' या ' चिह्न,' कोई ' अभिनव,' कोई ' गेरुसोपे,' कोई ' भट्टारक ' और कोई ' गृहस्थ ' समन्तभद्र कहलाते थे । इन सबके समयादिका कुछ परिचय लेखककी लिखी हुई रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें, ' प्रथम संदेह ' शीर्षकके नीचे, दिया गया है । स्वामी समन्तभद्र इन सबसे भिन्न थे और वे बहुत पहले हो गये हैं ।

२ जैसे, ' पद्मनन्दि ' यह कुन्दकुन्दाचार्यका पहला दीक्षानाम और बादको ' कोण्डकुन्दाचार्य ' यह उनका देशप्रत्यय नाम हुआ है, क्योंकि वे ' कोण्डकुन्दपुर ' के निवासी थे । गुर्वालियोंमें आपके एलाचार्य, वक्रग्रीव और गृध्रपिच्छाचार्य नाम भी दिये हैं, जो गुणादि प्रत्ययको लिये हुए समझने चाहिये और इन नामोंके दूसरे आचार्य भी हुए हैं ।

और दूसरे विद्वानोंने उसका मयाकथि—बाहे जिस नामसे—अपने प्रयोगमें उल्लेख किया है, एक नामके कई कई पर्यायनाम भी इति है और उन पर्यायनामों अथवा आशिक पर्यायनामोंसे भी विद्वानों तथा आचार्योंका उल्लेख मिलता है कितने ही विभिन्न भाषाओंके अनुवादोंमें, कभी कभी मूलग्रंथ और प्रपञ्चरके नामोंका भी अनुवाद कर दिया जाता है अथवा वे नाम अनुवाहित रूपसे ही उन भाषाओं के प्रयोगमें उल्लेखित हैं एक व्यक्तिके जो दूसरे नाम उपनाम, पर्यायनाम अथवा अनुवाहित नाम हों वे ही दूसरे व्यक्तियोंके मूल नाम भी हो सकते हैं और अन्तर होते रहे हैं; समसामयिक व्यक्तियोंके नामका भी प्रायः ऐसा ही हाल है कोई कोई विद्वान् कई कई भाषाओंके भी सिष्य हुए हैं और उन्होंने अपनेको बाहे वहाँ बाहे जिस भाषा के सिष्य सूचित किया है एक संघ अथवा गण्टके किसी लच्छे आचार्यको दूसरे संघ अथवा गण्टने भी अपनाया है और उसे अपने ही संघ तथा गण्टका आचार्य सूचित किया है इसी तरहपर कोई कोई आचार्य अनेक मठोंके अभिपति अथवा अनेक स्थानोंकी गरियोंके स्वामी भी हुए हैं और इससे उनके कई कई गृहसिष्य हो गये हैं, किन्हींसे प्रत्येकने उन्हें अपना ही गुरुगुरु सूचित किया है । इस प्रकारकी हस्तियोंमें किसीके असली नाम और असली कामका पता बताना कितनी टेढ़ी खीर है, और एक ऐतिहासिक विद्वानके किये पदार्थ स्तुतिपत्रिका निर्णय करने अथवा किसी कास घटना या उल्लेखको किसी कास व्यक्तिके साथ संयोजित करनेमें कितनी अधिक उलझनों

१ वेही नामचन्द्रका कही नामचन्द्र और कही मुर्वचन्द्राकर इस पर्याय नामसे उल्लेख पाया जाता है । और प्रमथचन्द्राकर प्रमेयु वह आशिक पर्यायनाम है जिसका बहुत कुछ व्यवहार देखनेमें आता है ।

तथा कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, इसका अन्त अनुभव वे ही विद्वान् कर सकते हैं जिन्हें ऐतिहासिक क्षेत्रमें कुछ असेनक काम करनेका अवसर मिला हो । अस्तु । यथेष्ट साधननामग्रांके बिना ही, उन सब अधवा इसी प्रकारकी और भी बहुतसी दिशनों, उलझनों और कठिनाइयोंमेंभे गुजरते हुए, हमने आजतक स्वामी समन्तभद्र-के विषयमें जो कुछ अनुसंधान किया है—जो कुछ उनकी छतियों, दूसरे विद्वानोंके प्रयोगोंमें उनके विषयके उल्लेखवाक्यों और शिलालेखों आदि परसे हम माद्धम कर सके हैं—अथवा जिसका हमें अनुभव हुआ है उस सब इतिवृत्तको अब संकलित करके, और अधिक साधन-सामग्रीके मिलनेकी प्रतीक्षामें न रहकर, प्रकाशित कर देना ही उचित माद्धम होता है, और इस लिये नीचे उसीका प्रयत्न किया जाता है —

पितृकुल और गुरुकुल ।

स्वामी समन्तभद्र के बाल्यकालका अथवा उनके गृहस्थ जीवनका प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता, और न यह माद्धम होता है कि उनके मातापिताका क्या नाम था । हाँ, आपके 'आप्तमीमासा' ग्रंथकी एक प्राचीन प्रति ताड़पत्रों पर लिखी हुई श्रवणवेल्लोलके दोर्गन्धि जिनदास शार्ङ्गके मडारमें पाई जाती है । उसके अन्तमें लिखा है—

‘ इति फणिमडलालकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामि-
भद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम् । ”

यह माद्धम होता है कि समन्तभद्र क्षत्रियवंशमें उत्पन्न हुए थे और एक राजपुत्र थे । आपके पिता फणिमडलान्तर्गत 'उरगपुर'के

१ देखो जैनहितोपी भाग ११, अंक ७-८, पृष्ठ ४८० । आरामके जैनसिद्धान्त-भवनमें भी, ताड़पत्रोंपर, प्रायः ऐसे ही लेखवाली प्रति मौजूद है ।

यथा ये, और इस छिय उरगपुरको आपकी जन्मभूमि अथवा वात्स्य-
कीजामूमि समझना चाहिये । 'राजापलीकये' में आपका जन्म
'उत्पत्तिक' ग्राममें हुआ लिखा है जो प्रायः उरगपुरके ही अन्तर्गत
होगा । यह उरगपुर 'उरैयूर' का ही संस्कृत अथवा द्युतिमपुर नाम
मान पड़ता है जो बौद्ध राजाओंकी सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राज-
धानी थी । पुरानी त्रिचिनापोली भी इसीको कहते हैं । यह नगर
कावेरीके तटपर बसा हुआ था, बन्दरगाह था और किसी समय बड़ा
ही समृद्धिवाली जनपद था ।

सर्मतमयका बनाया हुआ स्तुतिविद्या ^{वात्समी} 'रिषवा' जिनस्तुति-
स्त' नामक एक अलंकारप्रधान ग्रंथ ^{वात्समी} 'रिषवा' से 'जिनशतक'
अथवा जिनशतकालंकार भी कहते हैं । इस ग्रंथका 'गर्वाक्षस्तुत'
'मेव' नामक जो अन्तिम पद्य है वह कवि और काव्यके नामको
लिये हुए एक विशिष्ट काव्य है । इस काव्यकी छंद अने और नव
काव्यवाली विमलचनापरसे ये दो पद निकलते हैं—

शान्तिवर्मकुलं, 'जिनस्तुतिशत' ।

इन्से स्पष्ट है कि यह ग्रंथ 'शान्तिवर्मा' का बनाया हुआ है और
इस लिये 'शान्तिवर्मा' सर्मतमयका ही नामान्तर है । परंतु यह नाम
उसके मुनिजीवनका नहीं हो सकता क्योंकि मुनियोंके 'वर्मान्त' नाम
नहीं होते । जान पड़ता है यह आचार्य म्हाशयके मातृपितादिद्वारा

१ महाकवि काविराजने अपने रतुबंध में भी 'उरगपुर' नामसे इस नगरका
उल्लेख किया है ।

२ यह नाम ग्रंथके आदिम संस्करणपरसे लिये हुए स्तुतिविद्या प्रकाशने
के प्रतिज्ञापानसे जाना जाता है ।

३ देखो महाकवि वरविष्णुवत जिनकाव्य-टीका ।

रक्खा हुआ उनका जन्मका शुभ नाम था । इस नामसे भी आपके क्षत्रियवशोद्भव होनेका पता चलता है । यह नाम राजघरानोंका है । कदम्ब, गग और पल्लव आदि वंशोंमें कितने ही राजा वर्मान्त नामको लिये हुए हो गये हैं । कदम्बोंमें 'शांतिवर्मा' नामका भी एक राजा हुआ है ।

यहाँ पर किसीको यह आशका करनेकी जरूरत नहीं कि 'जिन-स्तुतिशत' नामका ग्रंथ समतभद्रका बनाया हुआ न होकर शांति-वर्मा नामके किसी दूसरे ही विद्वान्का बनाया हुआ होगा, क्योंकि यह ग्रंथ निर्विवाद रूपसे स्वामी समतभद्रका बनाया हुआ माना जाता है । ग्रंथकी प्रतीक्षोंमें कर्तृत्वरूपसे समतभद्रका नाम लगा हुआ है, टीकाकार महाकवि नरसिंहने भी उसे 'तार्किकचूडामणि-श्रीमत्समन्तभद्राचार्यविरचित' सूचित कि है और दूसरे आचार्यों तथा विद्वानोंने भी उसके वाक्योंका, समतभद्रके नामसे, अपने ग्रंथोंमें उल्लेख किया है । उदाहरणके लिये 'अलंकारचिन्तामणि' को लीजिये, जिसमें अजितसेनाचार्यने निम्नप्रतिज्ञावाक्यके साथ इस ग्रंथके कितने ही पदोंको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

श्रीमत्समन्तभद्रार्यजिनसेनादिभाषितम् ।

लक्ष्यमात्रं लिखामि स्वनामसूचितलक्षणम् ॥

इसके सिवाय प० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने 'स्वयम्भूस्तोत्र' का जो संस्करण संस्कृतटीका और मराठी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया है उसमें समतभद्रका परिचय देते हुए उन्होंने यह सूचित किया है कि कर्णाटकदेशस्थित 'अष्टसहस्री' की एक प्रतिमें आचार्यके नामका इस प्रकारसे उल्लेख किया है—“ इति फणि-मंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनुना शांतिवर्मनामा श्रीसम-

तमत्रेण ।” यदि पंडितजीकी यह सूचना सत्य × हो तो इससे यह निष्पत्ति और भी स्पष्ट हो जाता है कि शांतिवर्मा समन्तभद्रका ही नाम था ।

वास्तवमें ऐसे ही महत्त्वपूर्ण काव्यप्रयोगोंके द्वारा समन्तभद्रकी कव्यकीर्ति जगतमें विस्तारको प्राप्त हुई है । इस प्रयोगमें आपने जो भर्त्सक शब्दवाच्यको लिखे हुए निर्मल भक्तिभागा बहर्त्स है उसके उपयुक्त पत्र भी आप ही हैं । आपसे भिन्न शांतिवर्मा नामका

× १ बिनयासकी इस सूचनाको देखकर हममें परावृत्त करने यह सम्झना पड़ा था कि कर्नाटक देशमें मिली हुई बहसद्वयीकी यह बीजसी प्रति है और क्योंकि संसारमें पाई जाती है जिसमें कुछ उल्लेख मिलता है । क्योंकि शीर्षके बिनयास वाक्योंके संसारमें मिली हुई भाष्यमीमांसा के उल्लेखों यह उल्लेख कुछ भिन्न है । उत्तरमें आपने कही सुनिश्चित किया कि यह उल्लेख वं बंदी वाक्योंकी मिली हुई बहसद्वयीकी प्रस्तावना परसे किया गया है, इस लिये इस निबन्ध प्रसन्न दृष्टि करवा चाहिये । बहसद्वयीकी प्रस्तावना (परिचय) को देखने पर स्पष्ट हुआ कि उसमें इति से समन्तभद्र उल्लेख कुछ उल्लेख शीर्षको पाया जाता है, उसके ऊपरमें कर्नाटदेशकी कव्यपुस्तकें और जगत्में इत्यादिवाक्यों द्वारा वे उल्लेख किये हुए हैं । इसपर यह ता ११ ऊपरकी एक उल्लेख पत्र ५ बहीवरजीकी सोनपुर में या पत्रा बीर उल्लेख अपने कुछ उल्लेख कृत्यता करनेके लिये प्रार्थना की थी । सब ही यह भी किया गया कि यदि आपसे स्वयं कुछ कर्नाट देशमें मिली हुई पुस्तकको न देखा हो तो बिना आचार पर आपने कुछ उल्लेख किया है उसे ही अपना सुनिश्चित कीजिये । १ ही अथवा उम् १५२४ की गुजरात रिमाहन्तर पत्र भी दिया गया परंतु पंडितजीने दोनोंमेंसे किसीका भी कोई उत्तर देने की कृपा नहीं की । और भी क्योंकि इस उल्लेखका समर्थन नहीं किया । ऐसी हालतमें यह उल्लेख कुछ संशयका भावना होता है । आशय नहीं जो वैयक्तिकीमें प्रकाशित कुछ भाष्यमीमांसा के उल्लेखों परसे स्पष्टि परसे ही यह उल्लेख कर दिया गया हो; क्योंकि कुछ प्रस्तावनामें ऐसे और भी कुछ मूलतः उल्लेख पाने जाते हैं— जैसे कर्नाट देशकी उल्लेख नामक पत्रकी माहिनेप्रकाशितका वतवसा बिनया पर यह कही है ।

कोई दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् हुआ भी नहीं । इस लिये उक्त शका निर्मूलक जान पड़ती है । हाँ, यह कहा जा सकता है कि समन्तभद्रने अपने मुनिजीवनसे पहले इस ग्रंथकी रचना की होगी । परन्तु ग्रंथके साहित्य परसे इसका कुछ भी समर्थन नहीं होता । आचार्य महोदयने, इस ग्रन्थमें, अपनी जिस परिणति और जिस भाव-मयी मूर्तिको प्रदर्शित किया है उससे आपकी यह कृति मुनिअवस्थाकी ही मालूम होती है । गृहस्थाश्रममें रहते हुए और राज-काज करते हुए इस प्रकारकी महापांडित्यपूर्ण और महदुर्बभावसपन्न मौलिक रचनाएँ नहीं बन सकतीं । इस विषयका निर्णय करनेके लिये, संपूर्ण ग्रंथको गौरके साथ पढ़ते हुए, पद्य न० १९, ७९ और ११४ * को खास तौरसे ध्यानमें लाना चाहिये । १९ वें पद्यसे ही यह मालूम हो जाता है कि स्वामी सत्सारसे भय-भीत होने पर शरीरको लेकर (अन्य समस्त परिग्रह छोड़कर) वीतराग भगवान्की शरणमें प्राप्त हो चुके थे, और आपका आचार उस समय - (ग्रंथरचनाके समय) पवित्र, श्रेष्ठ, तथा गणधरादि अनुष्ठित आचार जैसा उत्कृष्ट अथवा निर्दोष था । वह पद्य इस प्रकार है—

पूतस्वनवमाचार तन्वायातं भयाद्भुचा ।

स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्यशंभव ॥

इस पद्यमें समन्तभद्रने जिस प्रकार 'पूतस्वनवमाचार' + और 'भयात् × तन्वायात' ये अपने (मा = 'मा' पदके) दो खास विशेषण पद दिये

* यह पद्य आगे ' भावी तीर्थकरत्व ' शीर्षकके नीचे उद्धृत किया गया है ।

+ ' पूत पवित्र सु सुष्ठु अनवम गणधराद्यनुष्ठित आचार पापक्रिया-निवृत्तिर्यस्यासौ पूतस्वनवमाचारः अतस्त पूतस्वनवमाचारम् '—इति टीका ।

× भयात् सत्सारभीते । तन्वा शरीरेण (सह) आयात आगतं ।

है उसी प्रकार ७९ वें † पद्यमें उन्होंने ' ध्वंममानसमानस्तथासमानसं ' विशेषणके द्वारा अपमेक्षो उल्लेखित किया है । इस विशेषणसे माहम होता है कि समन्तभद्रके मनसे यद्यपि त्रास उद्देग-विलकुल मष्ट (भस्त) नहीं हुआ था-सत्तामें कुछ मौजूद जरूर था-फिर भी वह विमानके समान हो गया था, और इस लिये उनके चित्तको उद्देखित करवा संप्रसन्न करनेके लिये समर्थ नहीं था । चित्तकी ऐसी स्थिति बहुत ऊँचे दर्जे पर आकर होती है और इस लिये यह विशेषण भी समन्तभद्रके मुनिजीवनकी उत्कृष्ट स्थितिको सूचित करता है और यह बतलाना है कि इस प्रपञ्ची रचना उनके मुनिजीवनमें ही हुई है । टीकाकार नरसिंहभास्करने भी प्रथम पद्यकी प्रस्तावनामें 'समन्तभद्राचार्यविरचित' लिखनेके अतिरिक्त, ८४ वें पद्यमें आए हुए 'अर्द्ध' विशेषणका अर्थ 'पूर्व' करके और ११५ वें पद्यके 'कन्दीयूतवत्' पदका अर्थ 'मंगलपाठकी सूतवतोपि नप्राप्ता रूपाय भवतोपि मम' ऐसा देकर वही सूचित किया है कि यह प्रथम समन्तभद्रके मुनिजीवनका बना हुआ है । अस्तु ।

स्वामी समन्तभद्रने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया और विवाह करवाया कि नहीं, इस बातके आशयका प्रायः कोई साधन नहीं है । ही यदि यह सिद्ध किया जा सके कि कदम्बरेशी राजा शान्तिवर्मा और शान्तिवर्मा समन्तभद्र दोनों एक ही व्यक्ति थे तो यह सहजहीमें बतलाना जा सकता है कि आपने गृहस्थाश्रमको चरण किया था और विवाह भी कराया था । साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि आपके पुत्रका नाम

† यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

एवममानसमानस्तथासमानसं माहम ।

ध्वंसमानसमानस्तथासमानसं माहम ॥

मृगेशवर्मा, पौत्रका रविवर्मा, प्रपौत्रका हरिवर्मा और पिताका नाम काकुत्स्थवर्मा था; क्योंकि काकुत्स्थवर्मा, मृगेशवर्मा और हरिवर्माके जो दान-पत्र जैनियों अथवा जैन सस्थाओंको दिये हुए हलसी और वैजयन्ती-के मुकामोंपर पाये जाते हैं उनसे इस वंशपरम्पराका पता चलता है* । इसमें सदेह नहीं कि प्राचीन कदम्बवशी राजा प्रायः सब जैनी हुए हैं और दक्षिण (बनवास) देशके राजा हुए हैं, परन्तु इतने परसे ही, नामसाम्यके कारण, यह नहीं कहा जा सकता कि शांतिवर्मा कदम्ब और शांतिवर्मा समतभद्र दोनों एक व्यक्ति थे । दोनोंको एक व्यक्ति सिद्ध करनेके लिये कुछ विशेष साधनों तथा प्रमाणोंकी जरूरत है जिनका इस समय अभाव है । हमारी रायमें, यदि समतभद्रने विवाह कराया भी हो तो वे बहुत समय तक गृहस्थाश्रममें नहीं रहे हैं, उन्होंने जल्दी ही, थोड़ी अवस्थामें, मुनि दीक्षा धारण की है और तभी वे उस असाधारण योग्यता और महत्ताको प्राप्त कर सके हैं जो उनकी कृतियों तथा दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंमें उनके विषयके उल्लेखवाक्योंसे पाई जाती है और जिसका दिग्दर्शन आगे चल कर कराया जायगा । ऐसा माह्रम होता है कि समन्तभद्रने बाल्यावस्थासे ही अपने आपको जैन-धर्म और जिनेन्द्र देवकी सेवाके लिये अर्पण कर दिया था, उनके प्रति आपको नैसर्गिक प्रेम था और आपका रोम रोम उन्हींके ध्यान और उन्हींकी वार्ताको लिये हुए था । ऐसी हालतमें यह आशा नहीं की जा सकती कि आपने घर छोड़नेमें विलम्ब किया होगा ।

भारतमें ऐसा भी एक दस्तूर रहा है कि, पिताकी मृत्युपर राज्यासन सबसे बड़े बेटेको मिलता था, छोटे बेटे तब कुटुम्बको छोड़ देते

* देखो ' स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म ' नामकी पुस्तक, भाग दूसरा, पृष्ठ ८७ ।

ये और धार्मिकजीवन व्यतीत करते थे; उन्हें अधिक समयतक अपनी दैवीय रियासतमें रहनेकी भी इजाजत नहीं होती थी * । और यह एक चषा थी जिसे भारतकी खासकर बुद्धकाशीन भारत में, धार्मिक संस्थानों छोटे पुरानोंके लिये प्रस्तुत किया था । इस चषामें न केवल पोष्य आचार्य कभी कभी अपने राजबन्धुसे भी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करते थे । संभव है कि समंतमद्रको भी ऐसी ही किसी परिस्थितिमेंसे गुजरना पड़ा हो उनका कोई बड़ा भई राज्याधिकारी हो उस ही पिताकी मृत्यु पर राज्यासन मिना हा, और इस लिये समंतमद्रन न तो राज्य किया हो और न विवाह ही कराया हो बल्कि अपनी स्थितिमें समस्त कर उन्होंने अपने जीवनको शुरूसे ही धार्मिक संस्थानों में डाल दिया हो; और पिताकी मृत्यु पर अपना उत्तराधिकार ही अवसर पाकर आप स्थित हो गये हों और समस्त की बड़ा हो कि आपका फिर दरगपुर जाना और वहीं रहना प्राप्त नहीं पाया जाता । श्रेष्ठ कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि, आपकी धार्मिक परिणतिमें कुत्रिमताकी जरा भी गंध नहीं थी । आप स्वभावसे

* इस दस्तुरका पता एक प्राचीन चीनी लेखकके लेखमें मिलता है (Ma-tsu-an-lin, cited in Ind. Ant. IX, 22 देखी विन्सेन्ट स्मिथकी अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया पृ १८ लिखता एक जैसा इस प्रकार है—

1 An ancient Chinese writer assures us that according to the laws of India, when a king dies, he is succeeded by his eldest son (Kumārārāja) the other sons leave the family and enter a religious life, and they are no longer allowed to reside in their native kingdom

मृगेश्वरमा, पात्रका रत्रिमा, प्रपात्रका हरिमा और पिताका नाम काकु-
त्स्थवर्मा था, क्योंकि काकुत्स्थवर्मा, मृगेश्वरमा और हरिमाके जो दान-
पत्र जनियों अथवा जैन मस्थाओंको दिये हुए इलमा और प्रेजयन्ती-
के मुकामोंपर पाये जाते हैं उनसे इस वंशपरम्पराका पता चलता है* ।
इसमें सदेह नहीं कि प्रार्चान कदम्बवशी राजा प्रायः सत्र जनी हुए हैं
और दक्षिण (बनरास) देशके राजा हुए हैं, परंतु इतने परम ही,
नामसाम्यके कारण, यह नहीं कहा जा सकता कि शातिवर्मा कदम्ब
और शातिवर्मा समतभद्र दोनों एक व्यक्ति थे । दोनोंको एक व्यक्ति
सिद्ध करनेके लिये कुछ विशेष साधनों तथा प्रमाणोंकी जरूरत है
जिनका इस समय अभाव है । हमारी रायमें, यदि समतभद्रने विवाह
कराया भी हो तो वे बहुत समय तक गृहम्याग्रममें नहीं रहे हैं, उन्होंने
जल्दी ही, थोड़ी अवस्थामें, मुनि दीक्षा धारण की है और तभी वे उस
असाधारण योग्यता और महत्ताको प्राप्त कर सके हैं जो उनकी कृतियों
तथा दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंमें उनके विषयके उल्लेखवाक्योंसे पाई
जाती है और जिसका दिग्दर्शन आगे चल कर कराया जायगा । ऐसा
माध्यम होता है कि समन्तभद्रने बाल्यावस्थासे ही अपने आपको जैन-
धर्म और जिनेन्द्र देवकी सेवाके लिये अर्पण कर दिया था, उनके प्रति
आपको नैसर्गिक प्रेम था और आपका रोम रोम उन्हींके ध्यान और
उन्हींकी वार्ताको लिये हुए था । ऐसी हालतमें यह आशा नहीं की
जा सकती कि आपने घर छोड़नेमें विलम्ब किया होगा ।

भारतमें ऐसा भी एक दस्तूर रहा है कि, पिताकी मृत्युपर राज्या-
सन सबसे बड़े बेटेको मिलता था, छोटे बेटे तब कुटुम्बको छोड़ देते

* देखो ' स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म ' नामकी पुस्तक, भाग दूसरा, पृष्ठ ८७ ।

पितृकुलकी तरह उनके गुरुकुलका भी प्रायः कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और न यह माह्रम होता है कि आपके दीक्षागुरुका क्या नाम था । स्वयं उनके ग्रंथोंमें उनकी कोई प्रशस्तियाँ उपलब्ध नहीं होती और न इससे विद्वानोंने हा उनके गुरुकुलके सम्बन्धमें कोई खास प्रकाश डाला है । हाँ, इतना जरूर माह्रम होता है कि आप 'मूलसंघ' के प्रधान आचार्योंमें से । विक्रमकी १४ वीं शताब्दीके विद्वान् कवि 'इतिमल्ल' और अव्यप्यार्य ने 'श्रीमूलसंघव्योमोन्दः' विशेषणके द्वारा आपको मूलसंघरूपी आचार्यका चंद्रमा लिखा है * । इसके सिवाय अथर्ववेदोक्तके कुछ श्लोकसे इतना पता और चकता है कि आप अमिह-बाह्य श्रुतकेकही उनके शिष्य चंद्रगुप्त चंद्रगुप्त मुनिके वंशज पद्मसिद्धि अपर नाम श्रीकोणकुन्दमुनिराज उनके वंशज उमास्वाति अपर नाम गुरुपिच्छाचार्य और गुरुपिच्छक शिष्य बलाकपिच्छ—इस श्रृंखला में आपकी वंशपरम्परामें हुए हैं । यथा—

श्रीमद्रस्सर्वतो यो हि मद्रबाहुरिति श्रुतः ।

भुवकेवल्लिनायपु चरमः परमो मुनिः ॥

चंद्रप्रकाशोम्बलमान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः ।

तस्य प्रमाबाहुनद्वयतामिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनां ॥

तस्यान्वये भूविदिते वभूध य पद्मनन्दिप्रथमामिधानः ।

श्रीकोणकुन्दादिमुनीश्वरास्त्यस्तत्संप्रमायुक्तवचरणार्द्धिः ॥

चंद्रगुप्तास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यश्चन्द्रोत्तरगुरुपिच्छः ।

अन्ये तत्संज्ञोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाश्रयपदार्थवेदी ॥

श्रीगुरुपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः ,

शिष्योऽजनिः पद्मनत्रयवर्तिकीर्तिः ।

ही धर्मात्मा थे और आपने अपने अन्तःकरणकी
होकर ही जिनदीक्षा * धारण की थी ।

दीक्षासे पहले आपकी शिक्षा या तो उरीयूरमें ही हुई है
वह कांची अथवा मदुरामें हुई जान पड़ती है । वे तीनों
उस वक्त दक्षिण भारतमें विद्याके सात केन्द्र थे और इन
जैनियोंके अच्छे अच्छे मठ भी मौजूद थे जो उस समय
विद्यालयों तथा शिक्षालयोंका काम देते थे ।

आपका दीक्षास्थान प्रायः कांची या उसके आसपासका
जान पड़ता है और कांची * ही—जिसे 'कांचीवरम्' भी कहते
आपके धार्मिक उद्योगोंकी केन्द्र रही माछूम होती है । आप
दिगम्बर साधु थे । 'कांचीयां नद्याटकोऽहं ×' आपके इस
भी यही ध्वनित होता है । कांचीमें आप कितनी ही बार
ऐसा उल्लेख + 'राजावलीकये' में भी मिलता है ।

* सम्मगर्क्षक और सम्मन्त्राणपूर्वक चिन्तावृत्ति सम्बन्ध करिकर्षक
'चिन्दीक्षा' कहते हैं । समन्तम्भने जिनेन्द्रदेवके चारित्र्य गुणकी अपनी
द्वारा न्यायविहित और अद्भुत उदबोधित पाया था, और इसी लिये वे
उसे धारण करके जिनेन्द्रदेवकी सभी सेवा और अधिकमें जीव
पणसे भी उनके इसी भावकी ध्वनि निकलती है—
एव ते पुण्यतस्तु चरितगुणमद्भुतोदयम् ।

जिने त्वयि सुप्रसन्नमयस स्थिता चन्द्र

—पुण्यतस्तुदयम्

देवकी सम्बन्धी जो असेतक पत्थरराजाओंके
दक्षिण-पश्चिमकी ओर ४२ मीलके दूरकेपर,
है ।

× वह पूरा पद्य अपने अन्तर्गत है ।

+ स्वामी स्वामी

चारिनचञ्चुरखिलावनिपालमौलि—,

मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः ॥

एवं महाचार्यपरपराया स्यात्कारमुद्रांकिततत्त्वदीपः ।

भद्रस्तमन्तादगुणतो गणीशस्तमन्तभद्रोऽजनि वादिर्मिहः ॥

शिलालेख न० ४० (१४) ।

इस शिलालेखमें जिस प्रकार चद्रगुप्तको भद्रवाहुका और बलाक-
पिच्छको उमास्वतिका शिष्य सूचित किया है उसी प्रकार समन्तभद्र,
अथवा कुन्दकुन्द और उमास्वति आचार्योंके विषयमें यह सूचित नहीं
किया कि वे किसके शिष्य थे । दूसरे * शिलालेखोंका भी प्रायः ऐसा ही
हाल है । और इससे यह मालूम होता है कि या तो लेखकोंको इन
आचार्योंके गुरुओंके नाम मालूम ही न थे और या वे गुरु अपने उक्त
शिष्योंकी कीर्तिकौमुदीके सामने, उस वक्त इतने अप्रसिद्ध हो गये
थे कि उनके नामोंके उल्लेखकी ओर लेखकोंका प्रवृत्ति ही नहीं हो
सकी अथवा उन्होंने उसकी कुछ जरूरत ही नहीं समझी । संभव है कि
उन गुरुदेवोंके द्वारा उनकी विशेष उदासीन परिणतिके कारण
साहित्यसेवाका काम बहुत कम हो और यही बात बादको समय
बीतने पर उनकी अप्रसिद्धिका कारण बन गई हो । परन्तु कुछ भी हो
इसमें सन्देह नहीं कि इस शिलालेखमें, और इसी प्रकारके दूसरे
शिलालेखोंमें भी, जिस ढंगसे कुछ चुने हुए आचार्योंके बाद
समन्तभद्रका नाम दिया है उससे यह बिजकुल स्पष्ट है कि स्वामी

* देखो 'इन्स्ट्रक्शन्स ऐंड ध्रुवणवेल्गोल' नामकी पुस्तक जिसे मिस्टर वी
लेविस राइसने सन् १८८९ में मुद्रित कराया था, अथवा उसका संशोधितसं-
स्करण १९२३ का छपा हुआ । शिलालेखोंके जो नये नंबर कोष्ठक आदिमें दिये
हैं वे इसी शोधित संस्करणके नम्बर हैं ।

आपका विशेष अनुशास तथा प्रेम था और उसमें आपने जो असाधारण योग्यता प्राप्त की थी वह विद्वानोंसे छिपी नहीं है। जकीनी 'सुति-विद्या' ही आपका अद्वितीय सम्प्रापित्यको अथवा शब्दोंपर आपके एकविपर्ययको सूचित करती है। आपकी निम्नी कृतियों अब तक उपलब्ध हुई हैं वे सब संस्कृतमें ही हैं। परंतु इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि दूसरी भाषाओंमें आपने प्रयत्न न की होगी, की जरूर है क्योंकि कनकी भाषाके प्राचीन कवियोंमें समीने, अपने कनकी कव्योंमें उत्कृष्ट कविके रूपमें आपकी मूरि मूरि प्रशंसा की है *। और तामिळ देशमें तो आप उत्पन्न ही हुए थे इससे तामिळ भाषा आपकी मातृभाषा थी। उसमें प्रयत्ननाका होना स्वाभाविक ही है। फिर भी संस्कृत भाषाके साहित्यपर आपकी अटक छाप थी। दक्षिण भारतमें अब कोटिके संस्कृत ज्ञानको प्रोत्थन, प्रोत्साहन और प्रसारण देनेवालोंमें आपका नाम खास तौरसे खिया जात है। आपके समयसे संस्कृत साहित्यके इतिहासमें एक शास्त्रयुगका प्रारंभ होता है x, और इसीसे संस्कृत साहित्यके इतिहासमें आपका नाम अमर है। सम्मुख ही आपकी विद्याके आखोकेसे एक बार सारा भारतवर्ष आलोकित हो चुका है। इसमें जिस समय बौद्धादिकोंका

* मैस्टर एच एच रामस्वामी आचार्य एम ए या अपनी 'सूचीका इव काव्य इतिहास' नामकी पुस्तकमें अम्बई परबैरियर जिल्ह पदकी भाषा उद्गा पृष्ठ ४ ९ के आधारेपर लिखते हैं कि दक्षिण भारतमें समतयका फिर न शिर्फ विरामपर सम्मदानके इतिहासमें ही तामिळ उत्कृष्ट साहित्यके इतिहासमें भी एक कास चुका अंकित करता है। यथा—

Saṃantibhadra's appearance in South India marks an epoch not only in the annals of Digambar Tradition but also in the history of Sanskrit literature.

x देखो हिन्दवी आरु कनकीय विरिपर तथा कनकीयविपरित ।

गुणादिपरिचय ।

ऊपरके शिलालेखमें 'गुणतो गणीशः' विशेषणके द्वारा समन्तभद्रको गुणोंकी अपेक्षा गणियोंका—सधाधिपति आचार्योका—ईश्वर (स्वामी) सूचित किया है । साथ ही, यह भी बतलाया है कि, 'आप समन्तात् भद्र' ये—बाहर भीतर सब ओरसे भद्ररूप* ये—अथवा यों कहिये कि आप भद्रपरिणामी ये, भद्रवाक् ये, भद्राकृति ये, भद्रदर्शन ये, भद्रार्थ ये, भद्रावलोकी ये, भद्रव्यवहारी ये, आर इस लिये जो लोग आपके पास आते थे वे भी भद्रतामें परिणत हो जाते थे । शायद इन्हीं गुणोंकी वजहसे दीक्षासमय ही, आपका नाम 'समन्तभद्र' रक्खा गया हो, अथवा आप बादको इस नामसे प्रसिद्ध हुए हों और यह आपका गुणप्रत्यय नाम हो । इसमें संदेह नहीं कि, समन्तभद्र एक बहुत ही बड़े योगी, त्यागी, तपस्वी और तत्त्वज्ञानी हो गये हैं । आपकी भद्रमूर्ति, तेज पूर्ण दृष्टि और सारगर्भित उक्ति अच्छे अच्छे मदनमस्तकोंको नतमस्तक बनानेमें समर्थ थी । आप सदैव ध्यानाध्ययनमें मग्न और दूसरोंके अज्ञान भावको दूर करके उन्हें सन्मार्गकी ओर लगाने तथा आत्मोन्नतिके पथ पर अप्रसर करनेके लिये सावधान रहते थे । जैनधर्म और जैन सिद्धान्तोंके मर्मज्ञ होनेके सिवाय आप तर्क, व्याकरण, छंद, अलंकार और काव्य-कोषादि प्रथोंमें पूरी तौरसे निष्णात थे । आपकी अलौकिक प्रतिभाने तात्कालिक ज्ञान और विज्ञानके प्राय सभी विषयों पर अपना अधिकार जमा लिया था । यद्यपि, आप संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़ी और तामिल आदि कई भाषाओंके पारंगत विद्वान् थे, फिर भी संस्कृत भाषा पर

* 'भद्र' शब्द कल्याण, मंगल, शुभ, श्रेष्ठ, साधु, मनोह, क्षेम, प्रसन्न और सानुकम्प आदि अर्थोंमें व्यवहृत होता है ।

छाया पड़ी हुई थी—आपका यथा श्रद्धामणिके गुप्त्य सर्वोपरि था—और वह आपके भी बड़े बड़े विद्वानों तथा गहान् आचार्योंके द्वारा निरोधार्थ किया गया है । जैसा कि, आजसे म्यारह सौ वर्ष पहलेके विद्वान्, महाश्विनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कवीनां गमकानां च वस्तीनां वाग्मिनामपि ।

ब्रह्मसामन्तमद्वीयं भूमिं पृष्ठामधीयते ॥ ४४ ॥

—वाग्मिपुराण ।

मत्तान् समंतमद्रकं इमं वादित्वं और कविवादि गुणोक्तं लोकने किन्ती धक थी विद्वानोंके हृदय पर इनका कितना सिक्का जमा हुआ था और वे वास्तवमें कितने अधिक महत्त्वको लिये हुए थे इन सब बातोंका कुछ अनुमान करनेके लिये भीच कुछ प्रमाणवाक्योंका उद्धरण किया जाता है—

(१) यद्योपरपरितके कर्ता और निरुपकी ११ वीं शताब्दीके विद्वान् महाकवि वादिराजसूरि, समंतमद्रको ' उत्कृष्टकाम्य माणिस्यो-
क्त रोहण (पर्वत) ' सूचित करते हैं और साथ ही यह मतलब करते हैं कि वे हमें सूक्तिरूपी लोकिक समूहको प्रदान करनेवाले हैं—

भीमस्समंतमद्राद्याः काव्यमाणिस्यरोहणाः ।

सन्तु नः संतोत्कृष्टाः सूक्तिरत्नोत्करप्रदाः ॥

(२) ' इन्द्रार्णव ' ग्रंथके रचयिता योगी श्रीहनुमच्छाचार्य, समंतमद्रको ' कवीन्द्रमास्वान् ' विशेषणके साथ स्मरण करते हुए, लिखते हैं कि जहाँ आप जैसे कवीन्द्र सूर्योंकी निर्मल सूक्तिरूपी

महाकवि प्रतीत हो वही ' कव्य ' कहते हैं । विद्वान्महत्त्व महत्त्वजनक और संकल्प-
शील भी वहीके नामान्तर हैं ।

प्रवल आतंक छाया हुआ था और लोग उनके नैरात्म्यवाद, शून्यवाद क्षणिकवादों से सिद्धान्तों से संतुष्ट थे—घबरा रहे थे—अथवा उन एकान्त गतों में पड़कर अपना आत्मपतन करने के लिये विमिश्र हो रहे थे उस समय दक्षिण भारत में उदय होकर आपने जो लोकसेवा की है वहाँ बड़े ही महत्त्व की तथा चिरस्मरणीय है। और उस लिये शुभचन्द्राचार्य ने जो आपको 'भारतभूषण' लिखा है वह बहुत ही युक्तियुक्त जान पड़ता है।

स्वामी समन्तभद्र, यद्यपि, बहुत से उत्तमोत्तम गुणों के स्वामी थे, फिर भी कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वागित्व नामके चार गुण आपमें असाधारण कोटि की योग्यता वाले थे—ये चारों ही शक्तियाँ आपमें खास तौर से विकास को प्राप्त हुई थीं—और इनके कारण आपका निर्मल यश दूर दूर तक चारों ओर फैल गया था। उस वक्त जितने राई, वागमो, कवि और गमक थे उन सब पर आपके यश की

१ समन्तभद्रो भद्रार्थो भद्रात् भारतभूषण ।—पांडवपुराण।

२ 'वादी विजयवाग्दत्ति'—जिसकी वचनप्रवृत्ति विजय की ओर हो उसे 'वादी' कहते हैं।

३ 'वाग्मी तु जनरजन'—जो अपनी वाक्पटुता तथा शब्दचातुरी से दूसरों को रंजित करने अथवा अपना प्रेमी बना लेने में निपुण हो उसे 'वाग्मी' कहते हैं।

४ 'कविनूतनसदर्भ'—जो नये नये संदर्भ—नई नई शैलिक रचनाएँ तयार करने में समर्थ हो वह कवि है, अथवा प्रतिभा ही जिसका उज्जीवन है, जो नाना-वर्णनाओं में निपुण है, कृती है, नाना अभ्यासों में कुशलबुद्धि है और व्युत्पत्तिमान (लौकिक व्यवहारों में कुशल) है उसे भी कवि कहते हैं, यथा—

प्रतिभोज्जीवनो नानावर्णना निपुण कृती ।

नानाभ्यासकुशलीयमति व्युत्पत्तिमान्कवि ।

—अलंकारचिन्तामणि ।

५ 'गमक कृतिभेदकः'—जो दूसरे विद्वानों की कृतियों के मर्म को समझने-वाला उनकी तहतक पहुँचनेवाला हो और दूसरों को उनका मर्म तथा रहस्य

समन्तमद्रादिमहाकवीचराः कुषादिविद्याजयलब्धकीर्तयः ।
मृतर्कान्तामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कविस्वकांक्षिणि ॥७॥

(५) भगवन्निसेनाचार्यने, आदिपुराणमें समन्तमद्रको वन्दन करते हुए, उन्हें ' महान् कविवेधा ' कवियोंको उत्पन्न करनेवाला मन्त्र विधाता अर्थात्, महाकवि-वधा जिन्हा है और यह प्रकट किया है कि उनके वचनरूपी वज्रपातसे कुम्भरूपी पर्यन्त सब सब हो गये थे ।—

नमः समन्तमद्राय महते कविवेधसे ।

यद्वचोवज्रपातेन निर्मिताः कुम्भराजयः ॥

(६) ब्रह्म अजितने, अपने हनुमन्चरित्रमें, समन्तमद्रका वन्दन करते हुए, उन्हें ' मन्त्ररूपी कुम्भरोंको प्रफुल्लित करनेवाला ' जिन्हा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि वे ' दुर्वादिपौष्टी ' वज्ररूपी साज (सुवर्ण) को मिटानेके लिये अद्वितीय मही पथि ' थे—उन्होंने कुषादिपौष्टी कटती हुई वायामिकापाको ही नष्ट कर दिया था—

जीवात्समन्तमद्रोऽसौ भव्यकैरवचन्द्रमाः ।

दुर्वादिसावकंहृनां धमनैकमहौपधिः ॥ १९ ॥

(७) ब्रह्मण्यलोचनके शिवाग्रसे न० १०५ (२५४) में, जो पृष्ठ संख्या १३२० का लिखा हुआ है, समन्तमद्रको ' अर्धामवचाकुश-रतिनाज ' विशेषणके साथ स्मरण किया है—अर्थात्, यह सूचित किया है कि समन्तमद्रकी सुन्दर उक्तियोंका समूह बाद्रीरूपी हस्तिपौष्टी वचनमें करनेके लिये वज्रकुशका काम देता है । साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि समन्तमद्रके प्रमाणसे यह संपूर्ण पुष्पी दुर्वादिपौष्टी वायसि भी स्थिर हो गई—उनकी कोई बात भी नहीं करता—

किरणें स्फुरायमान हो रही हैं वहाँ वे लोग खद्योत या जुगनूकी तरह ईसीको ही प्राप्त होते हैं जो योड़ेसे ज्ञानको पाकर उद्धत है—कविता करने लगते हैं—और इस तरहपर उन्होंने समतभद्रके मुकामलेमें अपनी कविताकी बहुत ही लघुता प्रकट की है—

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वता
स्फुरन्ति यन्नामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति सद्योतवदेव हास्यता,
न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥ १४ ॥

(३) अलकारचिन्तामणिमें, अजितसेनाचार्यने समतभद्रको नमस्कार करते हुए, उन्हें ‘ कविकुंजर ’ ‘ मुनिवद्य ’ और ‘ जनानन्द ’ (लोगोंको आनदित करनेवाले) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि मैं उन्हें अपनी ‘ वचनश्री ’ के लिये—वचनोंकी शोभा बढ़ाने अथवा उनमें शक्ति उत्पन्न करनेके लिये—नमस्कार करता हूँ—

श्रीमत्समन्तभद्रादिकविकुंजरसंचयम् ।
मुनिवद्यं जनानन्दं नमामि वचनश्रियै ॥ ३ ॥

(४) वरांगचरित्रमें, परवादि-दन्ति-पचानन श्रीवर्धमानसूरि समतभद्रको ‘ महाकवीश्वर ’ और ‘ सुतर्कशास्त्रामृतसारसागर ’ प्रकट करते हुए, यह सूचित करते हैं कि समतभद्र कुवादियों (प्रतिवादियों) की विद्यापर जयलाभ करके यशस्वी हुए थे । साथ ही, यह भावना करते हैं कि वे महाकवीश्वर मुझ कविताकाक्षीपर प्रसन्न होवें—अर्थात्, उनकी विद्या मेरे अन्तःकरणमें स्फुरायमान होकर मुझे सफल मनोरथ करें—

समन्तमद्रादिमहाकवीधराः कुषादिविद्यामयलम्बकीर्तयः ।

सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कविस्वकांक्षिभिः ॥७॥

(५) भगवन्मित्रसेनाभाषिने, आदिपुराणमें समंतमद्रको मम-
पूज्य करते हुए, उन्हें 'महान् कविवेधा' कवियोंको उत्पन्न करनेवाला
कर निभाया गया, महाकवि-महाराज जिन्हा है और यह प्रकट किया
है कि उनके बचनरूपी वक्रपातसे कुमतरूपी पर्यंत बड़ बड़ हो
गये थे ।—

नमः समन्तमद्राय महते कविवेधसे ।

बह्वचोवक्रपातेन निर्मिताः कुमतराः ॥

(६) हम अज्ञितने अपने हनुमन्त्रि में, समन्तमद्रका जप-
घोषे करते हुए, उन्हें मम्यरूपी कुमुतरोंको प्रफुल्लित करनेवाला
कर निभाया है और साथ ही यह प्रकट किया है कि वे 'दुर्वा-
दियोंकी वक्ररूपी बाज (झुंझी) को मिटानेके लिये अद्वितीय महौ-
घने' थे—उन्होंने कुषादियोंकी बहती हुई बाजामिछानावत् ही नष्ट
कर दिया था—

वीयात्समन्तमद्रोऽसौ मम्यकैरवचंद्रमाः ।

दुर्वादिवत्कर्कशनां धमनैकमहौघभिः ॥ १९ ॥

(७) मम्यकलीलके शिखरेन नं० १०५ (२५४) में, जो
संस्कृत १९२० का लिखा हुआ है, समंतमद्रको 'वार्दामवज्रकुश-
लिका' विशेषणके साथ स्मरण किया है—अर्थात् यह सूचित किया
है कि समंतमद्रकी सुन्दर उक्तियोंका समूह वादीरूपी हस्तियोंको बधने
करनेके लिये वज्रकुशका काम देता है । साथ ही यह भी प्रकट किया
है कि समन्तमद्रके प्रमाणसे यह सर्वपूर्ण पूर्ण दुर्वादियोंकी बातसि यी
मिहीन हो गई—उनकी कोई बात भी नहीं करता—

समन्तभद्रस्म चिराय जीया —

द्वादीभवज्जाकुगमृक्तिजालः ।

यस्य प्रभावात्सकलावनीय

वध्यास दुर्वादुर्ग्वार्त्तयापि ॥

इस पद्यके बाद, इसी शिलालेखमें, नीचे लिखा पद्य भी दिया हुआ है और उसमें समन्तभद्रके वचनोंको 'स्फुटरत्नदीप' की उपमा दी है और यह बतलाया है कि वह देदीप्यमान रत्नदीपक उस त्रैलोक्यरूपी सपूर्ण महलको निश्चित रूपसे प्रकाशित करता है जो स्यात्कारमुद्राको लिये हुए समस्तपदार्थोंसे पूर्ण है और जिसके अन्तराल दुर्वादकोंकी उक्तिरूपी अन्धकारसे आच्छादित हैं—

स्यात्कारमुद्रितसमस्तपदार्थपूर्णं

त्रैलोक्यहर्म्यमखिलं स खलु व्यनक्ति ।

दुर्वादुकोक्तितमसा पिहितान्तरालं

सामन्तभद्रवचनस्फुटरत्नदीपः ॥

४० वे शिलालेखमें भी, जिसके पद्य ऊपर उद्धृत किये गये हैं, समन्तभद्रको 'स्यात्कारमुद्राकिततत्त्वदीप' ओर 'वादिर्सिंह' लिखा है । इसी तरह पर श्वेताम्बरसम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीहरिभद्र-सूरिने, अपनी 'अनेकान्तजयपताका' में समन्तभद्रका 'वादिमुख्य' विशेषण दिया है और उसकी स्वोपज्ञ टीकामें लिखा है—“आह च वादिमुख्यः समन्तभद्रः ।”

(८) गद्यचिन्तामणिमें, महाकवि वादीभर्षिह समन्तभद्र मुनी-श्वरको 'सरस्वतीकी स्वच्छदविहारभूमि' लिखते हैं, जिससे यह सूचित होता है कि समन्तभद्रके हृदय-मंदिरमें सरस्वती देवी बिना

किसी रोक ठोकके पूरी आबादीके साथ बिचरती थी और इस लिये समस्तमद्र असाधारण विद्याके धनी थे और उनमें कश्चित् बाम्मिन्नादि शक्तिपूर्ण तथा थोड़ेके विकृतसम्बन्ध प्राप्त हुई थी यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है । साथ ही यह भी प्रकट करते हैं कि उनके बचनरूपी बज्रके निपात्यसे प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूपी पर्वतोंकी थोड़ियों खंड खंड हो गई थी—अर्थात् समस्तमद्रके आगे, बड़े बड़े प्रतिपक्षी सिद्धान्तोंका प्रायः कुछ भी गौरव नहीं रहा था और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादीजन ऊँचा मुँह करके ही सामने खड़े हो सकते थे—

सुरस्वस्तिस्वैरविहारमूमयः समन्तमद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।

बसन्ति बाम्मन्निपातपाटितप्रतीपराम्दान्तमहीधकोट्याः ॥

(९) अथर्ववेदसंग्रहके शिखाच्छेद नं० १०८ में, जो सन् १९५५ ई. में लिखा हुआ है और जिसका मया नंबर २५८ है,

समस्तमद्रके सूचित करते हैं कि समस्तमद्र ब्रह्मसिद्धिके बाद 'जिनशासनके प्रणेता' हुए हैं वे 'मद्रमूर्ति' थे और उनके बचनरूपी बज्रके कठोर पातसे प्रतिवादीरूपी पर्वत चूर चूर हो गये थे—कई प्रतिपक्षी उनके सामने नहीं खड़े हुए थे—

समन्तमद्रोज्ज्वलि मद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य ।

सदीयबाम्मन्जकठोरपातधर्मीपक्षर प्रतिवादिद्यैतान् ॥

(१०) समस्तमद्रके सामने प्रतिवादियोंकी—कुवादियोंकी क्या शक्ति होती थी और वे कैसे मद्र अथवा विपण्य और किङ्कर्तव्यविषय बन जाते थे इसका कुछ आभास अथर्व-विस्तारमणिमें उद्धृत लिये हुए निम्न दो पद्योंसे मिलता है—

कुवादिनः स्वकप्रवृत्तानां निकटे पश्योक्तयः ।

समन्तमद्रसत्त्वो पाहि पाहीति सूक्तयः ॥ ४-३१५

श्रीमत्समन्तभद्राख्ये महावादिनि चागते ।

कुवादिनोऽलिखन्भूमिमंगुष्ठैरानताननाः ॥ ५-१५६

पहले पद्यसे यह सूचित होता है कि कुवादीजन अपनी छियोंके निकट तो कठोर भाषण किया करते थे—उन्हें अपनी गर्वोक्तियाँ सुनाते थे—परन्तु जब समन्तभद्र यतिके सामने आते थे तो मधुर भाषा बन जाते थे और उन्हें ‘पाहि पाहि’—रक्षा करो, रक्षा करो, अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं, ऐसे सुन्दर मृदुगुच्छन ही कहते बनता था । और दूसरा पद्य यह बतलाता है कि जब महावादी समन्तभद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुमादि जन नीचा मुख काँके अँगूठोंसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे—अर्थात् उन लोगों पर—प्रतिवादियों पर समन्तभद्रका इतना प्रभाव पड़ता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्ण वदन हो जाते और कि कर्तव्यविमूढ़ बन जाते थे ।

(११) अजितसेनाचार्यके ‘अलकार-चिन्तामणि’ ग्रन्थमें और कवि हस्तिमल्लके ‘विक्रान्तकौरव’ नाटककी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

अवेदुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा ।

वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कयान्येषाम् ॥

इसमें यह बतलाया है कि वादी समन्तभद्रकी उपस्थितिमें, चतुराईके साथ स्पष्ट, शीघ्र और बहुत बोलनेवाले धूर्जटेकी जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिलमें घुस जाती है—उसे कुछ बोल नहीं आता—तो फिर

१ ‘जिनेन्द्रकल्याणभ्युदय’ ग्रन्थकी प्रशस्तिमें भी, जो शक सं० १२४१ में बनकर समाप्त हुआ है, यह पद्य पाया जाता है, सिर्फ ‘धूर्जटेर्जिह्वा’ के स्थानमें ‘धूर्जटेरपि जिह्वा’ यह पाठान्तर कुछ प्रतियोंमें देखा जाता है ।

इससे विद्वानोंकी तो कृपा ही क्या है ? तमकज अस्तित्व तो समंतमद्रके सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखता ।

इस पक्षसे भी समंतमद्रके सामने प्रतिवादियोंकी क्या हाजिर होती थी उसका कुछ बोध होता है ।

फिरने ही विद्वानोंने इस पक्षमें 'धूर्जटि'को 'महादेव' अथवा 'शिष्य'का पर्याय नाम समझा है और इस लिये अपने अनुवादमें उन्होंने 'धूर्जटि'की जगह महादेव तथा शिष्य नामोंका ही प्रयोग किया है । परंतु ऐसा नहीं है । मजे ही यह नाम, धूर्जटि, किसी व्यक्ति विशेषका पर्याय नाम हो, परंतु वह महादेव नामके उस अथवा शिष्य मद्रके हेतुका पर्याय नाम नहीं है । महादेव न तो समंतमद्रके सम-सम्बन्धित व्यक्ति थे और न समंतमद्रका उनके साथ कभी कोई सम्बन्ध या बाद ही हुआ । ऐसी हाजिरमें यहाँ 'धूर्जटि'से महादेवका अर्थ निकालना मूकसे जाही नहीं है । वास्तवमें इस पक्षकी रचना केवल समंतमद्रका महत्त्व क्यापित करनेके लिये नहीं हुई बल्कि उसमें समंतमद्रका वास्तविकताकी एक बात घटनाका उल्लेख किया गया है और उससे दो ऐतिहासिक तथ्योंका पता चलता है—एक तो यह कि समंतमद्रके समयमें 'धूर्जटि' नामका कोई बहुत बड़ा विद्वान् हुआ है, जो चतुर्मुखके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत शक्तिपूर्वक प्रसिद्ध था; उसका यह विशेषण भी उसके तत्कालिक व्यक्तिविशेष होनेको और अधिकताके साथ सुनिश्चित करता है; दूसरे यह कि, समंतमद्रका उसके साथ बाद हुआ, जिसमें वह शीघ्र ही निरुत्तर हो गया और उसे फिर कुछ बोध नहीं था ।

पक्षका यह आशय उसके उस प्राचीन रूपसे और भी व्यापक स्पष्ट हो जाता है जो, शक सं० १०५० में उत्कीर्ण हुए, मथुरा-

प्रशस्ति नामके ५४ वें (६७ वें) शिलालेखमें पाया जाता है और वह रूप इस प्रकार है—

अवदुततमटति श्रुति स्फुटपदुवाचाटधूर्जेटरपि जिह्वा ।

वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति तव सदसि भूप कास्थान्येपा ॥

इस पद्यमें 'धूर्जेटि' के बाद 'अपि' शब्द ज्यादा है और चौथे चरणमें 'सति का कयान्येपा' की जगह 'तव सदसि भूप का-स्थान्येपा' ये शब्द दिये हुए हैं । साथ ही इसका छंद भी दूसरा है । पहला पद्य 'आर्या' और यह 'आर्यागीति' नामके छंदमें है, जिसके समचरणोंमें बीस बीस मात्राएँ होती हैं । अस्तु, इस पद्यमें पहले पद्यसे जो शब्दभेद है उस परसे यह मालूम होता है कि यह पद्य समन्तभद्रकी ओरसे अथवा, उनकी मौजूदगीमें, उनके किसी शिष्यकी तरफसे, किसी राजसभामें, राजाको सम्बोधन करके कहा गया है । वह राजसभा चाहे वही हो जिसमें 'धूर्जेटि' को पराजित किया गया है और या वह कोई दूसरी ही राजसभा हो । पहली हालतमें यह पद्य धूर्जेटिके निरुत्तर होनेके बाद सभास्थित दूसरे विद्वानोंको लक्ष्य करके कहा गया है और उसमें राजासे यह पूछा गया है कि धूर्जेटि जैसे विद्वानकी ऐसी हालत होनेपर अब आपकी सभाके दूसरे विद्वानोंकी क्या आस्था है ? क्या उनमेंसे कोई वाद करनेकी हिम्मत रखता है ? दूसरी हालतमें, यह पद्य समन्तभद्रके वादार्भ समयका वचन मालूम होता है और उसमें धूर्जेटिकी स्पष्ट तथा गुरुरत पराजयका उल्लेख करके दूसरे विद्वानोंको यह चेतावनी दी गई है कि

१ दावणगेरे ताल्लुकके शिलालेख न० ९० में भी, जो चालुक्य विक्रमके ५३ वें वर्ष, कीलक सवत्सर (ई० सन् ११२८) का लिखा हुआ है, यह पद्य इसी प्रकार दिया है । देखो एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द ११ वीं ।

वे बहुत स्नेह समस्तकर बादमें प्रवृत्त हों । शिखरेष्वर्धमें इस पक्षके समस्तमद्रक बादारभ-समारभ समयकी उत्क्रियामें ही शामिल किया है * । परंतु यह पक्ष चाहे जिस राजसमामें कदा गया हो, इसमें संदेह नहीं कि इसमें जिस घटनाका उल्लेख किया गया है वह बहुत ही महत्त्वकी जान पड़ती है । ऐसा मान्य होता है कि पूर्वर्ति उस वक्त एक बहुत ही कटाक्षका प्रसिद्ध प्रतिवादी था जन्तवमें उसकी बड़ी धाक थी और वह समस्तमद्रके सामने घुरी तरहसे पराजित हुआ था । ऐसे महाबादीको लीलासात्रमें परास्त कर देनेसे समस्तमद्रका सिद्धा दूसरे विद्वानों पर और भी बढ़ावा बलित हो गया और तबसे यह एक कटाक्षवत्सी प्रसिद्ध हो गई कि ' पूर्वर्ति जैसे विद्वान् ही जब समस्तमद्रके सामने बादमें नहीं ठहर सकते तब दूसरे विद्वानोंकी क्या सामर्थ्य है जो उनसे बाद करें । '

समस्तमद्रकी बादशक्ति कितनी अप्रतिहत थी और दूसरे विद्वानोंपर उसका कितना अधिक सिद्धा तथा प्रभाव था, यह बात ऊपरके अब उरणोंसे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है फिर भी हम यहाँ पर इतना और कठका देना चाहते हैं कि समस्तमद्रका बाद-क्षेत्र संकुचित नहीं था । उन्होंने उसी देशमें अपने बादकी विजयबुद्धि नहीं बन्दई जिसमें । उत्पन्न हुए थे बल्कि उनकी बादप्रीति ज्योंकि अज्ञान मानको हूर करके उन्हें सम्मार्गीकी ओर लगानेकी छुम भावना और जैम सिद्धा-

* जैसा कि इस उक्तिनोके पहले दिने हुए निम्न वाक्यसे प्रकट है—

" बलेकविद्या विद्यान्वादारंघरंमविर्गुमिहामिहान्तव्यः कृतवः । "

† आचारेवक केटीमंथ में पूर्वर्तिके एक 'कवि' Poet लिखा है और कवि अर्थ विद्यावधो कहते हैं, जैसा कि इससे पहले ऊपरनोउये दिने हुए उरणे-

न्तोंके महत्त्वको विद्वानोंके हृदयपटलपर अकित कर देनेकी सुरुचि इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्होंने सारे भारतवर्षको अपने वादका लीलास्थल बनाया था । वे कभी इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करते थे कि कोई दूसरा उन्हें वादके लिये निमंत्रण दे और न उनकी मनःपरिणति उन्हें इस बातमें संतोष करनेकी ही इजाजत देती थी कि जो लोग अज्ञान भावसे मिथ्यात्वरूपी गतों (खड्डों) में गिरकर अपना आत्मपतन कर रहे हैं उन्हें वैसा करने दिया जाय । और इस लिये, उन्हें जहाँ कहीं किसी महावादी अथवा किसी बड़ी वादशालाका पता लगता था वे वहीं पहुँच जाते थे और अपने वादका डका* बजाकर विद्वानोंको स्वतः वादके लिये आह्वान करते थे । डकेको सुनकर वादीजन, यथानियम, जनताके साथ वादस्थानपर एकत्र हो जाते थे और तब समन्तभद्र उनके सामने अपने सिद्धान्तोंका बड़ी ही खूबीके साथ विवेचन करते थे और साथ ही इस बातकी घोषणा कर देते थे कि उन सिद्धान्तोंमेंसे जिस किसी सिद्धान्तपर भी किसीको आपत्ति हो वह वादके लिये सामने आजाय । कहते हैं कि समन्तभद्रके स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुले हुए तत्त्वभाषणको सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे और उन्हें उसका कुछ भी विरोध करते नहीं बनता था—यदि कभी

* उन दिनों समन्तभद्रके समयमें—फाहियान (ई० स० ४००) और ह्वेनत्संग (ई० स० ६३०) के कथनानुसार, यह दस्तूर था कि नगरमें किसी सार्वजनिक स्थानपर एक डका (मेरी या नक्कारा) रक्खा जाता था और जो कोई विद्वान् किसी मतका प्रचार करना चाहता था अथवा वादमें, अपने पाण्डित्य और नैपुण्यको सिद्ध करनेकी इच्छा रखता था वह, वादघोषणाके तौरपर, उस डकेको बजाता था ।

—हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर ।

कोई मनुष्य जाहंगीरके बस होकर अपना नासमझीके कारण कुछ विशेष सेवा करता था तो उसे शीघ्र ही निरुत्तर हो जाना पड़ता था । इस तरह पर, समस्तभारतके पूर्व पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, प्रायः सभी देशोंमें, एक अप्रतिद्वंद्वी सिंहासी तरह कीर्ति करते हुए, निर्भयताके साथ बहादुरीके लिये धूम हैं । एक बार आप धूमते हुए 'करहाण' मगरमें भी पहुँचे थे जिसे कुछ मित्रोंने सतारा जिन्हेका आधुनिक 'केन्हाव' या 'कराव' और कुछने दक्षिणमहाराष्ट्रकेसका 'कोरहापुर' नगर बतलाया है, और जो उस समय बहुतसे भटों (और योद्धाओं) से युक्त था, बियाख उलूठ खान था और साथ ही अल्प विस्तारवाला अपना बनाकीर्ण था । उस वक्त आपने वहाँके राजा पर अपने बादप्रयोजनको प्रकट करते हुए, उन्हें अपना उद्दिष्ट्यक जो परिचय एक पथमें, दिया था वह अण्णवेस्सोखके उक्त ५४ वें श्लोकेमें निम्न प्रकारसे संप्रणीत है—

पूर्वं पाल्लिपुत्रमभ्यनगरे मेरी मया ताहिता
पमान्मासपसिन्धुठ्ठविपये कांभीपुरे वैदिश ।
प्राप्तोऽहं करहाणकं बहुमटं विद्योत्तं संकटं
बादार्थी विपराम्यहं नरपते शालूखविक्रीदितं ॥

१ वंशो विस्तार एवमहं यो राजस यो ए एवित विस्तरो भावः क्यवीक
विद्वेधर पु १३ ।

२ वंशो विस्तार यो केविध एवमहं इति एवमहं ऐर अण्णवेस्सोख
वामकी पुस्तक पु ४९, परंतु इस पुस्तकके द्वितीय संशोधित संस्करणमें जिसे
बार परसिद्धाचार्ये उक्त्यत लिखा है, छविपञ्चारा कोरहापुर के स्थानमें
करहाव बगानेकी सूचना की गयी है ।

३ वह पथ वहा वैविधयके आराधनाकवाकोष में भी पाया जाता है
परंतु वह पथ विविधैक्ये की ही वही पीछेका क्या हुआ है ।

इस पद्यमें दिये हुए आत्म-परिचयसे यह मालूम होता है कि 'कर-हाटक' पहुँचनेसे पहले समन्तभद्रने जिन देशों तथा नगरोंमें वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलीपुत्र (पटना) नगर, मालव, (मालवा) सिन्धु तथा ठक्क (पजाव) देश, कांचीपुर (काजीवरम्), और वैदिश (मिलसा) ये प्रधान देश तथा जनपद थे जहाँ उन्होंने वादकी भेरी बजाई थी और जहाँ पर किसीने भी उनका विरोध नहीं

१ कनिष्क साहवने अपनी Ancient Geography (प्राचीन भूगोल) नामकी पुस्तक में 'ठक्क' देशका पजाव देशके साथ समीकरण किया है (S I J 30), मिस्टर लेविस राइस साहवने भी अपनी श्रवणवेल्लोल के शिलालेखोंकी पुस्तकमें उसे पजाव देश लिखा है । और 'हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' के लेखक मिस्टर ऐडवर्ड पी० राइस साहवने उसे In the Punjab लिखकर पजावका एक देश बतलाया है । परन्तु हमारे कितने ही जैन विद्वानोंने 'ठक्क' का 'ठक्क' पाठ बनाकर उसे बगाल प्रदेशका 'ठाका' सूचित किया है, जो ठीक नहीं है । पजावमें, 'अटक' एक प्रदेश है । समभव है उसीकी वजहसे प्राचीन कालमें सारा पजाव 'ठक्क' कहलाता हो, अथवा उस खास प्रदेशका ही नाम ठक्क हो जो सिन्धुके पास है । पद्यमें भी 'सिन्धु' के बाद एक ही समस्त पदमें ठक्कको दिया है इससे वह पजाव देश या उसका अटकवाला प्रदेश ही मालूम होता है—बगाल या ठाका नहीं । पजाव-के उस प्रदेशमें 'ठट्टा' आदि और भी कितने ही नाम इसी किसम के पाये जाते हैं । प्राक्तनविमर्षविचक्षण राव बहादुर आर० नरसिंहाचार एम० ए० ने भी ठक्कको पजाव देश ही लिखा है ।

२ विदिशाके प्रदेशको वैदिश कहते हैं जो दशार्ण देशकी राजधानी थी और जिसका वर्तमान नाम मिलसा है । राइस साहवने 'कांचीपुरे वैदिशे' का अर्थ to the out of the way Kanchi किया था जो गलत था और जिसका सुधार श्रवणवेल्लोल शिलालेखोंके संशोधित संस्करणमें कर दिया गया है । इसी तरह पर आप्यगर महाशयने जो उसका अर्थ in the far off city of Kanchi किया है वह भी ठीक नहीं है ।

किया था । साथ ही, यह भी माहूम होता है कि सबसे पहले जिस प्रधान नगरके मध्यमें आपने बाइबली बेरी बजाई थी वह 'पाटलीपुत्र' नामक शहर था जिसे आधुनिक 'पटना' कहते हैं और जो सम्राट् अशोक (मौर्य) की राजधानी रह चुका है ।

'राजावलीकये' नामकी कन्नड़ी ऐतिहासिक पुस्तकमें भी संक्षेप-मन्त्र यह सब आश्रमपरिचय दिया हुआ है—विशेषतः सिर्फ इतनी ॥ है कि उसमें करहाटकसे पहले 'कर्णाट' नामके देशका भी उल्लेख है, ऐसा मिस्टर जेम्स राइस साहब अपनी इन्सिक्लपेडिया ऐन्ड वर्राम केसोल्स' नामक पुस्तककी प्रस्तावनामें सूचित करते हैं । परन्तु इससे यह माहूम न हो सका कि राजावली कयेका वह सब परिचय केवल कन्नड़ीमें ही दिया हुआ है या उसके लिये उक्त संस्कृत पत्रका भी, प्रामाण्य रूपसे उल्लेख किया गया है । यदि वह परिचय केवल कन्नड़ीमें ही है तो तो इमरी बात है और यदि उसके साथमें संस्कृत पत्र भी लगा हुआ है जिसकी बहुत कुछ समाधान है, तो उसमें करहाटकसे पहले 'कर्णाट'का सम्बोधन नहीं बन सकता; ऐसा किये ज्ञान पर छंदो-मंग हो जाता है और गळती साफ तौरसे माहूम होने लगती है । हाँ, यह हो सकता है कि पत्रका तीसरा कारण ही उसमें 'कर्णाट' करहाटकके बहुमते विद्योत्कटे संकटे इस प्रकारसे लिखा हुआ हो । यदि ऐसा है तो यह

१ हमारी इस कल्पनाके बाद, बाबू छोटकाकजी लैण एम आर ए एच कल-कलाने 'कर्णाटक कम्पानुशासन की जेम्स राइस लिखित भूमिकाके आधार पर एक अपूर्णतः नोट लिखकर हमारे पास भेजा है । उसमें कल्पनामयक परिवर्तन, कई पत्र दिया है, और उसे 'राजावलीकये'का बताकरा है जिसमेंसे एक पत्र तो कल्पना बलवत्तरोह वाक्य है और बाकीका भाषा पत्र इस प्रकार है—

कनदि करहाटके बहुमते विद्योत्कटे संकटे
काचार्य विमलार संमतिदिन कारुण्यविशीलितम् ।

कहा जा सकता है कि वह उक्त पद्यका दूसरा रूप है जो करहाटकके बाद किसी दूसरी राजसभामें कहा गया होगा । परन्तु वह दूसरी राजसभा कौनसी थी अथवा करहाटकके बाद समतभद्रने और कहाँ कहाँ पर अपनी वादभेरी बजाई है, इन सब बातोंके जाननेका इस समय साधन नहीं है । हाँ, राजावर्लीकथे आदिसे इतना जरूर मालूम होता है कि समतभद्र कौशाम्बी, मणुवकहल्ली, लाम्बुश (?), पुण्ड्रोड्, दशपुर और वाराणसी (बनारस) में भी कुछ कुछ समय तक रहे हैं । परन्तु करहाटक पहुँचनेसे पहले रहे हैं या पीछे, यह कुछ ठीक मालूम नहीं हो सका ।

बनारसमें आपने वहाँके राजाको सम्बोधन करके यह वाक्य भी कहा था कि—

‘ राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी । ’
अर्थात्—हे राजन् मैं जैननिर्ग्रन्थवादी हूँ, जिस किसीकी भी शक्ति मुझसे वाद करनेकी हो वह सन्मुख आकर वाद करे ।

और इससे आपकी वहाँपर भी स्पष्ट रूपसे वादघोषणा पाई जाती है । परन्तु बनारसमें आपकी वादघोषणा ही होकर नहीं रह गई, बल्कि वाद भी हुआ जान पड़ता है जिसका उल्लेख तिरुमकूडल-

१ अलाहाबादके निकट यमुना तट पर स्थित नगर, यहाँ एक समय बौद्ध धर्मका वडा प्रचार रहा है । यह वत्सदेशकी राजधानी थी ।

२ उत्तर बंगालका पुण्ड्र नगर ।

३ कुछ विद्वानोंने ‘ दशपुर ’को आधुनिक ‘ मदसौर ’ (मालवा) और कुछने ‘ धौलपुर ’ लिखा है, परन्तु पम्परामायण (७-३५) में उसे ‘ उज्जयिनी ’ के पासका नगर मतलाया है और इसलिये वह ‘ मन्दसौर ’ ही मालूम होता है ।

४ यह ‘ काच्यां नमाटकोह ’ पद्यका चौथा चरण है ।

मरसीपुर वास्तुशिल्पके शिक्षाकेस मं० १०५ क निमपपस, जा शक सं० ११०५ कय शिक्षा हुआ है, पाया जाता है—

समन्वमहस्संस्तुत्यः कस्य न स्यान्नुनीयर* ।

वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्वृता येन विद्धिप ॥

इस पद्यमें लिखा है कि 'वे समन्तमग्न मुनीश्वर विन्हेने बारणसी (बनारस) के राजाके सामने शत्रुओंको—मिथैकान्तवासियोंको—परास्त किया है जिसके स्तुतिपात्र नहीं हैं । अर्थात्, सभीके द्वारा स्तुति किये जानेके योग्य है ।

समन्तमन्त्रने अपनी एक ही यात्रामें इन सब देखों तथा नगरोंमें परिभ्रमण किया है अथवा उन्हें उसके लिये अनन्त यात्राएँ करनी पड़ी हैं, इस बातका यद्यपि कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता फिर भी अनुमानसे और आपके जीवनकी कुछ घटनाओंसे यह अस्तर माखूम होता है कि आपको अपनी उद्देशसिद्धिके लिये एकसे अधिक बार यात्राके लिये उठना पड़ा है— ठीक से काशी पहुँच जाना और फिर वापिस वैदिक तथा ब्रह्मसूत्रके आना भी इसी यात्राके सूचित करता है। बनारस आप काशीसे चक्कर ही दशपुर होते हुए, पहुँचे थे।

समस्तभद्रके सम्बन्धमें यह भी एक उत्तरेष्ट सिद्ध है कि वे पद
विष्णु थे—वार्ण्य भक्तिसे युक्त थे—अर्थात् उन्हें तपके प्रभावसे चकनकी

[illegible]

ऐसी शक्ति प्राप्त हो गई थी जिससे वे, दूसरे जीवोंको बाधा न पहुँचाते हुए, शीघ्रताके साथ सैकड़ों कोस चले जाते थे । उस उल्लेखके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदार्द्धिकः ॥

—विक्रान्तकौरव प्र० ।

समन्तभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदार्द्धिकः ।

—जिनेन्द्रकल्याणभ्युदय ।

समन्तभद्रस्वामिगण्ड पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यर्दि

चतुरङ्गुलचारणत्वमं पडेदु . . ।

—राजावलीकथे ।

ऐसी हालतमें समन्तभद्रके लिये सुदूरदेशोंकी लम्बी यात्राएँ करना भी कुछ कठिन नहीं था । जान पड़ता है इसीसे वे भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें आसानीके साथ घूम सके हैं ।

समन्तभद्रके इस देशाटनके सम्बन्धमें मिस्टर एम. एस. रामस्वामी आर्यंगर, अपनी 'स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनियज्म' नामकी पुस्तकमें लिखते हैं—

“ It is evident that he (Samantbhadra) was a great Jain missionary who tried to spread far and wide Jain doctrines and morals and that he met with no opposition from other sects wherever he went.”

अर्थात्—यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनवर्मप्रचारक थे, जिन्होंने जैनसिद्धान्तों और जैन आचारोंको दूर दूर तक विस्तारके साथ फैलानेका उद्योग किया है, और यह कि जहाँ कहीं वे गये हैं

उन्हें दूसरे सम्प्रदायोंकी तरफसे किसी भी विरोधका सामना करना नहीं पड़ा ।

‘हिस्टरी आफ कलबीज डिटेनेयर’ के लेखक—कलबी साहित्यका प्रणेता सिद्धनेपाले—मिस्टर एडवर्ड पी० राइस साहब समंतभद्राके एक तेजपूर्ण प्रभावशाली बारी लिखते हैं और यह प्रकट करते हैं कि वे सारे भारतवर्षमें जैनधर्मका प्रचार करनेवाले एक महान् प्रचारक थे । साथ ही, यह भी सूचित करते हैं कि उन्होंने बादमरी बज्जनेके उस दस्ताने पूरा काम उठाना है, जिसका उल्लेख पीछे एक फुटनोटमें किया गया है और वे बड़ी शक्तिसे साथ जैनधर्मके ‘स्याद्वय-सिद्धान्त’ को पुनः करनेमें समर्प हुए हैं * ।

यहाँ तकके इस सब कथनसे स्वामी समंतभद्राके असाधारण गुणों, उनके प्रभाव और धर्मप्रचारके छिये उनके देशाटनका कितना ही एक ठो नज़र हो गया परंतु अभी तक यह महसूस नहीं हो सका के समंतभद्राके पास वह कौनसा मोहन-मंत्र था जिसकी बलसे वे

* He (Samantbhadra) was a brilliant disputant and a great preacher of the Jain religion throughout India .. It was the custom in those days, alluded to by Fa Hian (400) and Hiven Tsang (630) for a drum to be fixed in a public place in the city and any learned man, wishing to propagate a doctrine or prove his erudition and skill in debate, would strike it by way of challenge of disputation. Samantbhadra made full use of this custom, and powerfully maintained the Jain doctrine of Syadvada.

हमेशा इस बातके लिये खुशकिस्मत x रहे हैं कि विद्वान् लोग उनकी वादघोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणोंको चुपकेसे सुन लेते थे और उन्हें उनका प्राय कोई विरोध करते नहीं बनता था ।—वादका तो नाम ही ऐसा है जिससे ख्वाहमख्वाह विरोधकी आग भड़कती है, लोग अपनी मानरक्षाके लिये, अपने पक्षको निर्वल समझते हुए भी, उसका समर्थन करनेके लिये खड़े हो जाते हैं और दूसरेकी युक्तियुक्त बातको भी मान नहीं देते, फिर भी समतभद्रके साथमें ऐसा प्राय कुछ भी न होता था, यह क्यों ?—अवश्य ही इसमें कोई खास रहस्य है जिसके प्रकट होनेकी जल्दतर है और जिसको जाननेके लिये पाठक भी उत्सुक होंगे ।

जहाँ तक हमने इस विषयकी जाँच की है—इस मामले पर गहरा विचार किया है और हमें समतभद्रके साहित्यादिपरसे उसका अनुभव हुआ है उसके आधारपर हमें इस बातके कहनेमें जरा भी सकोच नहीं होता कि, समतभद्रकी इस सफलताका सारा रहस्य उनके अन्तःकरणकी शुद्धता, चरित्रकी निर्मलता और उनकी वाणीके महत्त्वमें सनिहित है, अथवा यों कहिये कि यह सब अंतःकरण तथा चारित्रकी शुद्धिको लिये हुए, उनके वचनोंका ही माहात्म्य है जो वे दूसरों पर अपना इस प्रकार सिक्का जमा सके हैं । समतभद्रकी जो कुछ भी वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब प्राय दूसरोंकी हितकामनाको ही लिये हुए होती थी । उसमें उनके लौकिक स्वार्थकी अथवा अपने अहंकारको पुष्ट करने और दूसरोंको नीचा दिखानेरूप कुत्सित

x मिस्टर आग्र्यगरने भी आपको 'ever fortunate' 'सदा भाग्यशाली' लिखा है । S in S I Jainism, 29

मातृनाम्नै रीष तत्र मी नहीं रखती थी। वे स्वयं सम्मार्ग पर भाग्य के
 और यह चाहते थे कि दूसरे लोग भी सम्मार्गको पहचानें और उस
 पर चढ़ना आरंभ करें। साथ ही, उन्हें दूसरोंको कुमार्गमें फँसा हुआ देख-
 कर बड़ा ही क्रोध* तथा क्रूर होता था और इस क्रिये उनका वाक्प्रयोग
 था उनकी इच्छाके अनुकूल ही रहता था और वे उसके द्वारा ऐसे
 लोगोंके उद्धारका अपनी शक्तिपर उपयोग किया करते थे। ऐसा मन्त्रम
 होता है कि स्वाग्रमद्विषासनके बाद दूसरोंका द्विषासन करना ही
 उनके क्रिये एक प्रधान कर्ष्य था और वे बड़ी ही योग्यताके साथ उसका
 संपादन करते थे। उनकी वाक्परिचयिता सदा क्रोधसे शून्य रहती थी,
 वे कभी किसीको अपराध नहीं करते थे न दूसरोंके अपराधोंसे उनकी
 शक्ति मंग होती थी; उनकी जीभोंमें कभी झुझी नहीं आती थी; हमेशा
 संतुष्ट तथा प्रसन्नबदन रहते थे। बुरी भावनासे प्रेरित होकर दूसरोंके
 व्यक्ति पर कटाक्ष करना उन्हें नहीं आता था और मधुरनाम्य तो
 उनकी प्रकृतिमें ही दाखिल था। यही वजह थी कि कठोर भाषण करनेवाले
 भी उनके सामने आकर मुहुमापी बन जाते थे, अपराधमन्त्रियोंके
 भी उनके छोटे बोल तक नहीं आता था और उनके 'वज्रपात'

* वापके इस श्लोकको प्रकट करनेवाले तीन पद्य मन्त्रोंके रीति पर इस
 प्रकार हैं—

मर्धागवभूतसमायमेव सचकन्तस्त्वन्तिरववत्कि ।

हृत्पद्मसिद्धोदरपुटिपुटैर्विन्नीमयीर्हा ! वृषपा मन्त्रमा ॥ ३५ ॥

खेऽमिदिदे अववादिहेती विविहता का प्रतिपन्नमेवेत् ।

स्वभासत कि न करत्त विद्वित्तावकन्तामपि हा । अपाता ॥ ३६ ॥

स्वधन्वद्वैर्गताः स्वभाषानुषीरवाचारवदेवहोव ।

निर्गुण हीष्ठाद्यमनुकिमन्त्रस्त्वत्पठितव्या वत् । विजयन्ति ॥ ३७ ॥

—गुण्यदिपरिचय ।

तथा 'वज्राकुश' की उपमाको लिये हुए वचन भी लोगोंको अप्रिय मात्तम नहीं होते थे ।

समतभद्रके वचनोंमें एक खास विशेषता यह भी होती थी कि वे स्याद्वाद न्यायकी तुलामें तुल्य हुए होते थे और इस लिये उनपर पक्षपातका मूल कभी सवार होने नहीं पाता था । समतभद्र स्वयं परीक्षा-प्रधानी थे, वे कदाग्रहको विलकुल पसंद नहीं करते थे, उन्होंने भगवान् महावीर तककी परीक्षा की है और तभी उन्हें 'आप्त' रूपसे स्वीकार किया है । वे दूसरोंको भी परीक्षाप्रधानी होनेका उपदेश देते थे—उनकी सदैव यही शिक्षा रहती थी कि किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्तको, बिना परीक्षा किये, केवल दूसरोंके कहनेपर ही न मान लेना चाहिये बल्कि समर्थ युक्तियोंद्वारा उसकी अच्छी तरहसे जाँच करनी चाहिये—उसके गुणदोषोंका पता लगाना चाहिये—और तब उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना चाहिये । ऐसी हालतमें वे अपने किसी भी सिद्धान्तको जबरदस्ती दूसरोंके गले उतारने अथवा उनके सिर मँढ़नेका कभी यत्न नहीं करते थे । वे विद्वानोंको, निष्पक्ष दृष्टिसे, स्व-पर सिद्धान्तों पर खुला विचार करनेका पूरा अवसर देते थे । उनकी सदैव यह घोषणा रहती थी कि किसी भी वस्तुको एक ही पहलूसे—एक ही ओरसे मत देखो, उसे सब ओरसे और सब पहलूओंसे देखना चाहिये, तभी उसका यथार्थ ज्ञान हो सकेगा । प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म अथवा अंग होते हैं—इसीसे वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी एक धर्म या अंगको लेकर सर्वथा उसी रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना एकान्त है, और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञानका विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है । स्याद्वादन्याय इसी एकान्तवादका निषेध

करता है; सर्वथा सत्-असत्-एक-अनेक-मित्य-अनित्यादि संपूर्ण एकान्तोपे-
विपक्षीभूत अनेकान्ततरण ही उसका विषय है । वह सप्तमर्ग तथा नवविष-
यको लिये रहता है और हेयादेयका विशेषक है उसका 'स्यात्' शब्द
वाक्योपे अनेकान्तताका घातक तथा गम्यका विशेषण है और वह
कर्मवित् 'आदि शब्दोंके द्वारा भी अभिविहित होता है । यथा—

वाक्येष्वनेकान्तघोषी गम्यं प्रति विशेषणं ।

स्याधिपातोऽर्थयोगित्वाच्च केवल्लिनामपि ॥ १०३ ॥

स्याद्वाद् सर्वमैकान्तस्यागात्किं ह्युच्यते ।

सप्तमगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ १०४ ॥

—देवात्मनः ।

जन्मी बोध्याके अनुसार, समेतमत्र प्रत्येक विषयके गुणदोषोंको स्याद्वाद्
पक्षकी कसौटी पर कसकर विद्वानोंके सामने रखते थे; वे उन्हें कत-
गते थे कि एक ही वस्तुत्वमें अमुक अमुक एकान्त पक्षोंके माननेसे

१ 'सर्वमैकान्तस्यागात्केवल्लिनामपि' अनेकान्तत्वकी अनेकान्तताका विशेषण
स्याद्वाद् । —देवात्मनः ।

२ स्वात्मित्व स्वात्मास्ति स्वावस्थित्यस्ति स्वावयवकम् स्वावस्थवयवकम्
स्वावस्थवयवकम् आर स्वावस्थित्यवयवकम् वे शब्द मय है किन्तु विशेष
स्वरूप तथा रहस्य भयमान् समेतमत्रके आसमीयाका अमक देवात्मनः
प्रथमे विद्या हुआ है ।

३ इत्यर्थिक—पर्यायार्थिकके विषयको लिये हुए देवता वंशह व्यवहार
वस्तुतः शब्द समग्रिक और एवमूत ऐसे लय मय है । इनमेंसे पहली तीस
इत्यर्थिक और शेष पर्यायार्थिक कही जाती है । इसी तरह पहली बार
अर्थिक और शेष तीस अवयवक कही जाती है । इत्यर्थिकको छह मिथ्य
तथा भूतार्थ और पर्यायार्थिकको अछह व्यवहार तथा अप्रत्यक्ष मय भी करते हैं ।
इन दोनों मित्युत स्वरूप 'वयवक' तथा 'श्लोकवर्ति' मयोंसे अथवा
वाहिये ।

क्या क्या अनिवार्य दोष आते हैं और वे दोष स्याद्वादन्यायको स्वीकार करनेपर अथवा अनेकान्तवादके प्रभावसे किस प्रकार दूर हो जाते हैं और किस तरहपर वस्तुतत्त्वका सामञ्जस्य बैठ जाता है * । उनके समझानेमें दूसरोंके प्रति तिरस्कारका कोई भाव नहीं होता था, वे एक मार्ग भूले हुएको मार्ग दिखानेकी तरह, प्रेमके साथ उन्हें उनकी त्रुटियोंका बोध कराते थे, और इससे उनके भाषणादिकका दूसरोंपर अच्छा ही प्रभाव पड़ता था—उनके पास उसके विरोधका कुछ भी कारण नहीं रहता था । यही वजह थी और यही सब मोहन मंत्र था, जिससे समतभद्रको दूसरे संप्रदायोंकी ओरसे किसी खास विरोधका सामना प्रायः नहीं करना पड़ा और उन्हें अपने उद्देश्यमें अच्छी सफलताकी प्राप्ति हुई ।

यहाँपर हम इतना और भी प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि समतभद्र स्याद्वादविद्याके अद्वितीय अधिपति थे, वे दूसरोंको स्याद्वाद

* इस विषयका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये समतभद्रका ' आसमी-मांसा ' नामक ग्रंथ देखना चाहिये, जिसे ' देवागम ' भी कहते हैं । यहाँपर अद्वैत एकांतपक्षमें दोषोद्भावन करनेवाले आपके कुछ पद्य, नमूनेके तौरपर, नीचे दिये जाते हैं—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।

कारकाणां क्रियायाश्च नैक स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥

कर्मद्वैत फलद्वैत लोकद्वैत च नो भवेत् ।

विद्याविद्याद्वयं न स्यादन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेदद्वैत स्यादेतुसाध्यो ।

हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैत वाङ्मात्रतो न किं ॥ २६ ॥

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना ।

संज्ञिनं प्रतिषेधो न प्रतिषेध्याहते कश्चित् ॥ २७ ॥

मार्गपर बहनेका उपदेश ही न गेते ये बस्ति उन्होंने स्वयं अपने जीव
नको स्वाहादके रंगमें पूरी तौरसे रंग किया था और वे उस मार्गके
सबसे लम्बा पूरे अनुयायी थे * । उनकी प्रत्येक बात अपना क्रियासे
अनेकान्तकी ही ध्वनि निकलती थी और उनके चारों ओर अनेकान्तका
ही साम्राज्य रहता था । उन्होंने स्वाहादको जो विस्तृत विस्तार या शामि-
यन बना रखा था उसकी छत्रछायाके नीचे सभी लोग अपने मज्जान
को मिलाते हुए, सुखसे विश्राम कर सकते थे । वास्तवमें समस्तम
त्रके द्वारा स्वाहाद विघात बहुत ॥ ज्यादा विकसित हुआ है । उन्होंने
स्वाहादस्यात्मको जो विचार और व्यवस्थित रूप दिया है वह उनसे
पहलेके किसी भी ग्रंथमें नहीं पाया जाता । इस विषयमें, आपका
आत्ममीमांसा नामका ग्रंथ, जिसे 'देवागम' स्तोत्र भी कहते हैं,
एक सात तथा अष्टम ग्रंथ है । जैनसाहित्यमें उसकी जोड़का दूसरा
कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता । ऐसा मान्य होता है कि समस्तमत्रसे
पहले जैनधर्मकी स्वाहाद विघात बहुत कुछ छुट हो चुकी थी जन्ता उससे
प्रायः अन्तर्निष्ठ थी और इससे उसका जन्ता पर कोई प्रभाव नहीं था ।
समस्तमत्रने अपनी असाधारण प्रतिभासे उस विघातको पुनर्जीवित किया
और उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है । इसीसे विद्वान् लोग

* महाकविकेवने जी समस्तमत्रको स्वाहाद मार्गके प्रतिपादक उपदेशक
किया है । साय ही मन्वीककोकमवच (मन्वीककोकि किने अक्षितीय मेर)
वह उनका अपना स्वाहादमार्गका विशेषण दिया है—

जीकर्ममालमकककममिचममपाधरविमपुममममिचम मुनी ।

मन्वीककोकमवच प्रतिपादकमम स्वाहादमार्ग परिलोमि समस्तमत्रम् ॥

—महवती ।

जीमियालदायने जी पुनर्वसुकावकी दीक्षाके अन्तमें 'स्वाहादमार्ग' की
विशेषणके द्वारा आपको स्वाहाद मार्गका अनुयायी किया है ।

आपको 'स्याद्वादविद्याप्रगुरु,' 'स्याद्वादविद्याधिपति' 'स्याद्वादशरीर' और 'स्याद्वादमार्गाग्रिणी' जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण करते आए हैं । परन्तु इसे भी रहने दीजिये, आठवीं शताब्दीके तार्किक विद्वान्, भट्टकलक-देव जैसे महान् आचार्य लिखते हैं कि 'आचार्य समन्तभद्रने सपूर्ण-पदार्थतत्त्वोंको अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि-तीर्थको, इस कलिकालमें, भव्य जीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिये प्रभावित किया है—अर्थात्, उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है । यथा—

तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधे—

भव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ ।

येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः संततं

कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः ॥

यह पद्य भट्टकलककी 'अष्टशती' नामक वृत्तिके मंगलाचरणका द्वितीय पद्य है, जिसे भट्टकलकने, समन्तभद्राचार्यके 'देवागम' नामक भगवत्स्तोत्रकी वृत्ति (भाष्य) लिखनेका प्रारंभ करते हुए, उनकी स्तुति और वृत्ति लिखनेकी प्रतिज्ञा रूपसे दिया है । इसमें समन्तभद्र और उनके वाङ्मयका जो सक्षिप्त परिचय दिया गया है वह बड़े ही महत्त्वका है । समन्तभद्रने स्याद्वादतीर्थको कलिकालमें प्रभावित

१ लघुसमन्तभद्रकृत 'अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटीका' ।

२ वसुनद्याचार्यकृत देवागमवृत्ति । ३ धीविद्यानदाचार्यकृत अष्टसहस्री ।

४ नगर ताल्लुका (जि० शिमोगा) के ४६ वें शिलालेखमें, समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका भाष्य लिखनेवाले अकलक-देवको 'महर्द्धिक' लिखा है ।

यथा—

जीयात्समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिन ।

स्तोत्रस्य भाष्य कृतवानकलको महर्द्धिक ॥

क्रिया, इस परिचयके 'कठिक्कळमें' (कठे कळी) शब्द बास
 तीस ध्यान देने योग्य हैं और उनसे दो अर्थोंकी ज्ञानि निकळती है—
 एक तो यह कि, कठिक्कळमें स्थाप्यतीर्थको प्रमाणित करना बहुत
 कठिन कार्य था, समंतमद्रने उसे पूरा करके निःसन्देह एक ऐसा
 कठिन कार्य किया है जो दूसरोंसे प्राप्त नहीं हो सकता था
 तथा नहीं हो सक्त था; और दूसरा यह कि, कठिक्कळमें
 समंतमद्रसे पहले उक्त तीर्थकी प्रमाणा—महिमा या तो हुई नहीं थी,
 १ वह होकर सुसंप्राप्त हो चुकी थी और या वह कभी उठनी और
 रने महत्त्वकी नहीं हुई थी जितनी और जितने महत्त्वकी समंतम
 के द्वारा उनके समयमें, हो सकी है । पहले अर्थमें किसीको प्राप्त
 छ भी विशद नहीं हो सकता—कठिक्कळमें जब कठुवाचपकी वृद्धि
 ० गती है तब उसके कारण अच्छे कामोंका प्रभावित होना कठिन
 हो ही जाता है—स्वयं समंतमद्राचार्यने यह सुचित करते हुए कि
 आश्वीर महाबानके अनेकान्तःप्रमक शासनमें एकविपत्तिरूपी कस्मी-
 छ स्वामी होनेकी शक्ति है, कठिक्कळको भी उस शक्तिके अपवादका
 —एकविपत्ति प्राप्त न कर सकनेका—एक कारण माना है । यद्यपि
 कठिक्कळ उसमें एक साधारण व्याघ्र कारण है, असाधारण कारणमें
 उन्होंने श्रोताभोक्त कल्पित आश्रय (दर्शनमोहाप्रान्त विच) और
 प्रवक्त (आचार्य) का वचमानस्य (वचनका अप्रसृत्य निरपेक्ष नयके

१ एकविपत्तिरूपी शरीरवत्त्वाजवर्गीकृतम् —इति विधानम् ।

सभी विपत्ति अथवा आश्रय ग्रहण करें, ऐसे एक स्वामीपनेकी एकविपत्ति
 या एकविपत्ति करते हैं ।

२ वचनमोहाप्रान्तः आचार्य कठिक्कळ काठः —इति विधानम् ।

३ जो मन् परस्पर अपेक्षाहित हैं वे विष्णु हैं और जो अपेक्षामहित हैं वे
 शम्भु अथवा वस्तुतः कहलाती हैं । इसीसे स्वामी समंतमद्रने कहा है—

विरपेक्षा तथा विष्णु अपेक्षा वस्तु तेजर्वाङ्गम् —वेदान्तम् ।

साथ व्यवहार) ही स्वीकार किया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि कलिका-
लमें उस शासनप्रचारके कार्यमें कुछ बाधा डालनेवाला—उसकी
सिद्धिमें कठिन और जटिल बना देनेवाला—जखूर है । यथा—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥ ५ ॥

—युक्त्यनुशासन ।

स्वामी समन्तभद्र एक महान् वक्ता थे, वे वचनानयके दोषसे बिल्कुल रहित थे, उनके वचन—जैसा कि पहले जाहिर किया गया है—
स्याद्वादन्यायकी तुल्यमें तुल्य हुए होते थे, विकार हेतुओंके समुपस्थित
होने पर भी उनका चित्त कभी विकृत नहीं होता था—उन्हें क्षोभ या
क्रोध नहीं आता था—और इस लिये उनके वचन कभी मार्गका
उल्लंघन नहीं करते थे । उन्होंने अपनी आत्मिक शुद्धि, अपने चारित्र्य-
बल और अपने स्तुत्य वचनोंके प्रभावसे श्रोताओंके कलुषित आशय
पर भी बहुत कुछ विजय प्राप्त कर लिया था—उसे कितने ही अशोंमें
बदल दिया था । यही वजह है कि आप स्याद्वादशासनको प्रतिष्ठित
करनेमें बहुत कुछ सफल हो सके और कलिकाल उसमें कोई विशेष
बाधा नहीं डाल सका । वसुनन्दि सैद्धान्तिकने तो, आपके मतकी—
शासनकी—वदना और स्तुति करते हुए, यहाँ तक लिखा है कि उस
शासनने कालदोषको ही नष्ट कर दिया था—अर्थात् समन्तभद्र मुनिके
शासनकालमें यह माहूम नहीं होता था कि आज कल कलिकाल
बीत रहा है । यथा—

लक्ष्मीभृत्परमं निरुक्तिनिरतं निर्वाणसौख्यप्रदं
कुज्ञानातपवारणाय विधृतं छत्रं यथा भासुर ।

सम्मानैर्नययुक्तिमौक्तिकफलेः संशोभमानं परं
बन्दे तद्वत्कालदोषममर्त्तं सामन्तमर्त्तं मतम् ॥२॥

—वेदान्तमणि ।

इस पदमें समन्तमर्त्तके 'मत्'को, कस्मीमृत, परम, निर्वाणसौख्य-
र, इत्यादि शब्दों और अमर्त्त आदि विशेषणोंके साथ स्मरण करते
ए, जो देखीयमान अमर्त्त उपमा दी गई है वह कहीं ही इत्य
आदिणी है, और उससे मायूम होता है कि समन्तमर्त्तका शासनछत्र
अम्यन्त्रानों, पुनर्त्तों तथा मुमुक्षुओं रूपी मुमुक्षुओंसे संशोभित है और वह
उसे धारण करनेवालेके कुञ्जानरूपी आतापको मिला देनेवाला है । इस
उपमाधनसे स्पष्ट है कि समन्तमर्त्तका स्याद्वाद्शासन बड़ा ही प्रभाव
पट्टी था । उसके तेजके सामने अमर्त्त ही कश्चित्कालके तेज मंद पड़
गया था, और इनछिये कश्चित्कालमें स्याद्वाद्तीर्थको प्रमादित करमा, यह
समन्तमर्त्त ही एक बात कम था ।

दूसरे अर्थके सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही मान लेना ज्यादा अच्छा
मायूम होता है कि समन्तमर्त्तसे पहले स्याद्वाद्तीर्थकी महिमा सुस्पष्ट हो
गई थी, समन्तमर्त्तने उसे पुनः संशोभित किया है, और उसमें असाधारण
बल तथा शक्तिका संचार किया है । अमर्त्तबेसोखके निज शिवालयसे
भी ऐसा ही ध्वनित होता है जिसमें यह सूचित किया गया है कि मुनिबंधके
नापक आचार्य समन्तमर्त्तके द्वारा सर्वहितकारी जैनमार्ग (स्याद्वाद्मार्ग)
इस कश्चित्कालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ है—अर्थात् उसका प्रभाव सर्वत्र
व्याप्त होनेसे वह सबका हितकरवाला और सबका प्रेमपात्र बना है—

“ आचार्यस्य समन्तमर्त्तगणसुधेनेहकाले फली

जैनं कर्म समन्तमर्त्तमयमर्त्तं समन्ताद्गुह्यम् ॥”

—५४ वीं श्लोकसे ।

इसके सिनाय चन्नरायपट्टण ताल्लुकेके कनडी शिलालेख न० १४९ में, जो शक स० १०४७ का लिखा हुआ है, समन्तभद्रकी वाक्यत यह उल्लेख मिलता है कि वे 'श्रुतकेवलि-सतानको उन्नत करनेवाले और समस्त पिदाओंके निधि थे।' यथा—

श्रुतकेवलिगलु पलवरुम्
अतीतर आद् इम्बलिके तत्सन्तानो— ।
न्नतिपं समन्तभद्र—
न्नतिपर तलेन्दरु समस्तविद्यानिधिगल् ॥

और बेलूर ताल्लुकेके शिलालेख न० १७ में भी, जो रामानुजाचार्य-मंदिरके अहातेके अन्दर सोम्य नायकी-मंदिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्तीर्ण होनेका समय शक स० १०५९ दिया है, ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवलियों तथा और भी कुछ आचार्योंके बाद समन्तभद्रस्वामी श्रीवर्द्धमानस्वामीके तीर्थकी—जैनमार्गकी—सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए । यथा—

श्रीवर्द्धमानस्वामिगलु तीर्थदोलु केवलिगलु ऋद्धिप्राप्तं
श्रुतिकेवलिगलुं पलरुं सिद्धसाध्यर् आगे तत् । त्थ्यमं सह-
स्रगुणं माडि समन्तभद्र-स्वामिगलु सन्दर् ।

इन दोनों उल्लेखोंसे भी यही पाया जाता है कि स्वामी समन्तभद्र इस कलिकालमें जैनमार्गकी—स्याद्वादशासनकी—असाधारण उन्नति

१, २ देखो 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका' जिल्द पाँचवीं (E C, V)

३ इस अंशका लेविस राइसकृत अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—Increasing that doctrine a thousand fold Samantabhadra swami arose

करनेवाला हुए हैं। नगर सामुद्रिके १५ वें शिखरके समे, भद्रबाहुके मध्य कक्षिकालके प्रवेशके सुनित करते हुए, आपकी 'कसिकाउमण पर' और 'दासकर्त्ता' लिखा है। अस्तु।

समंतभद्रने जिस स्थापत्यशास्त्रके कक्षिकालके प्रमाणित किया है उसे महाकालके देवने, अपने उक्त पत्रमें, 'पुण्योदधि' की उपमा दी है। साथ ही, उसे 'तार्य' लिखा है और यह प्रकट किया है कि यह मध्यकीर्णके आन्तरिक मध्यको दूर करनेवाला है और इसी उद्देश्यसे प्रमाणित किया गया है। महाकालके यह सब लेख समंतभद्रके उस बचनकीर्णके अन्त्य करके ही लिखा गया है जिसका भाष्य लिखनेके लिये आप उस बह दत्तात्रयान थे और जिसके प्रभावसे 'पात्रकेसरी' जैसे प्रसन्न चार्मिक विद्वान् भी जैनधर्मको धारण करनेमें समर्थ हो सके हैं।

महाकालके इस सब कथनसे समंतभद्रके बचनोंका अद्वितीय महत्त्व प्रकट होता है। वे प्रौढत्व, उदारता और अर्पणभावके लिये हुए होनेके अतिरिक्त कुछ दूसरी ही महीमासे सम्पन्न थे। इसीसे बड़े बड़े जात्रायों तथा विद्वानोंने आपके बचनोंकी महिमाका खुला गान किया है। नीचे उचित कुछ नमून और दिये गये हैं, जिनसे पाठकोंको समंतभद्रके बचनमाहत्म्यके समझने और अनेक गुणोंका विशेष अनुभव प्राप्त करनेमें और भी ज्यादा सहायता मिल सकेगी। साथ ही, यह भी गम्य हो सकेगा कि सम-

५

१ यह लिखावट एक सं ५९९ का किया हुआ है (E. C VIII)
इसका एक सम्बन्धितके अन्तर पर बहुत किया जायगा।

२ यह लिखावट स्वामीका नामान्तर है। आप पहले अक्षय थे, 'देवाक्षय' को हुबकर आपकी भद्रा बह बही और आपसे वैजयन्ती नामान्तर भी।

इसके सिवाय चन्नरायपट्टण ताल्लुकेके कनड़ी शिलालेख न० १४९ में, जो शक स० १०४७ का लिखा हुआ है, समन्तभद्रकी वावत यह उल्लेख मिलता है कि वे 'श्रुतकेवल्लि-सतानको उन्नत करनेवाले और समस्त विद्याओंके निधि थे।' यथा—

श्रुतकेवल्लिगल्लु पलवरुम्
अतीतर् आद् इम्बलिके तत्सन्तानो— ।
न्नतियं समन्तभद्र—
न्नतिपर तलेन्दरु समस्तविद्यानिधिगल्ल ॥

और बेल्हूर ताल्लुकेके शिलालेख न० १७ में भी, जो रामानुजा-चार्य-मंदिरके अहातेके अन्दर सोम्य नायकी-मंदिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्तीर्ण होनेका समय शक स० १०५९ दिया है, ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवल्लियों तथा और भी कुछ आचार्योंके बाद समन्तभद्रस्वामी श्रीवर्द्धमानस्वामीके तीर्थकी—जैनमार्गकी—सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए । यथा—

श्रीवर्द्धमानस्वामिगल्लु तीर्थदोलु केवल्लिगल्लु ऋद्धिप्राप्तं
श्रुतिकेवल्लिगल्लु पल्लं सिद्धसाध्यर् आगे तत् .. त्थ्यमं सह-
स्रगुणं माडि समन्तभद्र-स्वामिगल्लु सन्दर ।

इन दोनों उल्लेखोंसे भी यही पाया जाता है कि स्वामी समन्तभद्र इस कलिकालमें जैनमार्गकी—स्याद्वादशासनकी—असाधारण उन्नति

१, २ देखो 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका' जिल्द पाँचवीं (E C, V)

३ इस अशका लेविस राइसकृत अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—Increasing that doctrine a thousand fold Samantabhadra swami arose

करनेवाला हुए हैं। अगर सामुद्रिक ३५ नं० सिद्धांतिका में, मद्रवाहुके बाद कठिकारणक प्रवेशको सूचित करते हुए, आपको 'कठिकारणगण-पर' और 'शास्त्रकर्त्ता' लिखा है। अस्तु।

समस्तमद्रने जिस स्थापनाशासनका कठिकारणमें प्रमाणित किया है उस मद्रकणकेबने, अपने उक्त पद्यमें, 'पुष्पौरधि' की उपमा दी है। साथ ही, उसे 'तीर्थ' लिखा है और यह प्रकट किया है कि यह मध्यजीर्णिक आन्तरिक मसखे दूर करनेवाला है और इसी ठोससे प्रमाणित किया गया है। मद्रकणकेका यह सब केका समस्तमद्रके उस बचनतीर्थको कल्प करके ही लिखा गया है जिसका माध्य सिद्धनेके लिये आप उस बह दत्तावधान थे और जिसके प्रमाणसे 'पद्मेक्षरी' जैसे प्रचार पार्थिक निदान भी जैनधर्मको धारण करनेमें समर्थ हो सके हैं।

मद्रकणके इस सब कारणसे समस्तमद्रके बचनोंका अतिरिक्त महत्त्व प्रकट होता है। ने प्रौढत्व, उदारता और अर्थगौरवको लिये हुए होनेके अतिरिक्त कुछ दूसरी ही महत्त्वसम्पन्न थे। इसीसे बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने आपके बचनोंकी महत्त्वाकांक्षा गान किया है। नीचे उसीके कुछ मूल्य और दिये जाते हैं, जिनसे पाठकोंको समस्तमद्रके बचनमहत्त्वको समझने और अनेक गुणोंका विशेष अनुभव प्राप्त करनेमें और भी व्यावहारिकता मिल सकेगी। साथ ही, यह भी महत्त्व हो सकेगा कि सम-

१ यह सिद्धांतिक धातु सं० १११ का लिखा हुआ है (E. C., VIII) इसका अर्थ समस्तनिर्णयके अन्तर पर उद्धृत किया जाना है।

२ यह सिद्धांतिक स्थायीका सामान्य है। आप पहले अर्थ में 'वेदात्म' को लेकर अन्तरकी अन्त करके ही और आपने वैशदीक्षा धारण की।

तभद्रकी वचनप्रवृत्ति, परिणति और स्याद्वादविद्याको पुनरुज्जीवित करने आदिके विषयमें ऊपर जो कुछ कहा गया है अथवा अनुमान किया गया है वह सब प्राय ठीक ही है ।

नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्था—

दुद्धर्तु नेतुमुच्चैः पदममलमलं मंगलानामलंघ्यं ।

स्याद्वादन्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचःस्वामिनोदः,

प्रेक्षाचत्वात्प्रवृत्तं जयतु विषट्तिताशेषमिथ्याप्रवादं ॥

—अष्टसहस्री ।

इस पद्यमें, विक्रमकी प्राय ९ वीं शताब्दीके दिग्गज तार्किक विद्वान्, श्रीविद्यानन्द आचार्य, स्वामी समतभद्रके वचनसमूहका जय-घोष करते हुए, लिखते हैं कि स्वामीजीके वचन नित्यादि एकान्त गतोंमें पड़े हुए प्राणियोंको अनर्थसमूहसे निकालकर उस उच्च पदको प्राप्त करानेके लिये समर्थ हैं जो उत्कृष्ट मंगलात्मक तथा निर्दोष है, स्याद्वादन्यायके मार्गको प्रथित करनेवाले हैं, सत्यार्थ हैं, परीक्षापूर्वक प्रवृत्त हुए हैं अथवा प्रेक्षावान्—समीक्ष्यकारी—आचार्य महोदयके द्वारा

१ वस्तु सर्वथा नित्य ही है, कूटस्थवत् एक रूपतासे रहती है—इस प्रकारकी मान्यताको 'नित्यैकान्त' कहते हैं और उसे सर्वथा क्षणिक मानना—क्षणक्षणमें उसका निरन्वयविनाश स्वीकार करना—'क्षणिकैकान्त' बाद कहलाता है । 'देवा-गम' में इन दोनों एकान्तवादोंकी स्थिति और उससे होनेवाले अनर्थोंको बहुत कुछ स्पष्ट करके बतलाया गया है ।

२ यह स्वामी समन्तभद्रका विशेषण है । युक्त्यनुशासनकी टीकाके निम्न पद्यमें भी श्रीविद्यानदाचार्यने आपको 'परीक्षेक्षण' (परीक्षादृष्टि) विशेषणके साथ स्मरण किया है और इस तरह पर आपकी परीक्षाप्रधानताको सूचित किया है—

श्रीसद्दीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्र परीक्षेक्षणै

साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्व समीक्षयाखिल ।

प्रोक्त युक्त्यनुशासन विजयिभि स्याद्वादमागानुगै—

विद्यानन्दबुधैरलकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपै ॥

उमकी प्रकृति हुई है, और उन्होंने संपूर्ण मीप्या प्रकाशको विभटित—
खितर खितर—कर दिया है ।

प्रज्ञाधीशप्रपूज्योज्ज्वलगुणनिकरोद्भूतसत्कीर्तिसम्प-
द्विद्यानन्दोदयायानवरतमखिललेशनिषाशनाय ।
साहो सामन्तभद्री दिनकररुषिजिस्सप्तमगीविभीक्षा
भावाद्यकान्तचतस्तिमिरनिरसनी वोऽकलंकप्रकाश ॥

—अष्टभद्री ।

इस पद्यमें वही विद्यानन्द आचार्य यह सूचित करते हैं कि समन्त-
भद्री बाणी उन उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई सत्कीर्तिकारी
सम्पत्तिसे युक्त है जो वह वह बुद्धिमानों द्वारा प्रपूज्य है; वह अपने
तेजसे सूर्यकी किरणको जीतनेवाली सप्तमगी विधिके द्वारा प्रदीप्त है,
निर्मल प्रकाशको लिये हुए है और भाव—अभार आधिके एकान्त पक्ष
रूपी हृदयारक्षरको दूर करनेवाली है । साथ ही, अपने पाठसेको यह
आश्चर्य देता है कि वह बाणी तुम्हारी विद्या (केवलज्ञान) और
आनन्द (अनन्तमुख) के उदयके लिये निरंतर कारणभूत होरे और
उसके प्रसाहसे तुम्हारे संपूर्ण केश नाशको प्राप्त हो जायें । यही
' विद्यानन्दोदयाय ' परसे एक दूसरा अर्थ भी निकलता है और
इससे यह सूचित होता है कि समन्तभद्री बाणी विद्यानन्दआचार्यके
(उदयका कारण हुई है) और इसलिये उसका द्वारा उन्होंने अपने और
हृदयकी भी मारना था है ।

* अथवा समन्तभद्री भारती वह वह बुद्धिमानों (प्रशसितों) के द्वारा
प्रशंसित है और उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई वे शक्तिरूपी सम्पत्तिसे
युक्त है ।

+ आम्नाय कविन समन्तभद्री भारतीका स्तवन करते हुए वा 'प.प.के-

अद्वैताद्याग्रहोग्रहगहनविपन्निग्रहेऽलंघ्यवीर्याः
 स्यात्कारामोघमंत्रप्रणयनविधयः शुद्धसध्यानधीराः ।
 धन्यानामादधाना धृतिमधिवसता मडलं जैनमग्र्यं
 वाचः सामन्तभद्रयो विदधतु विविधा सिद्धिमुद्भूतमुद्राः॥
 अपेक्षैकान्तादिप्रबलगरलोद्रेकदलिनी
 प्रवृद्धानेकान्तामृतरसनिपेकानवरतम् ।
 प्रवृत्ता वागेपा सकलविकलादेशवशतः
 समन्ताद्भद्रं वो दिशतु मुनिपस्यामलमतेः ॥

अष्टसहस्रीके इन पद्योंमें भी श्रीविद्यानंद जैसे महान् आचार्योंने, जिन्होंने अष्टसहस्रीके अतिरिक्त आतपरांक्षा, प्रमाणपरीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा, श्लोकगार्तिक, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और जिनैकगुणसस्तुति आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की है, निर्मलमति श्री-समन्तभद्र मुनिराजकी वाणीका अनेक प्रकारमें गुणगान किया है और उसे अलघ्यवीर्य, स्यात्काररूपी अमोघमंत्रका प्रणयन करनेवाली, शुद्ध सध्यानधीरा, उद्भूतमुद्रा, (ऊँचे आनंदको देनेवाली) एकान्तरूपी प्रबल गरल विपके उद्रेकको दलनेवाली और निरन्तर अनेकान्तरूपी अमृत रसके सिंचनसे प्रवृद्ध तथा प्रमाण नयोंके अधीन प्रवृत्त हुई लिखा है । साथ ही वह वाणी नाना प्रकारकी सिद्धिका विधान करे और सब

सरिप्रभावसिद्धिकारिणीं स्तुजे, यह वाक्य कहा है उससे भी इसका समर्थन होता है, क्योंकि पात्रकेसरी विद्यानन्दका नामान्तर है । समन्तभद्रके देवागम स्तोत्रसे पात्रकेसरीकी जीवनधारा ही पलट गई थी और वे वड़े प्रभावशाली विद्वान् हुए हैं ।

१ 'ध्यान परीक्षा तेन धीरा स्थिरा' इति टिप्पणकार ।

२ 'उद्भूतां मुद रान्ति ददातीति (उद्भूतमुद्रा)' इति टिप्पणकार ।

भोरसे मंगल तथा कल्याणको प्रदान करनेवाली होने, इस प्रकारके आशीर्वाद भी दिये हैं ।

अथादेर्मेद एव स्फुटमिह्नियतः सर्वथाकारणादे
रित्यापेक्षान्तयादोदत्तरमस्य द्वाततामाभयन्ति ।
प्रायो यस्योपबन्धादधिपटितनयान्मानमूलादलंघ्यात्
स्वामी जीयात्स द्वात्यप्रथिततरयतीदोऽकलकोक्कीर्तिः ॥

अष्टमहलीके इस पद्यमें लिखा है कि 'वे स्वामी (समस्तमन्त्र) उदा व्यक्त रहें जो बहुत प्रसिद्ध मुनिगण हैं, जिनकी कीर्ति निर्दोष तथा निःशङ्क है और जिनके न्यप्रमाणमूलात् अल्प उपदेशसे वे महा-उत्कृष्टमति एकान्तवादी भी प्रायः शान्तताको प्राप्त हो जाते हैं जो धर-णसे अत्यधिक सर्वथा भेद ही नियत मानते हैं अथवा यह स्वीकार करते हैं कि वे कारण व्यापक सर्वथा अमिश्र ही हैं—एक ही हैं ।

येनाश्रयकृतीतिहृदिसरित प्रधावतां शोपिता
यद्वाचोऽप्यकलंकनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्वभूतः ।
स भीस्वामिसमन्तमव्यतिभृन्मूयाद्विहर्मानुमान्
विद्यानंदचनप्रदोऽनपभियां स्वाध्यायमागच्छन् ॥

अष्टमहलीके इस अन्तिम मंगल पद्यमें जीविद्यानंद आचार्यने, संक्षेपमें समस्तमन्त्रविषयक अपने जो उत्तर प्रकट किये हैं

१ अष्टमहलीके प्रारम्भमें जो मंगल पद्य दिया है उसमें समस्तमन्त्रको जो नाम 'उद्वृत्तबोधमहिमान्' और 'अभिधवाह' मिलेपनोंके साथ अभिवर्णन केना है । यथा—

श्रीकर्ममाणमभिधसमस्तमन्त्रमुद्वृत्तबोधमहिमान् ॥ अथाहम् ।
आद्यावत्तरचित्तुविगोचरासमीपादितं कृतिरर्कविशेषे मया ॥

वे बड़े ही महत्त्वके हैं । आप लिखते हैं कि ' जिन्होंने परीक्षावानोंके लिये सपूर्ण कुर्नीति-वृत्तिरूपी नदियोंको सुखा दिया है और जिनके वचन निर्दोष नीति (स्याद्वादन्याय) को लिये हुए होनेकी वजहसे मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थसमूहके द्योतक हैं वे यतियोंके नायक, स्याद्वादमार्गके अप्रणां, विभु और भानुमान् (सूर्य) श्रीसमन्तभद्र स्वामी कलुषाशयरहित प्राणियोंको विद्या और आनन्दघनके प्रदान करने-वाले होंगे । ' इससे स्वामी समन्तभद्र और उनके वचनोंका बहुत ही अच्छा महत्त्व ख्यापित होता है ।

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कंठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥६॥

—चन्द्रप्रभचरित ।

इस पद्यमें महाकवि श्रीवीरनंदी आचार्य, समन्तभद्रकी भारती (वाणी) को उस हारयष्टि (मोतियोंकी माला) के समकक्ष रखते हुए जो गुणों (सूतके धागों) से गूँथी हुई है, निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त है और उत्तम पुरुषोंके कंठका विभूषण बनी हुई है, यह सूचित करते हैं कि समन्तभद्रकी वाणी अनेक सद्गुणोंको लिये हुए है, निर्मल वृत्तिरूपी मुक्ताफलोंसे युक्त है और बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने उसे अपने कंठका भूषण बनाया है । साथ ही, यह भी बतलाते हैं कि उस हारयष्टिको प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन कि समन्तभद्रकी भारतीको पा लेना—उसे समझकर हृदयगम कर लेना—है । और इससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि समन्तभद्रके वचनोंका लाभ बड़े ही भाग्य तथा परिश्रमसे होता है ।

भीमरेन्द्रसेनाचार्य भी, अपन 'सिद्धान्तसारसंग्रह' में ऐसा ही माह प्रकट करते हैं । आप समंतमद्रके बचनको 'भनय' (निष्पाप) सूचित करते हुए उसे मनुष्यत्वकी प्राप्तिकी तरह दुर्लभ कहते हैं ।
 तथा—

भीमत्समंतमद्रस्य ब्रह्मस्यापि वचोऽनर्थ ।

प्राप्तिना दुर्लभं यद्वन्मातुपत्वं तथा पुनः ॥ ११ ॥

सक संस्कृत ७०५ में 'हरिवंशपुराण' को बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीजिनसेनाचार्यन समंतमद्रके बचनको किस कोटिमें रक्खा है और उन्हें किस महापुरुषके बचनोंकी उपमा दी है, यह सब उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

जीवसिद्धिविधायीह कृत्तयुक्त्यनुशासन ।

वचः समन्तमद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥ ३० ॥

इस पदमें जीवसिद्धि का विधान करनेवाले और युक्तियुक्त अथवा युक्तियुक्त अनुशासन करनेवाले समंतमद्रके बचनोंकी वस्तु यह कहा गया है कि वे वीर भगवान्के बचनोंकी तरह प्रकाशमान हैं, क्योंकि अनिमित्त लक्ष्यकर भीमहावीर भगवान्के बचनोंके समकक्ष हैं और प्रमाणिकों भी उन्हींके तुल्य हैं । जिनसेनाचार्यका यह कथन समंतमद्रके जीवसिद्धि और 'कृत्तयुक्त्यनुशासन' नामक दो ग्रंथोंके उल्लेखको किये हुए है और इससे उन ग्रंथों (प्रवचनों) का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है ।

प्रमाणनयनिर्णीतवस्तुतत्त्वमभाषितं ।

जीवात्समंतमद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनं ॥

इस पद्यमें भी विद्यानंदाचार्य, समतभद्रके 'युक्त्यनुशासन' स्तोत्रका जयघोष करते हुए, उसे 'अवाधित' विशेषण देते हैं और साथ ही यह सूचित करते हैं कि उसमें प्रमाण नयके द्वारा वस्तुतत्त्वका निर्णय किया गया है ।

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं ।

देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥

त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।

अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरंडकः ॥

—पार्श्वनाथचरित ।

इन पद्योंमें, 'पार्श्वनाथचरित'को शक स० ९४७ में बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीवादिराजसूरि, समतभद्रके 'देवागम' और 'रत्नकरंडक' नामके दो प्रवचनों (ग्रंथों) का उल्लेख करते हुए, लिखते हैं कि 'उन स्वामी (समतभद्र) का चरित्र किसके लिये विस्मयावह (आश्चर्यजनक) नहीं है जिन्होंने

१ माणिकचंद्रग्रंथमालामें प्रकाशित 'पार्श्वनाथचरित' में इन दोनों पद्योंके मध्यमें नीचे लिखा एक पद्य और भी दिया है, परंतु हमारी रायमें वह पद्य इन दोनों पद्योंके बादका मालूम होता है—उसका 'देव' पद 'देवनन्दी' (पूज्यपाद) का वाचक है । ग्रंथमें देवनन्दिके सम्बन्धका कोई दूसरा पद्य वहाँ है भी नहीं, जिसके होनेकी, अन्यथा, बहुत संभावना थी । यदि यह तीसरा पद्य सचमुच ही ग्रंथकी प्राचीन प्रतियोंमें इन दोनों पद्योंके मध्यमें ही पाया जाता है और मध्यका ही पद्य है तो यह कहना पड़ेगा कि वादिराजने समतभद्रको अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा बदनीय और अचिन्त्य महिमावाला देव प्रतिपादन किया है । साथ ही, यह लिखकर कि उनके द्वारा शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं, उनके किसी व्याकरण ग्रंथका उल्लेख किया है—

अचिन्त्यमहिमा देव सोऽभिवर्धो हितैषिणा ।

शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुस्थ प्रतिलभिता ॥

‘देवागम’ के द्वारा आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है । निम्नसे वे ही योगीन्द्र (समंतभद्र) त्यागी (दादा) हुए हैं जिन्होंने भग्नसमूहकी याचकान्त्रे अक्षय सुखका कारण रत्नोंका पिटास (रत्न-लोक) दत्त किया है ।

समन्तभद्रो मद्रार्थो मातु भारतभूषणः ।

देवागमेन देवात्र व्यक्तो देवागमः कृतः ॥

—पाण्डवपुराण ।

इस पद्यमें श्रीकृष्णमन्त्राचार्य लिखते हैं कि “जिन्होंने ‘देवागम’ नामक अपने प्रवचनके द्वारा देवागमका—जिमेन्द्रदेवके आगमको—इस लोकमें व्यक्त कर दिया है वे ‘भारतभूषण’ और ‘एक मात्र मद्रप्रयोजनके चारक श्री समंतभद्र’ लोकमें प्रकटमान होने अर्थात् अपनी मिया और गुणोंके द्वारा लोगोंके हृदयोंपर चरके दूर करनेमें समर्थ होने ।

समन्तभद्रकी भारतीका एक स्तोत्र हास्य हमें अस्मिन् देशसे प्राप्त हुआ है । यह स्तोत्र कवि नामरत्नका कृत्या हुआ और अमोक्षक प्राप्त अप्रकटित ही जान पड़ता है । यहाँपर हम उसे भी अपने पाठकोंकी अनुमतिपूर्वक श्रिये दे देना उचित समझते हैं । वह स्तोत्र इस प्रकार है—

१ इसकी प्रतिके लिये हम उन पं. आशिषाजीके आगारी हैं जो कुछ कसेतक ‘वैदिकविद्वत्समस्त आरा’के सम्पादन रह चुके हैं ।

२ ‘नामराज’ नामक एक कवि वर्ष १९५१ में हो गये थे, एका ‘कर्म उद्वेगविरहित’ से प्रसन्न होता है । बहुत संभव है कि वह स्तोत्र कभीका कृत्या हुआ हो; वे ‘उद्वेगविरहितविराट’ कथारिसे भी युक्त थे । उन्होंने उक्त में अपना ‘पुण्यसम्पत्ति’ बना कर सम्पादन किया है ।

इस पद्यमें भी विद्यानंदा-
जयघोष करते हुए, उसे '८
यह सूचित करते हैं कि उ
किया गया है ।

स्वामिनश्चरितं
देवागमेन म
त्यागी स ॥
अर्थिने भट्ट

इन पद्योंमें,
समाप्त करनेवाले
' रत्नकरडक ' २
हुए, लिखते ४
किसके लिये ।

१ माणिकचंद्रग्रथमा
मध्यमें नीचे लिखा एन
दोनों पद्योंके वादका मा
(पूज्यपाद) का वाचक है
भी नहीं, जिसके होनेकी, ८
सचमुच ही ग्रथकी प्राचीन ५
और मध्यका ही पद्य है तो य
हित चाहनेवालोंके द्वारा वदनीय
है । साथ ही, यह लिखकर कि उन
किसी व्याकरण ग्रंथका उल्लेख किय
अचिन्त्यमहिमा देव सोऽ
शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति २

पोरभूरिदुःखवार्धिसारणाधमामिमां
 चारुपतसा स्तुवे समन्तमद्रमारतीम् ॥ ६ ॥
 सान्तनाथनाथनन्तमध्ययुक्तमध्यमां
 शून्यमानसर्ववेदि-तत्त्वसिद्धिसाधनीं ।
 इत्यहत्तुपादसिद्धमाक्यनालभासुरां
 मोक्षसिद्धये स्तुवे समन्तमद्रमारतीम् ॥ ७ ॥
 व्यापकप्रयाप्तमार्गतत्त्वयुग्मगोचरां
 पापहारि-वाञ्छिलासिसूयणांशुकां स्तुवे ।
 भीकरीं च भीकरीं च सर्वसौख्यदायिनीं
 नागराजपूजितां समन्तमद्रमारतीम् ॥ ८ ॥

इस समन्तमद्रमारतीस्तोत्र में स्तुतिके साथ, समन्तमद्रके
 वादों, भावणों और प्रणयोंके निष्पन्न यत्किञ्चित् निम्नदर्शन कराया गया
 है । साथ ही, यह सूचित किया गया है कि समन्तमद्रकी भारती
 आचार्योंकी सूक्तियोंद्वारा बंदित, मनोहर कीर्तियोंसे देदीप्यमान और
 धर्मोद्दिष्टी समान उज्ज्वल तथा गंभीर है, पापोंको हरना निम्नदर्शन
 निष्पन्न निम्न आरिषको दूर करना ही उस वाग्दयीका एक भानूपज
 और वाञ्छिलास ही उसका एक वक्ष है वह धीरे-धीरे सत्संगारसे पर
 करनेके लिये समर्थ है सर्व सुखोंको देनेवाली है और अनाथोंके लिये
 हितरूप है ।

यह हम पहच ही प्रकट कर चुके हैं कि समन्तमद्रकी जो कुछ
 वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब प्रायः दूसरोंके हितके लिये ही होती
 थी यही भी इस स्तोत्रसे बड़ी बात पाई जाती है और ऊपर दिये
 हुए दूसरे कितने ही आचार्योंके वाक्योंसे भी उसका पोषण तथा

सस्मरीमि तोष्ट्रीमि ननमीमि भारती,
 तंतनीमि पंपटीमि वंभणीमि तेमिता ।
 देवराजनागराजमर्त्यराजपूजिता
 श्रीसमन्तभद्रवादभासुरात्मगोचरा ॥ १ ॥

मातृ-मान-मेयसिद्धिस्तुगोचरां स्तुवे,
 सप्तभंगसप्तनीतिगम्यतत्त्वगोचरा ।
 मोक्षमार्ग-तद्विपक्षभूरिधर्मगोचरा-
 माप्ततत्त्वगोचरा समन्तभद्रभारती ॥ २ ॥

सूरिसूक्तिव्रंदितामुपेयतत्त्वभाषिणी,
 चारुकीर्तिभासुरामुपायतत्त्वसाधनी ।
 पूर्वपक्षसंडनप्रचण्डवाग्विलासिनीं
 सस्तुवे जगद्धिता समन्तभद्रभारती ॥ ३ ॥

पात्रक्रेसरिप्रभावसिद्धिरारिणी स्तुवे,
 भाष्यकारपोषितामलकृता मुनीधैरः ।
 गृध्रपिच्छभाषितप्रकृष्टमगलार्थिका
 सिद्धि-सौख्यसाधनीं समन्तभद्रभारतीं ॥ ४ ॥

इन्द्रभूतिभाषितप्रमेयजालगोचरां,
 वर्द्धमानदेवबोधबुद्धचिद्धिलासिनीं ।
 यौगसौगतादिगर्वपर्वताशनिं स्तुवे
 क्षीरवार्धिसन्निभां समन्तभद्रभारतीं ॥ ५ ॥

मान-नीति-वाक्यसिद्धवस्तुधर्मगोचरां
 मानितप्रभावसिद्धसिद्धिसिद्धसाधनीं ।

यह 'युक्त्यनुशासन' नामक स्तोत्रक, अन्तिम पद्यसे पहल, पद्य है। इसमें आचार्य महोदयने बड़े ही महत्त्वका भाव प्रदर्शित किया है। आप भीषट्मान (महावीर) मगवान्को सम्बोधन करके उनके प्रति अपनी इस स्तोत्र रचनाका जो भाव प्रकट करते हैं उसका स्पष्ट उद्देश्य इस प्रकार है—

‘हे मगवान्, हमारा यह स्तोत्र आपके प्रति रागभावसे नहीं है, न हो सकता है, क्योंकि इधर तो हम परीक्षाप्रधानी हैं और उधर आपने भवपाशको छेद दिया है—संसारसे अपना सम्बन्ध ही अलग कर लिया है—ऐसी दृष्टिमें आपके व्यक्तित्वके प्रति हमारा रागभाव इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं हो सकता। दूसरोंके प्रति द्वेषभावसे भी इस स्तोत्रका कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि एकान्त श्रद्धियोंके साथ उनके व्यक्तित्वके प्रति—हमारा कोई द्वेष नहीं है। इन तीनों गुणोंकी कृपाके अम्यासको भी खलता समझते हैं और उस प्रकारका अम्यास न होनेसे वह ‘खलता हममें नहीं है, और इस लिये दूसरोंके प्रति कोई द्वेषभाव भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकता। तब फिर इसका **॥१॥** अपना उद्देश्य ‘उद्देश्य’ यही है कि जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और प्रकृत पदार्थके गुण-दायकोंको जाननेकी चिन्तकी इच्छा है उनके लिये यह स्तोत्र ‘हितान्वेषणक उपायस्वरूप’ आपकी गुणकृपाके साथ, कहा गया है। इसका सिद्धान्त, जिस भवपाशको आपने छेद दिया है उसे छेदना—अपने और दूसरोंके संसारबन्धनोंको तोड़ना—इमें भी।

स्पष्टीकरण होता है । अस्तु, इस विषयका यदि और भी अच्छा अनुभव प्राप्त करना हो तो उसके लिये स्वयं समतभद्रके ग्रंथोंको देखना चाहिये । उनके विचारपूर्वक अध्ययनसे वह अनुभव स्वतः हो जायगा । समन्तभद्रके ग्रंथोंका उद्देश्य ही पापोंको दूर करके—कुट्टिटि, कुनुद्धि, कुनीति और कुट्टितिको हटाकर—जगतका हित साधन करना है । समतभद्रने अपने इस उद्देश्यको कितने ही ग्रंथोंमें व्यक्त भी किया है, जिसके दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

इतीयमाप्तमीमासा विहिता हितमिच्छता ।

सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥

यह 'आप्तमीमासा' ग्रंथका पद्य है । इसमें, ग्रंथनिर्माणका उद्देश्य प्रकट करते हुए, बतलाया गया है कि यह 'आप्तमीमासा' उन लोगोंको सम्यक् और मिथ्या उपदेशके अर्थविशेषका ज्ञान करानेके लिये निर्दिष्ट की गई है जो अपना हित चाहते हैं । ग्रंथकी कुछ प्रतियोंमें 'हितमिच्छता' की जगह 'हितमिच्छता' पाठ भी पाया जाता है । यदि यह पाठ ठीक हो तो वह प्रथमचयिता समतभद्रका विशेषण है और उससे यह अर्थ निकलता है कि यह आप्तमीमासा हित चाहनेवाले समतभद्रके द्वारा निर्मित हुई है, बाकी निर्माणका उद्देश्य ज्योंका त्यों कायम ही रहता है—दोनों ही हालतोंमें यह स्पष्ट है कि यह ग्रंथ दूसरोंका हित सम्पादन करने—उन्हें हेयादेयका विशेष बोध करानेके लिये ही लिखा गया है ।

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ

न चान्येषु द्वेपादपगुणकथाभ्यासखलता ।

किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां ।

हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासंगगदितः ॥

उन्हें प्रायः इसी विशेषणके साथ स्मरण किया है । क्यापि और भी कितने ही आचार्य 'स्वामी' कहलाते थे परंतु उनके साथ यह विशेषण उठना रुढ़ नहीं है नितना कि समंतमद्रके साथ रुढ़ ज्ञान पड़ता है—समंतमद्रके नामका तो यह प्रायः एक अंग ही हो गया है । इसीसे कितने ही महान् व्याचार्यों तथा विद्वानोंने, अनेक स्थानों पर नाम न देकर, केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग द्वारा ही आपका नामोद्धरण किया है * और इससे यह बात सहजहीमें समझमें आ सकती है कि आचार्य महोदयकी 'स्वामी' रूपसे कितनी अधिक प्रसिद्धि थी । निःसंदेह, यह पद आपकी महती प्रतिष्ठा और असाधारण महत्ताका द्योतक है । आप सम्मुख ही विद्वानोंके स्वामी थे, पाण्डित्योंके स्वामी थे, तपस्वियोंके स्वामी थे, अधिमुनियोंके स्वामी थे, उद्योगियोंके स्वामी थे, सत्कृष्टियोंके स्वामी थे और लोकहितैषियोंके स्वामी थे ।

* देखो—वाल्मिकिसूत्रिण्डव शार्ङ्गनाथपरितोका स्वप्रतिमवर्णितं प्रत्यक्ष पत्र को ऊपर उद्धृत किया गया है; पं आचार्यवरिष्ठ साध्वरचर्यमृत और अवधर चर्यमृतकी टीकाओंके स्वात्मनुष्ठानप्रकरणप्रारम्भमें इति स्वाध्यायमतेन स्वप्रतिमके प्रकारे स्वप्रतिमतेन सिद्धे (अतिशय) अष्टादश स्वामी तथा च स्वप्रतिमसूत्रप्रति इत्यादि पर; स्वात्मदीपिकाका तदुक्तं स्वप्रतिमिरेव इति प्रकरणके साथ वेदान्त की दो कार्यकार्योक्त अवतरण और भीमिदानराधारण्डव अष्टादशदीपिका प्रकरणके कितने ही पत्र तथा वाक्य मिलनेसे विज्ञातकरान्त वादि कुछ एक ठार उद्धृत करने का चुके हैं ।

इष्ट है और इस लिये वह प्रयोजन भी इस स्तोत्रकी उपपत्तिका एक हेतु है ।’

इससे स्पष्ट है कि समतभद्रके ग्रंथोंका प्रणयन—उनके वचनोंका अवतार—किसी तुच्छ रागद्वेषके वशवर्ती होकर नहीं हुआ है । वह आचार्य महोदयकी उदारता तथा प्रेक्षापूर्वकारिताको लिये हुए है और उसमें उनकी श्रद्धा तथा गुणज्ञता दोनों ही बातें पाई जाती हैं । साथ ही, यह भी प्रकट है कि समतभद्रके ग्रंथोंका उद्देश्य महान् है, लोक-हितको लिये हुए है, और उनका प्राय कोई भी विशेष कथन गुण-दोषोंकी अच्छी जाँचके बिना निर्दिष्ट हुआ नहीं जान पड़ता ।

यहाँ तकके इस सब कथनसे ऐसा माद्धम होता है कि समतभद्र अपने इन सब गुणोंके कारण ही लोकमें अत्यंत महनीय तथा पूजनीय थे और उन्होंने देश-देशान्तरोंमें अपनी अनन्यसाधारण कीर्तिको प्रतिष्ठित किया था । नि सन्देह, वे सद्बोधरूप थे, श्रेष्ठगुणोंके आवास थे, निर्दोष थे और उनकी यश कान्तिसे तीनों लोक अथवा भारतके उत्तर, दक्षिण और मध्य ये तीनों विभाग कान्तिमान थे,—उनका यगस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था, जैसा कि कवि नरसिंह भट्टके निम्न वाक्यसे पाया जाता है—

समन्तभद्रं सद्बोधं स्तुवे वरगुणालयं ।

निर्मलं यद्यशष्कान्तं बभूव भुवनत्रयं ॥ २ ॥

—जिनशतकटीका ।

अपने इन सब पूज्य गुणोंकी वजहसे ही समतभद्र लोकमें ‘स्वामी’ पदसे खास तौर पर विभूषित थे । लोग उन्हें ‘स्वामी’ ‘स्वामीजी’ कह कर ही पुकारते थे, और बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने भी

कृत्वा भीमस्त्रिनेन्द्राणां द्वासनस्य प्रमादनां ।
स्वमोक्षदायिनीं पीरो मावितीर्थकरो गुणी ॥

—त्रैलोक्यव्यासकृतमाध्यायः ।

आ मावि तीर्थकरन् अप्य समंतमद्रस्वामिगतु- ---

—उवाचशिवः ।

अहं हरी ऋष पट्टिहरि चकि चतुर्कं च एव वल्लभहो ।
सेविम समंतमहो तित्थयरा हुंति धियमेण * ॥

दीर्घमान म्हावीर स्वामीके निर्वाणके कद ऐक्यों ही अच्छे
अच्छे महत्त्वा आचार्य तथा मुनिरुज यहाँ हो गये हैं परंतु उनमेंसे दूसरे
किसी भी आचार्य तथा मुनिरुजक विषयमें यह उल्लेख नहीं मिलता
कि वे आगेके इस देशमें ' तीर्थकर ' होंगे । मारवमें ' मागी तीर्थकर '
इनेका यह सौभाग्य राजाका पुत्रों तथा श्रमिक राजाके साथ, एक
समंतनद्रको ही प्राप्त है और इससे समंतमद्रके इतिहासका—उनके चरि-
त्रका—गौरव और भी बढ़ जाता है । साथ ही यह भी मालूम हो जाता
है कि आप १ दर्शनविशुद्धि २ विनमसम्पत्त्या, ३ शीघ्रतत्पन्नति-

१ इस वाक्यमें लिखा है कि—आप नारायण की प्रतिनारायण चार चक्रवर्ती
एक चक्रवर्ती भूमिक और कर्मभूमिक हैं (१४ पुरुष आयेको) विनमसे तीर्थकर
होंगे ।

यह वाक्य कोनसे मूल पद्यकी है, इसका अभी तक हमें कोई ठीक पता
नहीं चला । पं जिनवाल पाठ्यपद्यकी फरकनेने इसे स्वर्णमुक्तोपके उस एक
संस्करणमें उद्धृत किया है जिसमें उन्होंने संस्कृतकी भाषा मराठीमधुवार-
दित प्रकाशित कराया है । हमारे वर्णन करने पर पंडितजीने सुविष्ट किया है कि
यह पद्य ' चर्चासमाचार ' नामक ग्रंथमें पाई जाती है । प्रत्येक इस नाम परसे
ऐसा मालूम होता है कि वहाँ भी यह पद्य उद्धृत की होगी और किसी दूसरे
की पुष्टय प्रत्येक पद्य बढ़ती है ।

भावी तीर्थकरत्व ।

— • —

समंतभद्रके लोकहितकी मात्रा इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्हें रात दिन उसीके संपादनकी एक धुन रहती थी, उनका मन, उनका वचन और उनका शरीर सब उसी ओर लगा हुआ था, वे विश्वभरको अपना कुटुम्ब समझते थे—उनके हृदयमें ‘विश्वप्रेम’ जागृत था—और एक कुटुम्बीके उद्धारकी तरह वे विश्वभरका उद्धार करनेमें सदा सावधान रहते थे । वस्तुतत्त्वकी सम्यक् अनुभूतिके साथ, अपनी इस योग-परिणतिके द्वारा ही उन्होंने उस महत्, नि सीम तथा सर्वातिशायि पुण्यको सचित किया मालूम होता है जिसके कारण वे इसी भारतवर्षमें ‘तीर्थकर’ होनेवाले हैं—धर्मतीर्थको चलानेके लिये अवतार लेनेवाले हैं । आपके ‘भावी तीर्थकर’ होनेका उल्लेख कितने ही ग्रंथोंमें पाया जाता है, जिनके कुछ अवतरण नीचे दिये जाते हैं—

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत् ।

देशे समंतभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदार्द्धिकः ॥

—विक्रान्तकौरव प्र० ।

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृद्-

देशे समन्तभद्रार्थो जीयात्प्राप्तपदार्द्धिकः ॥

—जिनेंद्रकल्याणभ्युदय ।

उक्तं च समन्तभद्रेणोत्सर्पिणीकाले आगामिनिभविष्यत्तीर्थकर परमदेवेन—‘कालेकल्पशतेऽपि च’ (इत्यादि ‘रत्नकरडक’ का पूरा पद्य दिया है ।)

—श्रुतसागरकृत षट्प्राप्तटीका ।

सुभद्या मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावजलमे कयाभुतिरस कर्णोऽपि संप्रेषते ।
सुस्तुत्यां व्यसनं क्षिरोनसिपरं सेवेच्छी वन ते
तेजस्वी सुमनोज्ज्वलेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥ ११४ ॥

अर्थात्—हे भगवन्, आपके मत्में अपना आपके ही विषयमें मेरी सुभक्षा है—अन्धबुद्धि नहीं—, मेरी स्मृति भी आपके ही अपना विषय घमाये हुए है, मैं पूजन भी आपको ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामांजलि करनेके निमित्त हैं, मेरे कान आपकी ही गुणकथाओं सुननेमें लीन रहते हैं, मेरी कानों आपकी ही रूपको देखती हैं मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियोंके तबनेका है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है इस प्रकारकी चूँकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपको इस तरह पर सेवन किया करता हूँ—इसी जिन्ये हे तेजः पते । (केवलज्ञानस्वामिन्) मैं तेजस्वी हूँ, सुमन हूँ और सुकृती (पुण्यवान्) हूँ ।

समस्तभक्तोंके इन सबे हार्दिक उद्गारोंसे यह स्पष्ट चित्र मिल जाता है कि वे कैसे और कितने 'अर्हद्भक्त' थे और उन्होंने कहीं तक अपनेको अर्हत्तेवाके लिये अर्पण कर लिया था । अर्हद्गुणोंमें इतनी

१ समस्तभक्तोंके इस उद्गारसे ऐसा पता जाता है कि यह 'विकसतक' प्रथम उक्त समस्त भक्तोंके है जब कि समस्तभक्तोंके इतनी ही सुन्दर सुन्दर स्तुतियों—स्तुति प्रयोगों—का ही कर चुके थे और स्तुतिरचना करनेका एक व्यवसाय कर चुके थे । आचार्य/सु. को वेचाममा पुण्यपुण्यलक्षण और स्वयम् आपकी स्तुति इस प्रयोग परके है, चुके हैं और ऐसी सुन्दर स्तुतियोंके कारण ही समस्तभक्त अपने स्तुतिभक्तोंके 'सुस्तुतिभक्त' लिखनेके लिये प्रयत्न हो चुके हैं ।

चार, ४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५ सवेग, ६ शक्तितत्त्वाग, ७ शक्ति-
तत्त्व, ८ साधुसमाधि, ९ वेद्यावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्य-
भक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ आवश्यकापरिहाणि,
१५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचनवत्सलत्व, इन सोलह गुणोंसे
प्रायः युक्त ये—इनकी उच्च तथा गहरी भावनाओंसे आपका आत्मा भागित
था—क्योंकि, दर्शनविशुद्धिको लिये हुए, ये ही गुण समस्त अथवा व्यस्त
रूपसे आगममें तीर्थंकरप्रकृति नामा 'नामकर्म'की महा पुण्यप्रकृतिके
आस्रवके कारण कहे गये हैं * । इन गुणोंका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी
बहुतसी टीकाओं तथा दूसरे भी कितने ही ग्रंथोंमें विशद रूपसे दिया
हुआ है, इस लिये उनकी यहाँपर कोई व्याख्या करनेकी जरूरत नहीं
है । हाँ, इतना जरूर बतलाना होगा कि दर्शनविशुद्धिके साथ साथ,
समतभद्रकी 'अर्हद्भक्ति' बहुत बड़ी चढ़ी थी, वह बड़े ही उच्च
कोटिके विकासको लिये हुए थी । उसमें अंधश्रद्धा अथवा अधविश्वा-
सको स्थान नहीं था, गुणज्ञता, गुणप्रीति और हृदयकी सरलता ही
उसका एक आधार था, और इस लिये वह एकदम शुद्ध तथा निर्दोष
थी । अपनी इस शुद्ध भक्तिके प्रतापसे ही समतभद्र इतने अधिक
प्रतापी, तेजस्वी तथा पुण्याधिकारी हुए मादम होते हैं । उन्होंने स्वयं
भी इस बातका अनुभव किया था, और इसीसे वे अपने 'जिनस्तुति-
शतक' के अन्तमें लिखते हैं—

* देखो, तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके छठे अध्यायका २४ वाँ सूत्र, और उसके
'श्लोकवातिक' भाष्यका निम्न पद्य—

हृद्विशुद्ध्याद्यो नामस्तीर्थकृत्स्वस्य हेतव ।

समस्ता व्यस्तरूपा वा हृद्विशुद्धया समन्विता ॥

इसी पत्रको शतान्तरागणी श्रीमन्नगिरिसूरिने भी, अपना 'भाष्यकस्तुति' का टीकामें, 'आद्यस्तुतिहारोऽप्याह' इस परिषय-
वाक्यके साथ उद्धृत किया है, और इस तरह पर समस्तभद्रको
'आद्यस्तुतिहार'—सबसे प्रथम अथवा सबसे बड़ा स्तुतिहार—
ज्ञात किया है । इन उद्धृतवाक्योंसे यह भी पाया जाता है कि सम-
स्तभद्रकी स्तुतिहार रूपमें भी बहुत अधिक प्रसिद्धि थी और इसी
लिए 'स्तुतिहार'के साथमें उनका नाम देनेकी शायद कोई जरूरत
नहीं समझी गई ।

समस्तभद्र इस स्तुतिरचनाक इतने प्रेमी क्या थे और उन्होंने
क्यों इस मार्गका अधिक पसंद किया इसका साधारण कारण क्यापि,
उनका भक्ति-उद्रेक अथवा भक्तिविशेष हो सकता है, परंतु, क्योंकि
इन उन्हींके शब्दोंमें इस विषयको कुछ और भी स्पष्ट कर देना उचित
समझते हैं और साथ ही यह प्रकट कर देना चाहते हैं कि समस्तभद्रका
इन स्तुति-स्तोत्रोंके विषयमें क्या भाव था और वे उन्हें किस महत्त्वकी
दृष्टिसे देखते थे । आप अपने 'स्वर्गमूला' में लिखते हैं—

स्तुति स्तोत्र साधोः कुशलपरिणामात् स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्य फलमपि ततस्तस्य च सतः ।

किमेवं स्वाधीन्यात्मगति मुक्तये भावसपथ

स्तुथाभत्वा विद्वान्सततमभिपूज्य नमिजिनम् ॥११६॥

१ इसका होने विवक्षितवनी आपने साहित्यतत्त्वोक्त के प्रथम अर्थमें
लिखत है— इस उद्धृतवाक्यसे स्पष्ट जाया जाता है कि वे (समस्तभद्र) मारिह
स्तुतिहार भावे आये थे इतना ही नहीं परंतु भाव—अपने पहले होनेवाले—
स्तुतिहारका मारिहा थे । "

अर्थात्—स्तुतिके समय और स्थानपर स्तुत्य चाहे मोजूद हो या न हो और फलकी प्राप्ति भी चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परंतु साधु स्तोताकी स्तुति कुशल परिणामकी—पुण्यप्रसाधक परिणामोंकी—कारण जरूर होती है, और वह कुशल परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेय फलका दाता है । जब जगतमें इस तय स्वार्थानतासे श्रेयोमार्ग सुलभ है—अपनी स्तुतिके द्वारा प्राप्त है—तब, है सर्वदा अभिपूज्य नमिजिन, ऐसा कौन परीक्षापूर्वकारी विद्वान् अथवा विवेकी होगा जो आपकी स्तुति न करेगा ? जरूर करेगा ।

इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र इन अर्हस्तोत्रोंके द्वारा श्रेयो मार्गको सुलभ और स्वाधीन मानते थे, उन्होंने इन्हें ' जन्मारण्यशिखी '—जन्ममरणरूपी ससार वनको भस्म करनेवाली अग्नि—तक लिखा है और ये उनकी उस निश्रेयस—मुक्तिप्राप्तिविषयक—भावनाके पोषक थे जिसमें वे सदा सावधान रहते थे । इसी लिये उन्होंने इन ' जिन-स्तुतियों ' को अपना व्यसन बनाया था—उनका उपयोग प्रायः ऐसे ही शुभ कामोंमें लगा रहता था । यही वजह थी कि ससारमें उनकी उन्नतिका—उनकी महिमाका—कोई बाधक नहीं था, वह नाशरहित थी । ' जिनस्तुतिशतक ' के निम्न वाक्यसे भी ऐसा ही ध्वनित होता है—

'वन्दीभूतवतोऽपिनोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषा मुदा * ।'

१ ' जन्मारण्यशिखी स्तव ' ऐसा ' जिनस्तुतिशतक ' में लिखा है ।

२ येषां नन्तु (स्तोत्र) मुदा (हर्षण) वन्दीभूतवतोऽपि (मगलपादकी भूतवतोऽपि नम्राचार्यरूपेण भवतोपि मम) नोन्नतिहति (न उन्नते नाहात्म्यस्य हति हनन) ।—इति तट्टीकायां नरसिंह ।

* यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

इसी ग्रंथमें एक श्लोक निम्न प्रकारसे भी पाया जाता है—

सुखं विमर्ति ना धीरं नाशास्त्रिस्पृहवेदनः ।

वषस्त्रं ममनात्सारं यथायः स्पर्शवेदिनः ॥ ६० ॥

इसमें, योह ही सम्पूर्ण इला, अर्द्धवर्षिक अथवा मनुष्य प्रदर्शित हुआ है—यह मतलब है कि हे नाथ, जिस प्रकार ऊँचा स्पर्श-मणि (पारस पाषाण) का सेवन (स्पर्शन) करनेसे सोना बन जाता है और उसमें तेज का जला है उसी प्रकार यह मनुष्य आपकी सेवा करनेसे अति स्पष्ट (विशुद्ध) बान्नी होता हुआ तेजस्वी बनता है और उसका बचन भी सारमूक्त तथा गंभीर हो जाता है।'

मरझम होता है समस्तमय अपनी इस प्रकृति की शक्तों के कारण ही अर्द्धशक्तिमें सदा धीन रहते थे और यह उनकी इस मरझम ही परिणाम था जो वे अपने अधिक ज्ञान की तथा तेजस्वी हो गये हैं और उनके अन्तर्गत अद्वितीय तथा अपूर्व माहात्म्यको जिये हुए थे ।

समन्तमद्रक्ष भक्तिमार्ग उनके स्तुतिप्रयोगोंके गहरे अध्ययनसे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। शास्त्रमें समन्तभद्र ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्ति-योग तीनोंकी एक मूर्ति बने हुए थे—इन्मस्ति किंती एक ॥ योगके वे एकान्त पक्षपाती नहीं थे—निरी ऐकान्तता तो उनके पास भी नहीं

अन्तरात्मनिष्ठो लभ्य स्मृतिरपि ज्ञेयान्मुनेर्भिः परै
धन्यानां परमौ मिथी कश्चिदस्ति। अर्थार्थविद्धिः पराः

१२-दीपूतकतीवि न्यत्रतिह तिरननुभ मेचं सुदा

शुद्धता अभिवो यमन्तु वारदा इवैश्वरत्ने सदा ॥ ११५ ॥

१ जो एक 'ता' न्याके निरपेक्ष व्यवहारको किये हुए छोटी दे ख्ये 'मिर्ता' अपवा 'मिर्वा' पदप्रत्यय कहते हैं। समन्तथा इह मिर्वाप्रत्ययको रहित वे, इसीसे इवाम्भे एक आपत्ति निरसन करते हुए, उन्होंने किया है—'मि-
मिर्वाप्रत्यय' वा य

फटकती थी । वे सर्वथा एकान्तवादके सख्त प्रिगेधी थे और उसे वस्तुतत्त्व नहीं मानते थे । उन्होंने जिन खास कारणोंसे अर्हंतदेवको अपनी स्तुतिके योग्य समझा और उन्हें अपनी स्तुतिका विषय बनाया है उनमें, उनके द्वारा, एकान्त दृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धि भी एक कारण है । अर्हंत देवने अपने न्यायवाणोंसे एकान्त दृष्टिका निषेध किया है अथवा उनके प्रतिषेधको सिद्ध किया है और मोहरूपी शत्रुको नष्ट करके वे कैवल्य विभूतिके सम्राट् बने हैं, इसी लिये समन्तभद्र उन्हें लक्ष्य करके कहते हैं कि आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं—पात्र हैं । यथा—

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिन्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।

असि स्मं कैवल्यविभूतिसम्राट्, ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ५५

—स्वयभूस्तोत्र ।

इसने समतभद्रकी साफ तौरपर परीक्षाप्रधानता पाई जाती है और साथ ही यह मालूम होता है कि १ एकान्तदृष्टिका प्रतिषेध करना और २ मोहशत्रुका नाश करके कैवल्य विभूतिका सम्राट् होना ये दो 'उनके जीवनके खास उद्देश्य थे । समन्तभद्र अपने इन उद्देश्योंको पूरा करनेमें बहुत कुछ सफल हुए हैं । यद्यपि, वे अपने इस जन्ममें कैवल्य विभूतिके सम्राट् नहीं हो सके परंतु उन्होंने वैसा होनेके लिये प्रायः संपूर्ण योग्यताओंका संपादन कर लिया है यह कुछ कम सफलता नहीं है— और इसी लिये वे आगामीको उस विभूतिके सम्राट् होंगे—तीर्थंकर होंगे—जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है । केवलज्ञान न होने पर भी, समतभद्र उस स्याद्वादविद्याकी अनुपम विभूतिसे विभूषित थे जिसे केवलज्ञानकी तरह सर्व तत्त्वोंकी प्रकाशित करनेवाली लिखा है और जिसमें तथा केवलज्ञानमें साक्षात्-असाक्षात्का ही भेद माना गया

हे * । इस क्रिये प्रयोजनीय पदार्थोंके सम्बन्धमें आपका ज्ञान बहुत बढ़ा
चका था इसमें अब भी संदेह नहीं है, और इसका अनुभव ऊपरके
फितीने ही भक्तियों तथा समस्तभद्रके प्रयोगसे बहुत कुछ हो जाता है ।
यही वजह है कि श्रीजिनसेनाचार्यने आपका वचनोंसे बेकसी भगवान्
महार्जिके वचनोंके तुल्य प्रकाशमान किया है और दूसरे भी फितीने ही
प्रधान प्रधान आचार्यों तथा विद्वानोंने आपकी शिक्षा और बाणीकी प्रशं
सामें खुला गान किया है + ।

यहाँ तकके इस संपूर्ण परिचयसे यह निश्चय हो जाता
है और इसमें अब भी संदेह नहीं रहता कि समस्तभद्र एक बहुत ही
बड़े महारम्भा थे, समर्थ विद्वान् थे प्रभावशाली आचार्य्य थे महा
मुनिराज थे, स्याद्वाद विद्याके नायक थे, एकल पक्षके निरूद्ध थे,
अबाधितशक्ति थे 'सात्विश्य योगी' थे, सात्विश्य बानी थे, सात्वि-
श्य बाम्नी थे धातुशक्ति थे उत्तम गमक थे सद्गुणोंकी मूर्ति थे, प्रज्ञा
थे, गीर्वाण थे भद्रप्रयोजन और सद्गुणेश्वरके वारक थे हितमित्रभाषी
थे लोकहितैषी थे, विश्वप्रेमी थे, परहितनिरत थे, मुनिजनोसे वंश थे,
बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंसे स्तुत्य थे और जैन शासनके अनुपम
योद्धा थे, प्रभावक थे और प्रसारक थे ।

* यथा—स्वाहात्मकेवकजानी सर्वतरकप्रकाशने ।

येद ज्ञानाद्विज्ञानात् सारल्यव्यवहार मयेत् ॥ १ ॥ ॥

—असनीयाद्य ।

+ स्वैराम्बर साधु तुमिभी जिनविजयका कुछ बोदेसे प्रमत्त बान्धोंके आचार
पर ही लिखत है—“इत्यादि औरत साधक ही अन्य किसी आचार्य्यका ज्ञान
नका हो । —अर्थ सा पं १ ।

ऐसे सातिशय पूज्य महामान्य ओर सदा स्मरण रखने योग्य भगवान् समतभद्र स्वामीके विषयमें श्रीशिवकोटि आचार्यने, अपनी 'रत्न-माला' में जो यह भावना की है कि 'वे निष्पाप स्वामी समतभद्र मेरे हृदयमें रात दिन तिष्ठो जो जिनराजके ऊँचे उठते हुए शासन समुद्रको बढ़ानेके लिये चंद्रमा हैं' वह बहुत ही युक्तियुक्त है और हमें बड़ी प्यारी मादूम देती है । नि सन्देह स्वामी समतभद्र इसी योग्य हैं कि उन्हें निरंतर अपने हृदयमंदिरमें विराजमान किया जाय, और इस लिये हम, शिवकोटि आचार्यकी इस भावनाका हृदयसे अभिनंदन और अनुमोदन करते हुए, उसे यहाँपर उद्धृत करते हैं—

स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः ।

तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाभ्युधिचंद्रमाः ॥ ४ ॥



मुनि-जीवन और आपत्काल ।

—३३६—

स्वामी सम्मतभद्रके बाधारहित और शांत मुनिजीवनमें एक बार कठिन निपत्तिभी भी एक बड़ी भारी कहर आर्ष है, जिसे हम आपका 'आपत्काल' कहते हैं । वह निपाते क्या थी और सम्मतभद्रने इसे कैसे पार किया, यह सब एक बड़ा ही हृदय-द्रावक विषय है । नीचे उल्लेख, उनके मुनि-जीवनसहित, कुछ परिचय और निवार पाठ्योंके ज्ञानसे उपस्थित किया जाता है—

सम्मतभद्र, अपनी मुनिचर्याके अनुसार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दयाकार्य और अपरिग्रह नामके पञ्चमहावर्णोंका यथेष्ट रीतिसे पालन करते थे; ईर्ष्या-माया-एषणादि पञ्चसंश्लेषोंके परिपालनद्वारा उन्हें निरंतर पुद्गल होते थे । पौष्टिक इन्द्रियोंके निग्रहमें सदा उत्पन्न, मनेष्टुति आदि चीनों गुस्तेयोंके पालनमें भी और सामाजिकदि पदार्थस्यक विषयोंके अनुग्रहमें सदा सावधान रहते थे । वे पूर्ण अहिंसाप्रत्यक्ष पालन करते हुए, कष्ट-मयकांठ डेकर किसी भी जीवको अपने मन, बचन या कृत्यसे पीड़ा पहुँचाना नहीं चाहते थे । इस बातका सदा ध्यान रखते थे कि किसी प्राणीको उनके प्रमादद्वारा बाधा न पहुँच जाय इसी छिमे ६ दिनोंमें मर्त्य श्रावणकाल में बहुत-बहुत समय इन्द्रियों इतर उत्तर नहीं आयाते थे, रात्रिको गमन-स्थान नहीं बदलते थे और इतने साधनसंपन्न थे कि सारे समय एकचरणसे रहते थे । यह नहीं होता था कि निद्रास्थानमें एक कर्मठसूरी पलट कर जगत्-जगत् और उसके द्वारा किसी जीव को बाधा पहुँच जाय । पौष्टिक पुस्तकसहित किसी भी वस्तुको देखा भाग्य कर उठते चले जाते थे और मन्त्रसहित भी प्राणिक भूमि तथा बाधारहित एकान्त स्थानमें

क्षेपण करते थे । इसके सिवाय, उन पर यदि कोई प्रहार करता तो वे उसे नहीं रोकते थे, उसके प्रति दुर्भाव भी नहीं रखते थे, जगलमें यदि हिंस्र जंतु भी उन्हें सताते अथवा उस मशकादिक उनके शरीरका रक्त पीते थे तो वे बलपूर्वक उनका निवारण नहीं करते थे, और न ध्यानावस्थामें अपने शरीर पर होनेवाले चींटी आदि जंतुओंके स्वच्छद विहारको ही रोकते थे । वे इन सब अथवा इसी प्रकारके और भी कितने ही, उपसर्गों तथा परीषर्होंको साम्यभावसे सहन करते थे और अपने ही कर्मविपाकका चिन्तन न कर सदा धैर्य धारण करते थे—दूसरोंको उसमें जरा भी दोष नहीं देते थे ।

समन्तभद्र सत्यके बड़े प्रेमी थे, वे सदा यथार्थ भाषण करते थे, इतना ही नहीं बल्कि, प्रमत्तयोगसे प्रेरित होकर कभी दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेवाला सावद्य वचन भी मुँहसे नहीं निकालते थे, और कितनी ही बार मौन धारण करना भी श्रेष्ठ समझते थे । स्त्रियोंके प्रति आपका अनादर भाव न होते हुए भी आप कभी उन्हें रागभावसे नहीं देखते थे, बल्कि माता, बहिन और सुताकी तरहसे ही पहचानते थे, साथ ही, मैथुन कर्मसे, घृणात्मक दृष्टिके साथ, आपकी पूर्ण विरक्ति रहती थी, और आप उसमें द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकारकी हिंसाका सद्भाव मानते थे । इसके सिवाय, प्राणियोंकी अहिंसाको आप 'परमब्रह्म' समझते थे

१ आपकी इस घृणात्मक दृष्टिका भाव 'ब्रह्मचारी' के निम्न लक्षणसे भी पाया जाता है, जिसे आपने 'रत्नकरंडक' में दिया है—

मलबीज मलयोर्नि गलन्मल पूतिगधि बीभत्स ।

पश्यन्नगमनगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी स ॥ १४३ ॥

२ अहिंसा भूताना जगति विदित ब्रह्म परम, /

न सा तन्नारभोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।

और जिस आश्रमविधिमें अणुमात्र भी आरंभ न होता हो उसीके द्वारा उस आश्रमकी पूर्ण सिद्धि मानते थे । उसी पूर्ण अहिंसा और उसी परम ब्रह्मकी सिद्धिके लिए आपने अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिश्रमोंका त्याग किया था और नैर्गम्य आश्रममें प्रविष्ट होकर अपना तात्त्विक दिगम्बर वेध धारण किया था । इसीछिये आप अपने पास कोई कौड़ी पैसा नहीं रखते थे बल्कि कौड़ी पैसेसे सम्बंध रखना भी अपने मुनिपदके विरुद्ध समझते थे । आपके पास शौचोपकरण (कर्म-रत्न), तपोमोपकरण (पीछी) और ज्ञानोपकरण (पुस्तकालय) के रूपमें जो कुछ थोड़ीसी उपवि थी उससे भी आपका समत्व नहीं था—
 भले ही उसे कोई ठका के जाय आपको इसकी बराबरी भी बिम्बा नहीं थी । आप सदा भूमिपर झपन करते थे और अपने शरीरको कभी वस्त्रधारित अथवा मण्डित नहीं करते थे । यदि परीक्षा आकर उस पर फल कम जाता था तो उसे स्वयं अपने हाथसे धोकर दूसरोंको अपना उल्लासक दिखानेकी भी कभी कोई चेष्टा नहीं करते थे । बल्कि उस मन्त्रजित परीक्षको साम्प्रभाबसे जीतकर कर्मफलको घोलनेका मन करते थे और इसी प्रकार नग्न रहते तथा दूसरी सरदी गरमी आदिकी परीक्षाओंकी भी कुसीकुसीसे सहन करते थे । इसीसे आपने अपने एक परिचर्यमें, गौरवके साथ अपने आपको 'नद्याटक' और 'मलमलि नतनु' भी प्रकट किया है ।

समस्तमय दिनमें सिर्फ एक बार भोजन करते थे । रात्रिको कभी भोजन नहीं करते थे और भोजन भी आगमोहित विधिके अनुसार

तदुत्पत्तिद्वयार्थं परमकालो धर्ममुपय

ब्रह्मवेदात्मकादीनां च विद्वत्पक्षेपविरताः ॥ ११५ ॥

—स्वयंभूतोऽत्र ।

शुद्ध, प्रासुक्त न त निर्दाय ही लेते थे । अपने इन नाशक विषे किसी तान्त्रिक भीतर नहीं मिले थे, किन्तु किसी मन्त्रों को अपना भोजन करने कर्मन क विष प्रेरित नहीं करते थे, और यदि उन्हें कोई मादुर हो जाता था कि किन्तु उनके उत्सर्ग को कोई भोजन तथ्यार किया है अथवा किसी दूसरे जतिवि (मेकान) के विषे तथ्यार दिया हुआ भोजन उन्हें दिया जाता है तो वे उन भोजनको नहीं लेते थे । उन्हें उनके लेनेसे साधनपूर्वक नानी लेने का और मादुर पदका भी और साधनपूर्वक वे न ग अपने आपको नन-चन-काय तथा हृत्-कारि अनुमादनाश्रम दूर रखना चाहते थे । वे उसी शुद्ध भोजनको अपने लिये कथित और शास्त्रानुमोदित समझते थे जिस दातारने स्वयं अपने अथवा अपने कुटुम्बके लिये तथ्यार दिया हो, जो उनके हस्त पर उनके आनेसे पहले ही भोजन हो और जिसमें दातार कुछ नश उन्हें भक्तिपूर्वक भेंट करके शायं मध्य संतुष्ट रहना चाहता हो—उसमें अपने भोजनके लिये फिर दोषाग आरंभ करनेकी कोई जरूरत न हो । आप धामरी वृत्तिसे, दातारको कुछ भी ग्राम न पहुँचाते हुए, भोजन लिया करते थे । भोजनके समय यदि आगमकथित दापामेंसे उन्हें कोई भी दोष मालूम पड़ जाता था अथवा कोई अन्तराय सामने उपस्थित हो जाता था तो वे खुशीसे उसी दम भोजनका छोड़ देते थे और इस अलाभके कारण चित्त पर जरा भी भेड नहीं लाते थे । इसके सिवाय आपका भोजन परिमित और सकारण होता था । आगममें मुनियोंके लिये ३२ प्रास तक भोजनकी आज्ञा है परन्तु आप उससे अक्सर दो चार दस प्रास कम ही भोजन लेते थे, और जब यह देखते थे कि बिना भोजन किये भी चल सकता है—नित्यनियमोंके पालन तथा वार्षिक अनुष्ठानोंके सम्पादनमें कोई विशेष बाधा नहीं आती तो

कई कई दिनके लिए बाहारका त्याग करके उपवास भी धारण कर लेते थे अपनी शक्तियों चौकने और उसे बढ़ानेके लिये भी आप भस्वर उपवास किया करते थे, ऊनोदर रखते थे, अनेक रसोंका त्याग कर देते थे और कभी कभी ऐसे कठिन तथा गुप्त नियम भी थे जे जे थे वे बिनकी स्वाभाविक पूर्ति पर ही आपका भोजन अवलम्बित रहता था । वास्तवमें, समस्तमात्र भोजनको इस जीवनप्राप्ताका एक साधन मात्र समझते थे । उसे अपने ज्ञान, ध्यान और संयमादिकी वृद्धि सिद्धि तथा स्थितिको सहायक मात्र मानते थे—और इसी दृष्टिसे उसको प्रवृत्त करते थे । किसी धार्मिक ब्रह्मके बड़ाना, शरीरको पुष्ट बनाना अथवा तेजोवृद्धि करना उन्हें उसके द्वारा इष्ट नहीं था वे स्वादके लिये भी भोजन नहीं करते थे, यही ब्रह्म है कि आप भोजनके प्रसङ्गसे प्राप्त बिना चलाये ही—बिना उसका रसास्वादन किये ही—निराश्र आते थे । आप समझते थे कि जो भोजन केवल ईन्द्रियलोक को क्षम्य रहनेके उद्देशाने किया जाय उसके लिये रसास्वादनकी जरूरत ही नहीं है उसे तो उत्तरस्थ कर कन मात्रकी जरूरत है । साथ ही, उनका यह विश्वास था कि रसास्वादन करनेसे इन्द्रियविषय पुष्ट होता है, इन्द्रियविषयोंके सेवमसे कभी सच्ची शांति नहीं मिलती, लच्छी लुच्छी बन जाती है, लुच्छाकी वृद्धि निरंतर आप उत्पन्न करती है और उस आप अथवा दाहके कारण यह जीव संसारमें अनेक प्रकारकी दुःखपरम्परासे पीड़ित होता है; * इस लिये वे क्षणिक सुखके लिये भी इन्द्रियविषयोंको पुष्ट नहीं करते थे—क्षणिक सुखोंकी

* अतएव भोजनके विषयमें आपका नियम अत्यन्त कठिन था ।

पुष्पादिभोजन उपवासकाल में वास्तविक भोजनकी आवश्यकता है ॥ १६ ॥

—सर्वभूतार्थ ।

नामका एक महारोग उत्पन्न हो गया* । इस रोगकी उत्पत्तिसे यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रके शरीरमें उस समय कफ क्षीण हो गया था और वायु तथा पित्त दोनों बढ़ गये थे; क्योंकि कफके क्षीण होने पर जब पित्त, वायुके साथ बढ़कर कुपित हो जाता है तब वह अपनी गरमी और तेजीसे जठराग्निको अत्यन्त प्रदीप्त, बलाढ्य और तीक्ष्ण कर देता है और वह अग्नि अपनी तीक्ष्णतासे विष्वक् शरीरमें पड़े हुए भोजनका तिरस्कार करती हुई, उसे क्षणमात्रमें भस्म कर देती है । जठराग्निकी इस अत्यन्त तीक्ष्णान्द्राको ही 'भस्मक' रोग कहते हैं । यह रोग उपेक्षा किये जाने पर—अर्थात्, गुरु, म्लिग्ध, शीतल, मधुर और श्लेष्मल अन्नपानका यथेष्ट परिमाणमें अथवा तृप्तिपर्यन्त सेवन न करने पर—शरीरके रक्तमांसादि धातुओंको भी भस्म कर देता है, महादौर्बल्य उत्पन्न कर देता है, तृषा, स्वेद, दाह तथा मूर्च्छादिक अनेक उपद्रव खड़े कर देता है और अन्तमें रोगीको मृत्युमुखमें ही स्थापित करके छोड़ता है + । इस रोगके आक्रमण पर समन्तभद्रने शुद्धशुद्धमें

* ब्रह्मनेमिदत्त भी अपने 'आराधनाकथाकोष' में ऐसा ही सूचित करते हैं । यथा—

दुर्द्धरानेकचारित्ररत्नरत्नाकरो महान् ।

यावदास्ते सुख धीरस्तावत्तत्कायकेऽभवत् ॥

असद्वेद्यमहाकर्मोदयाद्दुर्द्धुः सदायक ।

तीव्रकष्टप्रदं कष्टं भस्मकव्याधिसंशुक्र ॥

—समन्तभद्रकथा, पृष्ठ न० ४, पृष्ठ ५४ ।

+ कट्वादिरूक्षाश्चभुजां नराणां क्षीणे कफे मारुतपित्तवृद्धा ।

अतिप्रवृद्धं पवनान्वितोऽग्निर्भुक्तं क्षणाद्भस्मकरोति यस्मात् ।

तस्मादसौ भस्मकसंशुक्रोऽमृत्युपेक्षितोऽयं पचते च धातून् ।

—इति भावप्रकाश ।

ससखी कुछ पक्का नहीं की । वे स्वेच्छापूर्वक कारण किसे हुए उपवासों तथा अनशनदिक तपोंके अवसर पर जिस प्रकार धुपापरीपहको सहा करते थे वही प्रकार उन्होंने इस अवसर पर भी पूर्ण भम्यासके कष्ट पर, उसे सह लिया—परंतु इस धुपा और उस धुपामें बड़ा अन्तर था वे इस कदती हुई धुपाके कारण, कुछ ही दिन बाद, असह्य कष्ट अनुभव करने लगे, पहले भोजनसे घंटोंके बाद नियत समय पर भूख कुछ उदय होता था और उस समय उपयोगके दूसरी ओर लगे रहने आशिके कारण यदि भोजन नहीं किया जाता था तो वह भूख मर जाती थी और फिर घंटों तक उसका पता नहीं रहता था, परंतु अब भोजनको किसे हुए देर नहीं होती थी कि धुपा मिले तो भोजनकी थी और भोजनके न मिलने पर अठराग्न भोजन भोजनपासके एक मांसको ही खींच खींचकर भोजन करना प्रारंभ कर देती थी । समन्तमयको इससे बड़ी केशना होती थी, धुपाको समान दूसरी शरीरकेन्द्र है भी नहीं; कहा भी गया है—

“ अने शरीरको विषे कुपितं मयस्वानुपमम् ।
 लोचनान्ध पादकल्याणे कलमयीः तपश्चरति ॥
 तथा कलमयको देहे विदुषो कान्तिकोऽपराधः ।
 परियुक्त पचन्तं वैष्णवापाद्य मुमुक्षुः ॥
 पचन्तं सततं बभूवुः कोमितादीन्पचन्तः ।
 ततो दीर्घकालात्तपश्च मृत्युं चोपगच्छतः ॥
 मृत्योर्दोषं कथंते कति जीवन्मृत्यो मत्तान्तरि ।
 मृत्योर्दोषं कथंते कति जीवन्मृत्यो मत्तान्तरि ॥
 मृत्योर्दोषं कथंते कति जीवन्मृत्यो मत्तान्तरि ॥
 मृत्योर्दोषं कथंते कति जीवन्मृत्यो मत्तान्तरि ॥ ”

“ तमेवार्थं गुरुस्मिन्महोत्तमपुरकिम्बुधैः ।
 बहवैर्नैवेद्यान्ति धीमन्महिमिदमनुमि ॥ ”

अभिलाषा करना ही वे परीक्षावानोंके लिये एक कठक और अधर्मक वात समझते थे । आपकी यह खास धारणा थी कि, आत्यन्तिक स्वास्थ्य—अविनाशी स्वात्मस्थिति अथवा कर्ममुक्त अनन्तज्ञानादि अवस्थाकी प्राप्ति ही पुरुषोंका—इस जीवात्माका—स्वार्थ है—स्वप्रयोजन है, क्षणभंगु भोग—क्षणस्थायी प्रियसुखानुभवन—उनका स्वार्थ नहीं है, क्योंकि तृप्तानुपगम—भोगोंकी उत्तरोत्तर आकाक्षा बढ़नेसे—शारीरिक और मानसिक—दुःखोंकी कभी शांति नहीं होती । वे समझते थे कि, यह शरीर ‘अजगम’ है—बुद्धिपूर्वक परिस्पदव्यापाररहित है—और एक यंत्रकी तरह चैतन्य पुरुषके द्वारा स्वव्यापारमें प्रवृत्त किया जाता है, साथ ही ‘मलबीज’ है—मलसे उत्पन्न हुआ है, मलयोनि है—मलकी उत्पत्तिका स्थान है—, ‘गलन्मल’ है—मल ही इससे श्रुत है—, ‘पूति’ है—दुर्गन्धियुक्त है—, ‘बीभत्स’ है—घृणात्मक है—, ‘क्षयि’ है—नाशवान् है—और ‘तापक’ है—आत्माके दुःखोंका कारण है—, इस लिये वे इस शरीरसे स्नेह रखने तथा अनुराग बढ़ानेको अच्छा नहीं समझते थे, उसे व्यर्थ मानते थे, और इस प्रकारकी मान्यता तथा परिणतिको ही आत्महित स्वीकार करते थे * । अपनी ऐसी ही विचार-

* स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेव पुसा, स्वार्थो न भोग परिभगुरात्मा ।

तपोनुपगाश्च च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्व ॥ ३१ ॥

अजगम जगमनेययत्र यथा तथा जीवद्यत शरीर ।

बीभत्सु पूति क्षयि तापक च स्नेहो वृथात्रेति हित स्वमाख्य ॥ ३२ ॥

—स्वयभुस्तोत्र ।

मलबीज मलयोनि, गलन्मल, पूतिगन्धबीभत्स, पश्यद्भगम्—

—रत्नकरडक ।

परिणतिके कारण समस्तमद्र शरीरसे बंध ही निसृष्ट और निर्मम्य रहते थे—उन्हें मोगोसे जरा भी रुचि अथवा प्रीति नहीं थी—; वे इस शरीरसे अपना कुछ पारमार्थिक काम निष्कर्षनेके लिये ही उसे थोड़ासा शुद्ध मोहन करते थे और इस बातकी कोई पर्याह नहीं करते थे कि वह मोहन कृष्ण-विकृता, ठण्ड-गरम, दुखका-भारी, कठुआ कुरापका भाति कैसा है ।

इस छु मोहनेके प्रक्रममें समस्तमद्र अपने शरीरसे पयाशक्ति खूब काम लेते थे। वंछों तक कार्योत्सर्गमें स्थित हो जाते थे। आत्मपनादि योग धारण करते थे, और आध्यात्मिक तपकी दृष्टिके लिये अपनी शक्तिको न छुपाकर, दूसरे भी मिलने ही मनसनाति उग्र उग्र ब्रह्म तपस्वरणोंका अनुष्ठान किया करते थे । इसके सिवाय निरूप ही आपका बहुतसा समय सामायिक, सुनिपाठ प्रतिब्रमण, स्वाध्याय, समाधि, मानना धर्मोपदेश, प्रेरकका और परहितप्रतिपादनादि मिलने ॥ धर्म कार्यमें खर्च होता था । आप अपने समयको जरा भी धर्मसाधनार्थित व्यर्थ नहीं जाने देते थे ।

इस तरहपर, बड़े ही प्रेमके साथ मुनिधर्मका पालन करते हुए, स्वामी समस्तमद्र जब मृगबैकहल्ली ग्राममें धर्मव्यानसहित आनंदपूर्वक अपना मुनिजीवन व्यतीत कर रहे थे और अनेक दुर्दूर तपस्वरणोंका द्वारा महामात्मिके पथमें अग्रेसर हो रहे थे तब एकएक पूर्व-संस्थित असाध्यैदनोय कर्मके तीव्र उदयसे आपके शरीरमें ' मस्मक '

१ बाह्य तप परमब्रह्मसाधनका प्रारम्भिक तपस्य परिदृष्टिकर्षक ५८३०

—स्वयमुत्तीव ।

२ प्रमद यह काम शब्दावलीके में दिया है । यह कार्य के आहाराका कोई भीव जान पड़ता है ।

नामका एक महारोग उत्पन्न हो गया* । इस रोगकी उत्पत्तिसे यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रके शरीरमें उस समय कफ क्षीण हो गिया था और वायु तथा पित्त दोनों बढ़ गये थे, क्योंकि कफके क्षीण होने पर जब पित्त, वायुके साथ बढ़कर कुपित हो जाता है तब वह अपनी गरमी और तेजीसे जठराग्निको अत्यन्त प्रदीप्त, बलाढ्य और तीक्ष्ण कर देता है और वह अग्नि अपनी तीक्ष्णतासे विरूद्ध शरीरमें पड़े हुए भोजनका तिरस्कार करती हुई, उसे क्षणमात्रमें भस्म कर देती है । जठराग्निकी इस अत्यन्त तीक्ष्णावस्थाको ही 'भस्मक' रोग कहते हैं । यह रोग उपेक्षा किये जाने पर—अर्थात्, गुरु, क्षिण, शीतल, मधुर और श्लेष्मल अन्नपानका यथेष्ट परिमाणमें अथवा तृप्तिपर्यन्त सेवन न करने पर—शरीरके रक्तमांसादि धातुओंको भी भस्म कर देता है, महादौर्बल्य उत्पन्न कर देता है, तृषा, स्वेद, दाह तथा मूर्च्छादिक अनेक उपद्रव खड़े कर देता है और अन्तमें रोगीको मृत्युमुखमें ही स्थापित करके छोड़ता है + । इस रोगके आक्रमण पर समन्तभद्रने शुरूशुरूमें

* ब्रह्मनेमिदत्त भी अपने 'आराधनाकथाकोष' में ऐसा ही सूचित करते हैं । यथा—

दुर्द्धरानेकचारित्ररत्नरत्नाकरो महान् ।

यावदास्ते सुखं धीरस्तावत्तत्कायकेऽभवत् ॥

असद्वेद्यमहाकर्मोदयाद्दुःखदायक ।

तीव्रकष्टप्रदं कष्टं भस्मकव्याधिसञ्ज्ञकं ॥

—समन्तभद्रकथा, पृष्ठ न० ४५५

+ कट्वादिरूक्षाश्चभुजां नराणां क्षीणे कफे मारुतपित्तवृद्धौ ।

अतिप्रवृद्धं पवनान्वितोऽग्निर्भुक्तं क्षणाद्भस्मकरोति यस्यात् ।

तस्मादसौ भस्मकसञ्ज्ञकोऽभूदुपेक्षितोऽयं पचते च धातून् ।

—इति भावप्रकाशः ।

इसकी कुछ पर्याप्त नहीं थी । वे स्वेच्छापूर्वक धारण किये हुए उपवासों
ज्या अनशान्दिक तपोंके बबसर पर जिस प्रकार क्षुधापीपइको
पड़ा करते थे उसी प्रकार उन्होंने इस बबसर पर भी पूर्ण अभ्यासके
रूप पर, उसे सह लिया—परन्तु इस क्षुधा और उस क्षुधामें बड़ा अन्तर
था; वे इस कटती हुई क्षुधाके कारण, कुछ ही दिन बाद, अस्वस्थ वेद
नान्न अनुभव करने लगे पहले मोक्षनसंघट्टोंके बाद निम्न समय
न भूखझ कुछ उदय होता था और उस समय उपयोगके
इसरी और लगे रहने आदिके कारण यदि मोक्षन नहीं किया जाता
था तो वह भूख मर जाती थी और फिर घंटों तक उसका पता नहीं
पड़ता था परन्तु जब मोक्षनको किये हुए देर नहीं होती थी कि क्षुधा
फिरसे अब कमजोरी थी और मोक्षनके न मिलने पर अठराभि अपने
आसपासके रक्त मांसको ही खींच खींचकर भस्म करना प्रारम्भ कर
देती थी । सनन्तभद्रको इससे बड़ी वेदना होती थी, क्षुधाकी समान
इसी शरीरवेदना है भी नहीं; कहा भी गया है—

“ अने क्षीयन्ते विभं कुपितं माकृतानुत्तरम् ।
स्वोपमन्त्र पञ्चकन्याके कर्मयोगे पञ्चकन्या ॥
तथा कर्मयोगो वेदे विद्यो ध्यायिष्योऽप्यस्य ।
परिभूय पञ्चकन्या तैयन्मायाह सुहृत्सुहृत् ॥
पञ्चकन्या सततं वाप्यहं क्षोभितान्निपञ्चकन्यापि ।
ततो दीर्घकालमात्रं वाप्यहं क्षोभितान्निपञ्चकन्यापि ॥
मुक्तेऽहं कर्मते क्षातिं दीर्घकाले मत्ताप्यसि ।
तुल्यवेदवाहयुक्तं त्वुक्तान्त्रोऽप्यभिर्धयथा ॥
“ तमेवार्तिं गुह्यलिखितं तव भूरविष्णवे ।
कर्मयोगोऽप्यहं विष्णुमभिनिधायिष्यामि ॥

—इति श्रवः ।

‘क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना ।’

इस तीव्र क्षुधावेदनाके अवसर पर किसीसे भोजनकी याचना करना, दोबारा भोजन करना अथवा रोगोपशान्तिके लिये किसीको अपने वास्ते अच्छे स्निग्ध, मधुर, शीतल गरिष्ठ और कफकारी भोजनोंके तय्यार करनेकी प्रेरणा करना, यह सब उनके मुनिधर्मके विरुद्ध था । इस लिये समन्तभद्र, वस्तुस्थितिका विचार करते हुए, उस समय अनेक उत्तमोत्तम भावनाओंका चिन्तन करते थे और अपने आत्माको सम्बोधन करके कहते थे “हे आत्मन्, तूने अनादि कालसे इस ससारमें परिभ्रमण करते हुए अनेक बार नरक पशु आदि गतियोंमें दुःसह क्षुधावेदनाको सहा है, उसके आगे तो यह तेरी क्षुधा कुछ भी नहीं है । तुझे इतनी भी तीव्र क्षुधा रह चुकी है जो तीन लोकका अन्न खाने पर भी उपशम न हो परन्तु एक कण खानेको नहीं मिला । ये सब कष्ट तूने पराधीन होकर सहे हैं और इसलिये उनसे कोई लाभ नहीं हो सका, अब तू स्वाधीन होकर इस वेदनाको सहन कर । यह सब तेरे ही पूर्व कर्मका दुर्विपाक है । साम्यभावसे वेदनाको सह लेने पर कर्मकी निर्जरा हो जायगी, नवीन कर्म नहीं बँधेगा और न आगेको फिर कभी ऐसे दुःखोंकी उठानेका भय ही प्राप्त होगा ।” इस तरह परसमन्तभद्र अपने साम्यभावको दृढ़ धरे और कषायादि दुर्भावोंको उत्पन्न होनेका नहीं देखा सिवाय वे इस शरीरको कुछ अधिक को विशेष क्षीण होना था कि जिन और जिनका ही की दे। उन्होंने

बैसा ही किया थी—वे अब उपवास नहीं रखते थे, अनशन, ऊन्हेदर, वृत्तिपरिषेख्यान, रसपरिष्याग और कषयकृश नामके बाह्य तपोंके अनुष्ठानको उन्होंने, कुछ कष्टके लिये, एकदम स्पर्गित कर दिया था, भोजनके भी वे अब पूरे ३२ मास छेते व इसक सिषाय रोमी मुनिके लिये जो कुछ भी रिवाजसे मिला सकती थीं वे भी प्रायः सभी उन्होंने प्राप्त कर ली थीं । परंतु यह सब कुछ हाथ हुए भी, आपकी बुधाको जरा भी शक्ति नहीं मिली, वह दिनपर दिन बढ़ती और तीव्रसे तीव्रतर होती जाती थी, जठरानकषी व्याधियों तथा पित्तकी तीक्ष्ण ऊष्मासे शरीर-रक्त रसरक्तदि दग्ध हुआ जाता था, आकारें शरीरके अंगोंपर दूर दूर तक फैला कर रही थीं और निस्पृहा स्वल्प भोजन उनके लिये जरा भी पर्याप्त नहीं होता था—बहु एक अजम्बन्तमान मसिपर पोबेसे बलके छँटे का ही काम देता था । इसके सिषाय यदि किसी दिन भोजनका अन्तराप हो जाता था तो और भी व्याधा गम्भ हो जाता था—बुधा उल्टी उस दिन और भी व्याधा उग्र तथा निर्दय रूप धारण कर लेती थी । इस तरहपर समंतभद्र जिस महावेदनाका अनुभव कर रहे थे उसका पाठक अनुमान भी नहीं कर सकते । ऐसी हान्तरमें अच्छे अच्छे वीरवीरोंका कैयं हृष्ट जाता है, अज्ञान जब हो जाता है और हान्तरुण दगमगा जाता है । परंतु समंतभद्र महामना थे महात्मा थे, भग्न-देहान्त-ज्ञानी थे, संपत्ति-विपत्तिमें समन्वित थे निर्मल सम्पत्तियोंके चारक थे और उनका हान अहोऽस्माभित नहीं था जो दुर्खोंके आने पर क्षीण

१ कष्टाकनमित्तं श्रमं क्षीयते दुःखप्रक्षिप्ते ।

तत्प्राप्तकालं दुःखैरुत्तमं भावयेन्मुनिः ॥

हो जाय, उन्होंने यथाशक्ति उग्र उग्र तपश्चरणोंके द्वारा कष्ट सहन कर अच्छा अम्यास किया था, वे आनदपूर्वक कष्टोंको सहन किया करते थे—उन्हें सहते हुए खेद नहीं मानते थे* और इसलिये, इस सकटके अवसरपर वे जरा भी विचलित तथा धैर्यच्युत नहीं हो सके ।

समन्तभद्रने जब यह देखा कि रोग शान्त नहीं होता, शरीरकी दुर्बलता बढ़ती जा रही है, और उस दुर्बलताके कारण नित्यकी आवश्यक क्रियाओंमें भी कुछ बाधा पड़ने लगी है, साथ ही, प्यास आदिकके भी कुछ उपद्रव शुरू हो गये हैं, तब आपको बड़ी ही चिन्ता पैदा हुई । आप सोचने लगे—“ इस मुनिअवस्थामें, जहाँ आगमोदित विधिके अनुसार उद्गम-उत्पादनादि छयालीस दोषों, चौदह मल-दोषों और बत्तीस अन्तरायोंको टालकर, प्रासुक तथा परिमित भोजन लिया जाता है वहाँ, इस भयंकर रोगकी शातिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती । मुनि पदको कायम रखते हुए, यह रोग प्राय असाध्य अथवा नि प्रतीकार जान पड़ता है, इस लिये या तो मुझे अपने मुनिपदको छोड़ देना चाहिये

* आत्मदेहान्तरज्ञानप्रणिताह्लादनिर्वृत ।

तपसा दुष्कृत घोर भुजानोपि न विद्यते ॥

—समाधितत्र ।

† जो लोग	इन उद्गमादि दोषों	अन्तरायोंका	स्वरूप जानते
हैं और जिन्हें	अच्छा ज्ञान है		उनकी जरूरत नहीं है
कि सबे जैन	के लिये वैसे		कठिनाइयोंका सामना
करते हैं	योंका कारण		कमी नहीं है, बल्कि
अ			प्रायः एक कारण है—
	तिके लिये		भोजन

और या 'सहोसना' कृत धारण करके इस शरीरको धर्मार्पण त्याग-
नेके लिये तयार हो जाना चाहिये परंतु मुनिपद कैसे छोड़ा जा
सकता है ? जिस मुनिधर्मके लिये मैं अपना सर्वस्व अर्पण कर चुका
हूँ, जिस मुनिधर्मके मैं सब प्रेमके साथ सब एक पाऊँता आ रहा हूँ
और जो मुनिधर्म मेरे ध्येयका एक मात्र आधार बना हुआ है उसे क्या
मैं छोड़ दूँ ? क्या क्षुधादि वेदनासे सबकाकर अपना उससे बचनेके
लिये छोड़ दूँ ? क्या इन्द्रियविषयजनित स्वस्य सुखके लिये उस छोड़ दे
दूँ ? यह नहीं हो सकता । क्या क्षुधादि दुःखोंके इस प्रतिस्मरणसे
अपना इन्द्रियविषयजनित स्वस्य सुखके अनुभवनसे इस देहकी
स्थिति उदा एकसी और सुखरूप बनी रहेगी ? क्या फिर इस देहमें
क्षुधादि दुःखोंका उदय नहीं होगा ? क्या मृत्यु नहीं आएगी ? यदि
ऐसा कुछ नहीं है तो फिर इन क्षुधादि दुःखोंके प्रतिस्मरण भातिमें गुण
ही क्या है ? उनसे इस देह अपना देहीका उपकार ही क्या बन
सकता है ? * मैं दुःखोंमें बचनेके लिये कदापि मुनिधर्मको नहीं
छोड़ूँगा मछे ही यह देह नष्ट हो जाय, मुझे उसकी कित्ता नहीं है,
मेरा आत्मा अमर है, उसे कोई नाम नहीं कर सकता मैंने दुःखोंका
स्वागत करनेके लिये मुनिधर्म धारण किया था न कि उनसे बचाने
और बचनेके लिए, मेरी प्रीत्याका यही समय है मैं मुनिधर्मको नहीं

* क्षुधादि दुःखोंके प्रतिस्मरणविषयक आपका यह भाव स्वर्गमुद्रा के
निम्न पक्षों में प्रकट होता है—

क्षुधादिदुःखप्रतिस्मरणः स्थिति—

न केन्द्रियार्थव्यवहारप्रतीक्यता ।

ततो गुण्ये आसित च देहदेहिनो—

वितीवृत्तिर्न भवत्यहं प्रतिस्मरणम् ॥४८॥

छोड़ूंगा ।” इतनेमें ही अतःकरणके भीतरसे एक दूसरी आवाज आई—
 “समतभद्र ! तू अनेक प्रकारसे जैनशासनका उद्धार करने और उसे प्रचार देनेमें समर्थ है, तेरी वदौलत बहुतसे जीवोंका अज्ञानभाव तथा मिथ्यात्व नष्ट होगा और वे सन्मार्गमें लगेंगे, यह शासनोद्धार और लोकहितका काम क्या कुछ कम धर्म है ? यदि इस शासनोद्धार और लोकहितकी दृष्टिसे ही तू कुछ समयके लिये मुनिपदको छोड़ दे और अपने भोजनकी योग्य व्यवस्था द्वारा रोगको शान्त करके फिरसे मुनिपद धारण कर लेवे तो इसमें कौनसी हानि है ? तेरे ज्ञान, श्रद्धान, और चारित्रिक भावको तो इससे जरा भी क्षति नहीं पहुँच सकती, वह तो हर दम तेरे साथ ही रहेगा, तू द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षा अथवा बाह्यमें भले ही मुनि न रहे; परन्तु भावोंकी अपेक्षा तो तेरी अवस्था मुनि जैसी ही होगी, फिर इसमें अधिक सोचने विचारनेकी बात ही क्या है ? इसे आपद्धर्मके तौर पर ही स्वीकार कर, तेरी परिणति तो हमेशा लोकहितकी तरफ रही है, अब उसे गौण क्यों किये देता है ? दूसरोंके हितके लिये ही यदि तू अपने स्वार्थकी थोड़ीसी बलि देकर—अल्प कालके लिये मुनिपदको छोड़कर—बहुतोंका भला कर सके तो इससे तेरे चरित्र पर जरा भी कलक नहीं आ सकता, वह तो उलटा और भी ज्यादा देदीप्यमान होगा, अतः तू कुछ दिनोंके लिये इस मुनिपदका मोह छोड़कर और मानापमानकी जरा भी पर्वाह न करते हुए अपने रोगको शांत करनेका यत्न कर, वह नि प्रतीकार नहीं है, इस रोगसे मुक्त होने पर, स्वस्थावस्थामें, तू और भी अधिक उत्तम रीतिसे मुनिधर्मका पालन कर सकेगा, अब विलम्ब करनेकी जरूरत नहीं है, विलम्बसे हानि होगी ।”

इस तरह पर समतभद्रके हृदयमें कितनी ही देरतक विचारोंका उत्थान और पतन होता रहा । अन्तको आपने यही स्थिर किया कि

“सुदार्दिदुःखोंसे बहराकर उनके प्रतिस्कारके लिये अपने व्यास्य नियमोंको छोड़ना उचित नहीं है; ओकछ हित वास्तवमें ओकछे आश्रित है और मेरा हित मेरे आश्रित है; यह ठीक है कि ओकछी बितनी सेवा मैं करना चाहता था उसे मैं नहीं कर सका; परंतु उस सेवाका मात्र मेरे आश्रममें मौजूद है और मैं उसे अगले जन्ममें पूरा करूँगा; इस समय ओकछहितकी आशा पर आश्रमहितको विगाड़ना मुनासिब नहीं है; इस लिये मुझ अब ‘सहोदयना’ का प्रथम चक्र छे खना चाहिये और सुतुकी प्रतीक्षामें बैठकर शक्तिके साथ इस देहका धर्मार्थ त्याग कर देना चाहिये।” इस निश्चयको लेकर समंतमद्र सहोदयना प्रत्यक्ष आज्ञा प्राप्त करनेके लिये अपने व्योमहृद, तपोहृद, और मनक सहजप्राप्तकृत पूज्य गुरुदेवक पास पहुँचे और उनसे अपने रोगका सारा हाल निवेदन किया। साथ ही, उनपर यह प्रकट करते हुए कि मेरा रोग निःप्रतीकार जान पड़ता है और एकाकी निःप्रतीकारस्थामें ‘सहोदयना’ का शरण लेना ही श्रेष्ठ कहा गया है * यह विनम्र प्रार्थना की कि ‘मम आप कृपाकर मुझ सहोदयना धारण करनेकी आज्ञा प्रदान करें और यह आशीर्वाद दें कि मैं साहसपूर्वक ओर सहर्ष उसका निर्वाह करनेमें समर्थ हो सकूँ। समंतमद्रकी इस विज्ञापना और प्रार्थनाकी सुनकर गुरुजी कुछ दूरके लिये मौन रहे, उन्होंने समंतमद्रके मुखमंडल (चेहरे) पर एक गंभीर छवि डाली और फिर अपने

१ राजाजीकीसे से वह तो पता चलता है कि समंतमद्रके पुरुषत्व उस समय मौजूद थे और समंतमद्र सहोदयनाकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये उनके पास पधे थे वरन् वह मायात्मक नहीं हो सका कि उनका क्या काम था।

* उपर्युक्त दूर्ध्वसे अवशिष्ट शक्तियों का निःप्रतीकार।

वर्माचल उज्जयिनीजयमाहात्म्ये श्लोकावली ॥ १२२ ॥

—राजकरीबक।

योगबलसे मालूम किया कि समतभद्र अल्पायु नहीं है, उसके द्वारा धर्म तथा शासनके उद्धारका महान् कार्य होनेको है इस दृष्टिसे वह सल्लेखनाका पात्र नहीं, यदि उसे सल्लेखनाकी इजाजत दी गई तो वह अकालहीमें कालके गालमें चला जायगा और उससे श्रीवीरभगवानके शासन कार्यको बहुत बड़ी हानि पहुँचेगी, साथ ही, लोकका भी बड़ा अहित होगा । यह सब सोचकर गुरुजीने, समतभद्रकी प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए, उन्हें बड़े ही प्रेमके साथ समझाकर कहा “उत्स, अभी तुम्हारी सल्लेखनाका समय नहीं आया, तुम्हारे द्वारा शासनकार्यके उद्धारकी मुझे बड़ी आशा है, निश्चय ही तुम धर्मका उद्धार और प्रचार करोगे, ऐसा मेरा अन्त करण कहता है, लोकको भी इस समय तुम्हारी बड़ी जरूरत है, इस लिये मेरी यह खास इच्छा है और यही मेरी आज्ञा है कि तुम जहापर ओर जिम वेपमें रहकर रोगोपशमनके योग्य तृप्तिपर्यंत भोजन प्राप्त कर सको वहीं पर खुशीसे चले जाओ ओर उसी वेपको धारण कर लो, रोगके उपशात होने पर फिरसे जैनमुनि-दीक्षा धारण कर लेना ओर अपने सब कामोंको सँभाल लेना । मुझे तुम्हारी श्रद्धा और गुणज्ञतापर पूरा विश्वास है, इसी लिये मुझे यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि तुम चाहे जहाँ जा सकते हो और चाहे जिस वेपको धारण कर सकते हो, मैं खुशीसे तुम्हें ऐसा करनेकी इजाजत देता हूँ ।”

गुरुजीके इन मधुर तथा सारगर्भित वचनोंको सुनकर और अपने अन्त करणकी उस आवाजको स्मरण करके समतभद्रका यह निश्चय हो गया कि इसीमें जरूर कुछ हित है, इस लिये आपने अपने सल्लेखनाके विचारको छोड़ दिया और गुरुजीकी आज्ञाको शिरोधारण कर आप उनके पाससे चल दिये ।

अब समस्तमात्रको यह विन्ता ॥ कि दिगम्बर मुनिबेपको यदि छोड़ा जाय तो फिर कौनसा वेप धारण किया जाय, और वह वेप कैसा हो या भवैक । अपने मुनिबेपको छोड़नेका खयाल आते ही उन्हें फिर दुःख होने लगा और वे सोचने लगे—“ जिस दूसरे बेपको मैं आज तक विद्वत् और अप्राकृतिक बेप समझता आ रहा हूँ उसे मैं कैसे धारण करूँ ! क्या उसीको अब मुझे धारण करना होगा ! क्या गुरुजीकी ऐसी ही आज्ञा है ?—हाँ, ऐसी ही आज्ञा है । उन्होंने स्पष्ट कहा है ‘ यही मेरी आज्ञा है, ’— चाहे जिस बेपको धारण कर लो, रोगके उपशान्त होने पर फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर लेना तब तो इसे अक्षय्य शक्ति मन्त्रिण्यता कहना चाहिये । यह ठीक है कि मैं बेप (किंग) को ही सब कुछ नहीं समझता—उसीको मुक्तिका एक मात्र कारण नहीं जानता—वह देहाश्रित है और देह ही इस व्यापकाका संसार है इस लिये मुक्त मुमुक्षुका—संसार बंधनोंसे छूटनेके इच्छुकका—किसी बेपने एकान्त आश्रय नहीं हो सकता; फिर भी मैं बेपके विद्वत् और अविद्वत् ऐसे दो भेद अन्तर मानता हूँ, और अपने लिये अनिद्वत् बेपने रहना ही अधिक अच्छा समझता हूँ । इसीसे, यद्यपि,

१—...उत्पत्तिमार्गं परममार्गं प्रत्यक्षमर्थं ।

यथादेवात्मादीनां च विष्णुतत्त्वोपविरतः ॥—सबन्धः ।

* श्रीपूज्यपादके समाधिचरणों भी वैचरिपत्रमें ऐसा ही मत्त प्रदिपादित
वा पत्त है; वचा—

किंयं वेदाभिरं एतं वेद एषाम्भो यम् ।

॥ सुखं भवति भवत्तु भवत्तु ॥

जर्बोद—किम (अन्तराकरण वाग्व्याप्ति) विहायित है और ये ही वाग्व्याप्य संसार है, इस विषये जो योग किम (किम) का ही एकाग्र वाग्व्याप्य रहते हैं—असीन्दो मुक्तिमन्त अरण्य सम्यक्ते हैं—ये संसारवाग्व्याप्य नहीं रहते ।

उस दूसरे वेषमें मेरी कोई रुचि नहीं हो सकती, मेरे लिये वह एक प्रकारका उपसर्ग ही होगा और मेरी अवस्था उस समय अधिकतर चेलोपसृष्ट मुनि जैसी ही होगी परंतु फिर भी उस उपसर्गका कर्ता तो मैं खुद ही हूँगा न ? मुझे ही स्वयं उस वेषको धारण करना पड़ेगा । यही मेरे लिये कुछ कष्टकर प्रतीत होता है । अच्छा, अन्य वेष न धारण करूँ तो फिर उपाय भी अब क्या है ? मुनिवेषको कायम रखता हुआ यदि भोजनादिके विषयमें स्वेच्छाचारसे प्रवृत्ति करूँ, तो उससे अपना मुनिवेष लज्जित और कलकित होता है, और यह मुझसे नहीं हो सकता, मैं खुशीसे प्राण दे सकता हूँ परंतु ऐसा कोई काम नहीं कर सकता जिससे मेरे कारण मुनिवेष अथवा मुनिपदको लज्जित और कलकित होना पड़े । मुझसे यह नहीं बन सकता कि जैनमुनिके रूपमें मैं उस पदके विरुद्ध कोई हीनाचरण करूँ, और इस लिये मुझे अब लाचारीसे अपने मुनिपदको छोड़ना ही होगा । मुनिपदको छोड़कर मैं 'क्षुल्लक' हो सकता या, परंतु वह लिंग भी उपयुक्त भोजनकी प्राप्तिके योग्य नहीं है—उस पदधारीके लिये भी उद्दिष्ट भोजनके त्याग आदिका कितना ही ऐसा विधान है, जिससे उस पदकी मर्यादाको पालन करते हुए रोगोपशातिके लिये यथेष्ट भोजन नहीं मिल सकता, और मर्यादाका उल्लंघन मुझसे नहीं बन सकता—इस लिये मैं उस वेषको भी नहीं धारण करूँगा । बिल्कुल गृहस्थ बन जाना अथवा यों ही किसीके आश्रयमें जाकर रहना भी मुझे इष्ट नहीं है । इसके सिवाय मेरी चिरकालकी प्रवृत्ति मुझे इस बातकी इजाजत नहीं देती कि—मैं अपने भोजनके लिये किसी व्यक्ति-विशेषको कष्ट दूँ, मैं अपने भोजनके लिये ऐसे ही किसी निर्दोष मार्गका अवलम्बन लेना चाहता हूँ जिसमें खास मेरे लिये किसीको भी भोज-

मन्त्र कोई प्रबंध न करना पड़े और भोजन भी पर्याप्त रूपमें उपलब्ध होता रहे ।'

पड़ी सब सीबकर मयका इसी प्रकारके बहुतसे उद्यापेइके मल आपने अपने दिगम्बर मुनिवेशक आदरक साथ साथ किया और साथ ही, उदासीन भावसे, अपने शरीरको पवित्र भस्मसे आच्छादित करना प्रारंभ कर दिया । उस समयका दृश्य बड़ा ही कल्पान्वित था । देखते भस्मको मल्ले हुए आपकी ओरों कुछ आर्द्र हो आर्द्र थी । जो ओरों भस्मक व्यापिका ठीक केवलसे भी कभी आर्द्र नहीं हुई थी उनका इस समय कुछ आर्द्र हो जाना साधारण बात न थी । संभव मुनिब्रह्मके हृदय भी आपको देखकर गर मयका था और वे सभी मातीकी अलंभ्य सक्ति तथा कर्मके दुर्विपाकका ही चिन्तन कर रहे थे । समतमद्र जब अपने देहपर भस्मका छेप कर लुके तो उनके बहिरामें भस्म और अंतर्मुखें सम्पद्दर्शनदि निर्मल गुणोंके दिव्य प्रकाशको देखकर ऐसा मादुर्य होता था कि एक महाकायान्तिमान राज कर्मसे भित्त हो रहा है और वह कर्म उस स्तनमें प्रविष्ट न हो सकनेसे उसका कुछ भी भिगव नहीं सकता । अथवा ऐसा जान पड़ता था कि समतमद्रने अपनी भस्मकायिकों भस्म करने—उसे शांत बनाने—के लिये यह 'भस्म का दिव्य प्रयोग किया है । अस्तु । संभवों अगिवादन करके जब समतमद्र एक वीर धैर्याकी तरह कार्यसिद्धिके लिये 'मणुष्यकृष्टी से चल दिये ।

राजापंडितों के अनुसार, समतमद्र मणुष्यकृष्टीसे चलकर कभी 'पड़ने और वहीं 'शिवकोटि राजाके पास समबत उसके

* आपत्कालमिति कल्पकाले धर्माचार्यकृतिका ।

शोभिकोऽपि महाकायः कर्ममार्गो समिर्भवा ॥

—आ कथाकोश ।

‘भीमलिंग’ नामक शिवालयमें ही, जाकर उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया, रात उनका भद्राकृति आदिको देखकर विस्मित हुआ और उसने उन्हें ‘शिव’ समझकर प्रणाम किया, धर्मकृत्योंका हाल पूछे जाने पर राजाने अपनी शिवभक्ति, शिवाचार, मंदिरनिर्माण और भीमलिंगके मंदिरमें प्रतिदिन वारह खड्डुग परिमाण तटुलान्न विनियोग करनेका हाल उनसे निवेदन किया, इस पर समन्तभद्रने, यह कह कर कि ‘मैं तुम्हारे इस नैवेद्यको शिवार्पण करूंगा,’ उस भोजनके साथ मंदिरमें अपना आसन ग्रहण किया, और किवाड़ बंद करके सबको चले जानेकी आज्ञा दी । सब लोगोंके चले जाने पर समन्तभद्रने शिवार्थ जठराग्निमें उस भोजनकी आहुतियों देनी आरम्भ की और आहुतियाँ देते देते उस भोजनमेंसे जब एक कण भी अवशिष्ट नहीं रहा तब आपने पूर्ण तृप्ति लाभ करके, दरवाजा खोल दिया । संपूर्ण भोजनकी समाप्तिको देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ । अगले दिन उसने और भी अधिक भक्तिके साथ उत्तम भोजन भेंट किया परन्तु पहले दिन प्रचुरपरिमाणमें तृप्तिपर्यंत भोजन कर लेनेके कारण जठराग्निके कुछ उप-शात होनेसे, उस दिन एक चौथाई भोजन बच गया, और तीसरे दिन आधा भोजन शेष रह गया । समन्तभद्रने साधारणतया इस शेषान्नको

१ ‘खड्डुग’ कितने सेरका होता है, इस विषयमें वर्णा नेमिसाराजीने, ५० शातिराजजी शास्त्री मैसूरके पत्राधार पर हमें यह सूचित किया है कि बेंगलूर प्रान्तमें २०० सेरका, मैसूर प्रान्तमें १८० सेरका, हेगडदेवनको ८० सेरका और शिमोगा डिस्ट्रिक्टमें ६० सेरका खड्डुग प्रचलित है, और ८० सेरका परिमाण सर्वत्र ८० तोलेका है । उस समय खास कांचीमें कितनी सेरका खड्डुग प्रचलित था । संभवतः ८० सेरका से तो कम न

२ ‘शिवार्पण’ में कितना

देवप्रसाद बरकतवा परंतु राज्यको उससे संतोष नहीं हुआ। चौथे दिन जब और भी अधिक परिमाणमें मोहन बच गया तब राजा को संदेह पड़ गया और उसने पौनर्षे दिन मंदिरको, उस भस्तर पर, अपनी सेनासे बिरवानर दरवाजेको बंद कर देनेकी आज्ञा दी। दरवाजेको खोलनेके लिये बहुतसा कलकल हाट होने पर समंतभद्रने उपसर्गका अनुमति किया और उपसर्गकी निवृत्तिपर्यंत समस्त बाह्य पालक त्याग करके तथा शरीरसे बिछनुक ॥ मगध छोड़कर, आपने वही ही भक्ति का एक प्रविष्टसे श्रीगुरुमादि चतुर्भिः शक्ति तीर्थकोकी स्तुति करना आरंभ किया। स्तुति करते हुए समंतभद्रने जब बाठवें तीर्थपर श्रीचंद्रप्रभ स्वामीकी भठेप्रकार स्तुति करके श्रीमन्निगाकी ओर दृष्टि की तो उन्हें उस स्थानपर किसी दिव्य शक्तिके प्रतापसे, अचानक अनुसुक्त भाईत भगवानका एक आत्मस्थमान दुर्कर्मप विद्या किन्तु, विभूतिसहित, प्रकट होत हुआ दिखलाई दिया। यह दृष्टकर समंतभद्रन दरवाजा खोल दिया और आप शप तीर्थकोकी स्तुति करनेमें लगीन हो गये। दरवाजा खुलते ही इस महात्म्यको देखकर शिवकोटि राजा बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ और अपने छोटे भाई 'शिवायन' सहित, योगिराज श्रीसमंतभद्रको उदर नमस्कार करता हुआ उनके चरणोंमें गिर पड़ा। समंतभद्रने, श्रीचंद्रप्रभ महावीरपर्यंत स्तुति कर चुकनेपर, शप उठकर दोनोंको आशीर्वाद दिया। इसके बाद बर्मका विस्तृत स्वरूप सुनकर राजा संसार-हे-भोगोंसे किरक हो गया और उसने अपने पुत्र 'श्रीकंठ' को राज्य देकर 'शिवायन' सहित उन मुनिमहाराजक समीप गिनदीक्षा धारण की। और भी चितने

ही लोगोंकी श्रद्धा इस माहात्म्यसे पलट गई और वे अणुव्रतादिकके धारक हो गये * ।

इस तरहपर समंतभद्र थोड़े ही दिनोंमें अपने 'भस्मक' रोगको भस्म करनेमें समर्थ हुए, उनका आपत्काल समाप्त हुआ, और देहके प्रकृतिस्थ हो जानेपर उन्होंने फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर ली ।

श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखमें भी, जो आजसे करीब आठ सौ वर्ष पहलेका लिखा हुआ है, समन्तभद्रके 'भस्मक' रोगकी शांति, एक दिव्यशक्तिके द्वारा उन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति और योगसामर्थ्य अथवा वचन-बलसे उनके द्वारा 'चंद्रप्रभ' (विम्ब) की आकृष्टि आदि किननी ही बातोंका उल्लेख पाया जाता है । यथा—

बंधो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-

दत्तोदात्तपद-स्वमंत्रवचनव्याहृतचंद्रप्रभः ।

आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ

जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि, जो अपने 'भस्मक' रोगको भस्मसात् करनेमें चतुर हैं, 'पद्मावती' नामकी दिव्य शक्तिके द्वारा जिन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति हुई, जिन्होंने अपने मंत्रवचनोंसे (विम्बरूपमें) 'चंद्रप्रभ' को बुला लिया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी

* देखो 'राजावलिकथे' का वह मूल पाठ, जिसे मिस्टर लेविस राइस साहबने अपनी Inscriptions at Sravanabelgola नामक पुस्तककी प्रस्तावनाके पृष्ठ ६२ पर उद्धृत किया है । इस पाठका अनुवाद हमें वर्णी नेमि-सागरकी कृपासे प्राप्त हुआ, जिसके लिये हम उनके आभारी हैं ।

१ इस शिलालेखका पुराना नवर ५४ तथा नया न० ६७ है, इसे 'मन्त्रिषेण-प्रशस्ति' भी कहते हैं, और यह शक संवत् १०५० का लिखा हुआ है ।

द्वेन मार्गे (धर्म) इस कठिनालयमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ, वे गण-
नायक आचार्य समेतभद्र पुन पुनः कर्म किये जानेके योग्य हैं ।

इस परिषद में, यद्यपि, ' शिवकोटि ' राजमन्त्र कोई नाम नहीं है;
परंतु जिन पटञ्जलीयों इसमें उल्लेख है वे ' राजवल्लिख्ये ' आदिके
अनुसार शिवकोटि राजाके ' शिवालय ' से ही सम्बन्ध रखती हैं ।
' सेन्नाजकी पहाड़ी ' से भी इस विषयका सम्बन्ध होता है । उसमें
भी ' भीमसेना शिवालयमें शिवकोटि राजाके समेतभद्रद्वारा चमत्कृत
और दीक्षित होनेका उल्लेख मिलता है । साथ ही उसे ' नवतिथिना '
देखकर ' महाराज ' सूचित किया है, जिसकी राजधानी उस समय
संभवतः ' काशी ' ही होगी । यथा—

“(स्वस्ति) नवतिथिदेवाभिरामराधाभिरामभीमलिङ्गस्व
यन्वादिस्तोत्रकोत्कीर्ण(!) मन्त्रसन्त्रचन्द्रिकाविषययज्ञः श्रीचन्द्र
विनेन्द्रसहस्रनसहस्रपद्मकौतुहलकलिविषयकोटिमहाराजतपोरा-
ज्यस्यापकाचान्भीमसमन्तमद्रस्वामिनाम् ॥ ”

इसके सिवाय ' विक्रान्तवीरव ' नाटक और अरजदेवनाथके
शिवालय नं० १ ५ (पृष्ठा नं० २५४) से यह भी पता चलता है
कि ' शिवकोटि ' समेतभद्रके प्रधान शिष्य थे । यथा—

शिष्यो तदीयो शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेभ्यो ।
कृत्स्नभुव भीशुक्लदसूते क्षणीतर्कतो भवतः कृतार्यो ॥

—विक्रान्तवीरव ।

१ ' त्व' से वीरव तकका पाठ कुछ अलग मान पड़ता है ।

* नवतिथ्यन्तमाह्वय विरच १ की पृ ३८ ।

२ यह सब विनेन्द्रअनाथाश्रमपुरव की प्रकृतियों की जाया जाता है ।

ही लोगोंकी श्रद्धा इस माहात्म्यसे पलट गई और वे अणुत्रतादिकके धारक हो गये * ।

इस तरहपर समन्तभद्र थोड़े ही दिनोंमें अपने 'भस्मक' रोगको भस्म करनेमें समर्थ हुए, उनका आपत्काल समाप्त हुआ, और देहके प्रकृतिस्थ हो जानेपर उन्होंने फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर ली ।

श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखमें भी, जो आजसे करीब आठ सौ वर्ष पहलेका लिखा हुआ है, समन्तभद्रके 'भस्मक' रोगकी शांति, एक दिव्यशक्तिके द्वारा उन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति और योगसामर्थ्य अथवा वचन-बलसे उनके द्वारा 'चद्रप्रभ' (विम्ब) की आकृष्टि आदि कितनी ही बातोंका उल्लेख पाया जाता है । यथा—

बंधो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-

दत्तोदात्तपद-स्वमंत्रवचनव्याहृतचंद्रप्रभः ।

आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ

जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि, जो अपने 'भस्मक' रोगको भस्मसात् करनेमें चतुर हैं, 'पद्मावती' नामकी दिव्य शक्तिके द्वारा जिन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति हुई, जिन्होंने अपने मंत्रवचनोंसे (विम्बरूपमें) 'चद्रप्रभ' को बुला लिया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी

* देखो 'राजावलिकथे' का वह मूल पाठ, जिसे मिस्टर लेविस राइस साहबने अपनी Inscriptions at Sravanabelgola नामक पुस्तककी प्रस्तावनाके पृष्ठ ६२ पर उद्धृत किया है । इस पाठका अनुवाद हमें वर्णी नेमि-सागरकी कृपासे प्राप्त हुआ, जिसके लिये हम उनके आभारी हैं ।

१ इस शिलालेखका पुराना नंबर ५४ तथा नया न० ६७ है, इसे 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' भी कहते हैं, और यह शक संवत् १०५० का लिखा हुआ है ।

मैन मार्ग (धर्म) इस कठिनायमें सब ओरसे भयरूप हुआ, वे गज मायक आचार्य समेतमत्र पुन पुन कदम किये जानेके योग्य हैं ।

इस परिषद में, यद्यपि, ' शिवाकोटि ' उपाय कोई नम नहीं है; परंतु दिन घटन्यमोक्ष इसमें उल्लेख है वे ' राजासिन्धु ' आदिके अनुसार शिवाकोटि उपायके ' शिवालय ' से ही सम्बन्ध रखती हैं । ' सेनागणकी पञ्चमी ' से भी इस विषयका समर्पण होता है । उसमें भी ' मीमांसा शिवालयमें शिवाकोटि उपायके समेतमत्रद्वारा चम्पकृत और दीक्षित इनके उल्लेख मिलता है । साथ ही उसे ' नवतिथि ' हेतुका ' मन्त्रालय ' सूचित किया है, जिसकी राजधानी उस समय संभवतः ' काशी ' ही होगी । यथा—

“(स्वस्ति) नवतिथिदेवाभिरामाद्याभिराममीमलिहस्वे-
पेन्वादिस्तोत्रकोत्कीरण(!) स्तुतान्त्रचन्द्रिकाविषयद्वयः श्रीचन्द्र
जिनेन्द्रसहस्रनसप्तपञ्चमस्तुतकल्पितशिवकोटिमहाराजतपोर-
व्यस्वापकाचार्यभीमस्तमन्त्रमद्रस्वामिनाम् ॥ ”

इसके शिष्य ' निरुक्तकोश ' नाटक और भवणसेतुकोटि
शिवालय नं० १०५ (नया नं० २५७) से यह भी पता चलता है
कि ' शिवाकोटि ' समेतमद्रके प्रधान शिष्य थे । यथा—

शिष्यौ तदीयौ शिवाकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदौ वरेभ्यौ ।
कृत्स्नभुवं भीगुस्यादमूले क्षपीतवतौ भवतः कृतार्थौ ॥

—निरुक्तकोश ।

१ ' स्वयं ' के औरक एकका पाठ कुछ जगह पात्र सकता है ।

• वैदिकग्रन्थमालका किरण १ की पृ १ ।

२ यह पद्य जिनेन्द्रकल्याणपुराण की प्रस्ताविकमें भी पाया जाता है ।

ही लोगोंकी श्रद्धा इस माहात्म्यसे पलट गई और वे अणुत्रतादिकके धारक हो गये * ।

इस तरहपर समंतभद्र थोड़े ही दिनोंमें अपने 'भस्मक' रोगको भस्म करनेमें समर्थ हुए, उनका आपत्काल समाप्त हुआ, और देहके प्रकृतिस्थ हो जानेपर उन्होंने फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर ली ।

श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखमें भी, जो आजसे करीब आठ सौ वर्ष पहलेका लिखा हुआ है, समन्तभद्रके 'भस्मक' रोगकी शांति, एक दिव्यशक्तिके द्वारा उन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति और योगसामर्थ्य अथवा चचन-बलसे उनके द्वारा 'चद्रप्रभ' (विम्ब) की आकृष्टि आदि किननी ही बातोंका उल्लेख पाया जाता है । यथा—

वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-

दत्तोदात्तपद-स्वमंत्रवचनव्याहृतचंद्रप्रभः ।

आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ

जैन वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मृदुः ॥

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि, जो अपने 'भस्मक' रोगको भस्ममात् करनेमें चतुर हैं, 'पद्मावती' नामकी दिव्य शक्तिके द्वारा जिन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति हुई, जिन्होंने अपने मंत्रवचनोंसे (विम्ब-रूपमें) 'चद्रप्रभ' को बुला लिया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी

* देखो 'राजावलिकथे' का वह मूल पाठ, जिसे मिस्टर लेविस् राइस साहबने अपनी Inscriptions at Sravanabelgola नामक पुस्तककी प्रस्तावनाके पृष्ठ ६२ पर उद्धृत किया है । इस पाठका अनुवाद हमें वर्णी नेमि-सागरकी कृपासे प्राप्त हुआ, जिसके लिये हम उनके आभारी हैं ।

१ इस शिलालेखका पुराना नंबर ५४ तथा नया न० ६७ है, इसे 'मल्लियेण-प्रशस्ति' भी कहते हैं, और यह शक सवत् १०५० का लिखा हुआ है ।

जैन मार्ग (धर्म) इस कठिणार्थमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ, वे गण नायक आचार्य समेतमद्र पुन पुन कंदरा किये ज्योके योग्य हैं ।

इस परिषद में, यद्यपि, ' शिवकोटि ' राज्यका कोई नाम नहीं है, परंतु जिन घटनक्रमोंका इसमें उल्लेख है वे ' राज्यवर्णिके ' आदिके अनुसार शिवकोटि राजाके ' शिवालय ' से ही सम्बन्ध रखती हैं । ' सेनापति पदवी ' से भी इस विषयका सम्पर्क होता है । उसमें भी ' भीमसेना शिवालयमें शिवकोटि राजाके समेतमद्रप्रणय भक्तकृत और दीक्षित होनेका उल्लेख मिलता है । साथ ही उसे ' नवतिथि ' हेतुका ' महाराज ' सूचित किया है, जिसकी राजधानी उस समय समस्त ' कंबी ' ही होगी । यथा—

“ (स्वस्ति) नवतिथिदेवाभिरामराधाभिरामभीमलिङ्गस्व-
पंन्वादिस्तोत्रकोत्कीर्ण (!) स्त्रसन्त्रचन्द्रिकाविश्वदयः श्रीचन्द्र
चिनेन्द्रसर्षनसद्वृत्तचक्रौत्तरकलितशिवकोटिमहाराजतपोरा-
ज्यस्यापकापापभीमसमन्तमद्रस्वामिनाम् ॥ ”

इसके शिवाय ' विष्णुचक्रौत्तर ' नाटक और अजयमेनोरके शिखरेख नं० १ ५ (नया नं० २५४) से यह भी पता चलता है कि शिवकोटि समेतमद्रके प्रजापति शिष्य थे । यथा—

शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेष्यौ ।
कृत्स्नभुवं भीगुल्लामूलं दधीतर्पणी गणतः कृतार्थौ ॥

—विष्णुचक्रौत्तर ।

१ ' स्वर्ग ' की रथ तकल वाट कुछ जलद जान पड़ता है ।

२ वेदविद्वान्तमास्त्र किरण १ की पृ १ ।

३ यह वह चिनेन्द्रजनाममुद्रण की प्रकृतियों भी बना गया है ।

तस्यैव शिष्यशिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः ।
संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलं चकार ॥

—श्र० शिलालेख ।

‘विक्रान्तकौरव’ के उक्त पद्यमें ‘शिवकोटि’ के साथ ‘शिवायन’ नामके एक दूसरे शिष्यका भी उल्लेख है, जिसे ‘राजावलिकथे’ में ‘शिवकोटि’ राजाका अनुज (छोटाभाई) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उसने भी शिवकोटिके साथ समतभद्रसे जिनदीक्षा ली थी, * परन्तु शिलालेखवाले पद्यमें वह उल्लेख नहीं है और उसका कारण पद्यके अर्थपरसे यह जान पड़ता है कि यह पद्य तत्त्वार्थसूत्रकी उस टीकाकी प्रशस्तिका पद्य है जिसे शिवकोटि आचार्यने रचा था, इसी लिये इसमें तत्त्वार्थसूत्रके पहले ‘एतत्’ शब्दका प्रयोग किया गया है और यह सूचित किया गया है कि ‘इस’ तत्त्वार्थसूत्रको उस शिवकोटि सूरिने अलंकृत किया है जिसका देह तपस्वपी लताके आलबनके लिये यष्टि बना हुआ है । जान पड़ता है यह पद्य उक्त टीका परसे ही शिलालेखमें उद्धृत किया गया है, और इस दृष्टिसे यह पद्य बहुत प्राचीन है और इस बातका निर्णय करनेके लिये पर्याप्त मालूम होता है कि ‘शिवकोटि’ आचार्य स्वामी समन्तभद्रके शिष्य थे + । आश्चर्य नहीं जो ये ‘शिवकोटि’ कोई राजा ही हुए हों ।

* यथा—शिवकोटिमहाराज भग्ननप्पुदरिं निजानुज वेरस संसारशरीर-भोगनिर्वेगादिं श्रीकठनेम्बसुतगे राज्यमनित्तु शिवायन गूढिय आ मुनिपराछिये जिनदीक्षेयनान्तु शिवकोट्याचार्यरागि .. ।

१ इससे पहले दो पद्य भी उसी टीकाके जान पड़ते हैं, और वे ऊपरसे ‘गुणादिपरिचय’में उद्धृत किये जा चुके हैं ।

+ नगरताल्लुकेके ३५ वें शिलालेखमें भी ‘शिवकोटि’ आचार्यको समन्तभद्रका शिष्य लिखा है (E C VIII) ।

देवगमनी वसुवन्दितृतिमे मंगलावरणका प्रथम पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

सार्धश्रीकुम्भयूषण क्षतरिषु सर्वार्थसंसाधनं
सञ्जीवेरकलंकमावविष्टते संस्कारकं सत्पथम् ।
निष्पातं नमसामरे यतिपतिं ज्ञानांशुसद्भास्करं
मत्तारं वसुपाठमावतमसो कन्दामहे बुद्धये ॥

यह पद्य द्व्यर्थक है, और इस प्रकारके द्व्यर्थक प्रत्येक पद्य बहुत प्रयोगमें पाये जाते हैं। इसमें बुद्धिवृद्धिके लिये जिस 'यतिपति' का नमस्कार किया गया है उससे एक अर्थमें 'श्रीकृष्णानन्दस्वामी' और दूसरेमें 'समन्तमन्त्रस्वामी' का अभिप्राय जान पड़ता है। यतिपतिके जितने विशेषण हैं वे भी दोनोंपर ठीक चटित हो जाते हैं। 'मङ्गलक मावकी व्यवस्था करनेवाली सञ्जीति (स्थापदनीति) के सत्पथको संस्कारित करनेवाले' ऐसा जो विशेषण है वह समन्तमन्त्रके लिये मङ्गलकलंकदेष और श्रीनिधानन्द जैसे आचार्यों द्वारा प्रयुक्त विशेषणोंसे मिलता जुलता है। इस पद्यके अनन्तर ही दूसरे पद्यमें, जो ऊपर उद्धृत भी किया जा चुका है समन्तमन्त्रके मत्तको नमस्कार किया है। मत्तको नमस्कार करनेसे पहले खास समन्तमन्त्रको नमस्कार किया जाना म्हात्मा संमन्त्रमीम तथा उक्ति माद्रुम होता है। इसके सिवाय इस श्रुतिके अन्तमें जो मंगल पद्य दिया है वह भी द्व्यर्थक है और उसमें साफ तौरसे परमार्थनिरूपणी 'समन्तमन्त्रदेष' को नमस्कार

१ अर्थक भी हो सकता है, और तब यतिपतिसे तीसरे अर्थमें वसुवन्दितृके गुरु देविचन्द्रका भी आशय किया जा सकता है जो वसुवन्दितृधारकधरकी प्रशस्तिके अनुसार वसवन्दीके शिष्य और भोजन्दीक प्रशिष्य थे।

किया है और दूसरे अर्थमें वही समतभद्रदेव 'परमात्मा'का विशेषण किया गया है । यथा—

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने ।

समन्तभद्रदेवाय नमोस्तु परमात्मने ॥

इन सब बातोंसे यह बात और भी दृढ़ हो जाती है कि उक्त 'यतिपति' से समन्तभद्र खास तौर पर अभिप्रेत हैं । अस्तु, उक्त यतिपतिके विशेषणोंमें 'भेत्तार वसुपालभावतमसः' भी एक विशेषण है, जिसका अर्थ होता है 'वसुपालके भावाधकारको दूर करनेवाले' । 'वसुपाल' शब्द सामान्य तौरसे 'राजा'का वाचक है और इस लिये उक्त विशेषणसे यह मालूम होता है कि समतभद्रस्वामीने भी किसी राजाके भावाधकारको दूर किया है । बहुत संभव है कि वह राजा 'शिवकोटि' ही हो, और वही समतभद्रका प्रधान शिष्य हुआ हो । इसके सिवाय, 'वसु' शब्दका अर्थ 'शिव' और 'पाल' का अर्थ 'राजा' भी होता है और इस तरहपर 'वसुपाल' से शिवकोटि राजाका अर्थ निकाला जा सकता है, परंतु यह कल्पना बहुत ही क्लिष्ट जान पड़ती है और इस लिये हम इसपर अधिक जोर देना नहीं चाहते ।

ब्रह्म नेमिदत्तके 'आराधना-कथाकोश' में भी 'शिवकोटि' राजाका उल्लेख है—उसके शिवालयमें शिवनैवद्यसे 'भस्मक' व्याघ्रकी शांति और चंद्रप्रभ जिनेंद्रकी स्तुति पढ़ते समय जिनबिम्बकी प्रादुर्भूतिका उल्लेख है—साथ ही, यह भी उल्लेख है कि शिवकोटि

१ श्रावर्द्धमानस्वामीने राजा श्रेणिकके भावाधकारको दूर किया था ।

२ ब्रह्म नेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषणके शिष्य और विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान् थे । आपने वि० स० १५८५ में श्रीपालचरित्र बनाकर समाप्त किया है । आराधना कथाकोश भी उसी वक्तके करीवका बना हुआ है ।

महाराजन जिनदीया धारण की थी । परंतु शिवकोटिका, 'काशी' अथवा 'नवतैलंग' देशका राजा न जिसका 'धारणसी' (काशी-महारस) का राजा प्रकट किया है, वह भेद है * ।

अब, इसका धारिये, इतिहाससे 'शिवकोटि' कहाँका राजा केन्द्र होता है । जहाँ तक हमने भारतके प्राचीन इतिहासका, जो सब तक संश्लिष्ट हुआ है, परिशीलन किया है वह इस विषयमें सैन मादूम होता है—शिवकोटि नामके राजाको उससे कोई उपलब्धि नहीं होती—बनारसके लक्ष्मणराज राजाओंका तो उससे प्राप्त कुछ भी प्रता नहीं चलता । इतिहासकारोंके प्रारंभमें ही—ईसवी सन्से करीब १०० वर्ष पहले—बनारस, या काशी, की छोटी रियासत 'काशी' राज्य में मिल गई थी, और प्रकट रूपसे अपनी स्थायी-ताको ली चुकी थी । इसके बाद ईसासे पहलेकी चौथी शताब्दीमें, अजातशत्रुके द्वारा वह 'कोसल' राज्य भी 'मगध' राज्यमें शामिल कर लिया गया था और उस वकसे उसका एक स्वतंत्र राज्यसत्ताके तौर पर कोई उल्लेख नहीं मिलता + । संभवतः यही वकह है जो इस छोटीसी परतंत्र रियासतका राजाओं अथवा राजाओंका कोई विशेष हाल उपलब्ध नहीं होता । रही काशीके राजाओंकी बात, इतिहासमें सबसे

* वचन—वाचस्पती तनू प्राज्ञः कुललोके समन्विताम् ।

बोमिर्द्धिं तथा तत्र गृहीत्वा पर्यटनपुरे पृ १९ ॥

स बोटी लीक्य तत्र शिवकोटिमहीभुजा ।

कारितं शिवकोटिमासाहं लीविजेनक पृ २ ॥

+ V. A. Smith's Early History of India, III Edition p. 30-35 मिर्मेटर ए रिमन साहसकी अपनी हिस्टरी ऑफ़ इंडिया गृहीतसम्पन्न पृ ३०-३५ ।

पहले वहाँके राजा 'विष्णुगोप' (विष्णुगोप वर्मा) का नाम मिलता है, जो धर्मसे वैष्णव था और जिसे ईसवी सन् ३५० के करीब 'समुद्रगुप्त' ने युद्धमें परास्त किया था। इसके बाद ईसवी सन् ४३७ में 'सिंहवर्मन्' (बौद्ध) का, ५७५ में सिंहविष्णुका, ६०० से ६२५ तक महेन्द्रवर्मन्का, ६२५ से ६४५ तक नरसिंहवर्मन्का, ६५५ में परमेश्वरवर्मन्का, इसके बाद नरसिंहवर्मन् द्वितीय (राजसिंह) का और ७४० में नन्दिवर्मन्का नामोल्लेख मिलता है^३। ये सब राजा पल्लव वंशके थे और इनमें 'सिंह-विष्णु' से लेकर पिछले सभी राजाओंका राज्यक्रम ठीक पाया जाता है^३। परन्तु सिंहविष्णुसे पहलेके राजाओंकी क्रमशः नामावली और उनका राज्यकाल नहीं मिलता, जिसकी इस अवसर पर—शिव-कोटिका निश्चय करनेके लिये—खास जरूरत थी। इसके सिवाय विंसेंट स्मिथ साहबने, अपनी 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया' (पृ० २७५—२७६) में यह भी सूचित किया है कि ईसवी सन् २२० या २३०

१ शक सं० ३८० (ई० स० ४५८) में भी 'सिंहवर्मन्' कांचीका राजा था और यह उसके राज्यका २२ वाँ वर्ष था, ऐसा 'लोकविभाग' नामक दिगम्बर जैनग्रन्थसे मालूम होता है।

२ कांचीका एक पल्लवराजा 'शिवस्कन्द वर्मा' भी था, जिसकी ओरसे 'मायि-दावोल्ल' का दानपत्र लिखा गया है, ऐसा मद्रासके प्रो० ए० चक्रवर्ती 'पचास्ति-काय' की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामें सूचित करते हैं। आपकी सूचनाओंके अनुसार यह राजा ईसाकी १ ली शताब्दीके करीब (विष्णुगोपसे भी पहले) हुआ ज्ञान पड़ता है।

३ देखो, विंसेंट ए० स्मिथ साहबका 'भारतका प्राचीन इतिहास' (Early History of India), तृतीय संस्करण, पृ० ४७१ से ४७६।

और ३२० का मध्यवर्ती प्राय एक सातान्दीक्य भारतका इतिहास निम्नकुछ ही संक्षेपपूर्ण है—उसका कुछ भी पता नहीं चलता । इससे स्पष्ट है कि भारतका जो प्राचीन इतिहास संकलित हुआ है वह बहुत कुछ अपूर्ण है । उसमें शिवकोटि जैसे प्राचीन राजाका परिचय नहीं मिलता तो यह कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है । यद्यपि म्पुत्र पुराण इतिहास मिलता भी नहीं, परंतु जो मिलता है और कुछ संकल्य है उसके संकलित करनेका भी अभी तक पूरा व्यवधान नहीं हुआ । जिनके ही बहुतसे संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़ी लिपि और लेख्य आदि प्रयोगों इतिहासकी प्रकृति सामग्री भरी पड़ी है किन्तु जोर अभी तक प्राप्त कुछ भी व्यव नहीं गया । इसके सिवाय एक एक राजाका कोई नाम भी हुए हैं और उनका प्रयोग भी इन्धनुसार विभिन्न रूपसे होता रहा है इससे यह भी संभव है कि वर्तमान इतिहासमें 'शिवकोटि' का किताब दूसरे ही नामसे उल्लेख हो * और वहीपर यद्यपि परिवर्तन न होनेसे दोनोंका समीकरण न हो सकता है, और वह समीकरण विशेष अनुसंधानकी अपेक्षा रखता हो । परंतु कुछ भी हो, इतिहासकी ऐसी हालत होते हुए, बिना किसी गहरे अनुसंधानके यह नहीं कहा जा सकता कि 'शिवकोटि' नामका कोई राजा हुआ ही नहीं और न शिवकोटिके व्यक्तित्वसे ही इनका किताब खसकता है ।

शिवकोटिसे मिलते जुलते शिवसंभवर्ती (राजा) शिवपुराणकी (कर्म), शिवभूमा (कर्मकुलका शिव) शिवसंभवर्ती हारितीपुत्र (कर्म), शिवसंभवर्ती कर्म (कर्म) शिवभूमा (कर्म), और शिवदेव (शिवभूमा) आदि नामोंके बारंबार भी उल्लेख हो पड़े हैं । संभव है कि शिवकोटिका कोई एक ही नाम रहा हो अथवा इनमेंसे दो कोई शिवकोटि हो ।

‘ राजावलिकथे ’ में शिवकोटिका जिस ढगसे उल्लेख पाया जाता है और पट्टावली तथा शिलालेखों आदि द्वारा उसका जैसा कुछ समर्थन होता है उस परसे हमारी यही राय होती है कि ‘ शिवकोटि ’ नामका अथवा उस व्यक्तित्वका कोई राजा जरूर हुआ है, और उसके अस्तित्वकी सभावना अधिकतर काचीकी ओर ही पाई जाती है, ब्रह्मनेमिदत्तने जो उसे वाराणसी (काशी-बनारस) का राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता । ब्रह्म नेमिदत्तकी कथामें और भी कई बातें ऐसी हैं जो ठीक नहीं जँचतीं । इस कथामें लिखा है कि—

“ काचीमें उस वक्त भस्मक व्याधिको नाश करनेके लिये समर्थ (सिन्धादि) भोजनोंकी सम्प्राप्तिका अभाव था, इस लिये समन्तभद्र कांचीको छोड़कर उत्तरकी ओर चले दिये । चलते चलते वे ‘ पुण्ड्रेन्द्र नगर ’ में पहुँचे, वहाँ बौद्धोंकी महती दानशालाको देखकर उन्होंने बौद्ध भिक्षुकका रूप धारण किया, परंतु जब वहाँ भी महाव्याधिकी शाक्तिक योग्य आहारका अभाव देखा तो आप वहाँसे निकल गये और क्षुधासे पीडित अनेक नगरोंमें घूमते हुए ‘ दशपुर ’ नामके नगरमें पहुँचे । इस नगरमें भागवतों (वैष्णवों) का उन्नत मठ देखकर और यह देखकर कि यहाँपर भागवत लिङ्गधारि साधुओंको भक्तजनोंद्वारा प्रचुर परिमाणमें सदा विशिष्टाहार भेंट किया जाता है, आपने बौद्ध वेषका परित्याग किया और भागवत वेष धारण कर लिया, परंतु यहाँका विशिष्टाहार भी आपकी भस्मक व्याधिको शांत करनेमें समर्थ न हो सका ।

१ ‘ पुण्ड्र ’ नाम उत्तर बंगालका है जिसे ‘ पौण्ड्रवर्धन ’ भी कहते हैं । ‘ पुण्ड्रेन्द्र नगर ’ से उत्तर बंगालके इन्द्रपुर, चन्द्रपुर अथवा चन्द्रनगर आदि किसी खास शहरका अभिप्राय जान पड़ता है । छपेहुए ‘ भाराधनाकथाकोश ’ में ऐसा ही पाठ दिया है । संभव है कि वह कुछ अशुद्ध हो ।

और इस लिये आप यहाँसे भी चले गये। इसके बाद नानादिशेष्टादिकों-
में घूमते हुए आप अन्तको 'वाग्यसी' मगरी पहुँचे और वहाँ आपने
योगिबिम्ब धारण करके शिवकोटि राजाके शिष्यालयमें प्रवेश किया। इस
शिष्यालयमें शिवजीके भोगके लिये सज्जित किये हुए अठारह प्रस्थरके
सुन्दर श्रेष्ठ भोजनोंके समूहको देख कर आपने सोचा कि यहाँ मेरी
हुस्न्याधि बख्तर छात हो आयगी। इसके बाद जब पूजा हो चुकी और
वह दिव्य आहार—वेरका वेर नैवेद्य—बाहर निक्षेपित किया गया तब
आपने एक युक्तिके द्वारा लोगों तथा राजाको आश्रयमें बसकर शिव
को भोजन करनेका काम अपने हाथमें लिया। इस पर राजाने घी, दूध,
दही और मिठाई (इसुरस) आदिसे मिश्रित नाना प्रकारका दिव्य
भाजन प्रचुर परिमाणमें (पूर्ण कुम्भमैर्भुक्त=भरे हुए सौ घड़े मिट्टन)
सज्जित किया और उस शिवभोजनके लिये योगिराजके सपुत्र
किया। समस्तमदने वह भोजन स्वयं खाकर जब मंदिरके कपाट खोले
और बाहरी बरतनोंको बाहर उठा ले ज्ञानके लिये कहा, तब राजादिक-
को बड़ा आश्चर्य हुआ। यही समझा गया कि योगिराजने अपने
योगावस्थासे सम्प्राप्त शिवसे अफतारित करके यह भोजन उन्हें ही
कराया है। इससे राजाकी भक्ति बड़ी और वह निरपेक्ष ही उत्तमोत्तम
नैवेद्यका समूह तैयार करा कर भेजने लगा। इस तरह, प्रचुर परिमाणमें
उत्कृष्ट आहारका सेवन करते हुए, जब पूरे छह महीने बीत गये
तब आपकी म्याधि एकदम छात हो गई और आहारकी मात्रा
प्राकृतिक हो ज्ञानके कारण वह सबका सब नैवेद्य प्राप्त व्योम्न्य स्थो
बचने लगा। इसके बाद राजाको जब यह खबर खगी कि योगी स्वयं
ही यह भोजन करता रहा है और 'शिव' को प्रणाम तक भी नहीं
करता तब उसमें कुपित होकर योगीसे प्रणाम न करनेका कष्ट

पूछा । उत्तरमें योगिराजने यह कह दिया कि 'तुम्हारा यह रागी द्वेपी देव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकता । मेरे नमस्कारको सहन करनेके लिये वे जिनसूर्य ही समर्थ हैं जो अठारह दोपोंसे रहित हैं और केवल-ज्ञानरूपी सत्तेजसे लोकालोकके प्रकाशक हैं । यदि मैंने नमस्कार किया तो तुम्हारा यह देव (शिखरिण) विदीर्ण हो जायगा—खड खड हो जायगा—इसीसे मैं नमस्कार नहीं करता हूँ' । इस पर राजाका कौतुक बढ़ गया और उसने नमस्कारके लिये आग्रह करते हुए, कहा—'यदि यह देव खड खड हो जायगा तो हो जाने दीजिये, मुझे तुम्हारे नमस्कारके सामर्थ्यको जरूर देखना है । समतभद्रने इसे स्वीकार किया और अगले दिन अपने सामर्थ्यको दिखलानेका वादा किया । राजाने 'एवमस्तु' कह कर उन्हें मंदिरमें रक्खा और बाहरसे चौकी पहरेका पूरा इन्तजाम कर दिया । दो पहर रात बीतने पर समतभद्रको अपने वचन-निर्वाहकी चिन्ता हुई, उससे अम्बिकादेवीका आसन ढोल गया । वह दौड़ी हुई आई, आकर उसने समतभद्रको आश्वासन दिया और यह कह कर चली गई कि तुम "स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले" इस पदसे प्रारंभ करके चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी उन्नत स्तुति रचो, उसके प्रभावसे सब काम शीघ्र हो जायगा और यह कुलिंग टूट जायगा । समतभद्रको इस दिव्यदर्शनसे प्रसन्नता हुई और वे निर्दिष्ट स्तुतिको रचकर सुखसे स्थित हो गये । सबेरे (प्रभातसमय) राजा आया और उसने वही नमस्कारद्वारा सामर्थ्य दिखलानेकी बात कही । इस पर समन्तभद्रने अपनी उस महास्तुतिको पढ़ना प्रारंभ किया । जिम-वक्त 'चंद्रप्रभ' भगवानकी स्तुति करते हुए 'तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नं' यह वाक्य पढ़ा गया उसी वक्त वह 'शिखरिण' खण्ड खण्ड हो गया और उस स्थानसे 'चंद्रप्रभ' भगवानकी चतुर्मुखी प्रतिमा महान्

ज्योत्स्नोत्सवके साथ प्रकट हुई । यह देखकर राजादिकको बड़ा आश्चर्य हुआ और राजाने उसी समय समन्तमन्त्रसे पूछा—हे योगीन्द्र, आप महा सामर्थ्यवान् अभ्यक्तकिंगी कौन हैं ? इसके उत्तरमें समन्तमन्त्रने श्रीचे विन्द दा कम्प्य बोले—

कांक्षया नशात्कोऽहं मलमलिनतनुलोम्बुशे पाण्डुरसिंहः
 पुण्ड्रोष्णे (१) आनयमिधुर्वशपुनगरे मृष्टभोजी परिमह ।
 वाराणस्यामसूयं क्षत्रिवरचवत् पाण्डुरांगस्तपस्वी,
 राजन् मस्यास्ति शक्तिः सर्वदत्त पुरतो वैननिर्ग्रहवादी ॥
 पूर्वं पातलिपुत्रमध्यनगर मेरी मया ताडिता,
 पश्चान्मत्तवसिन्धुठक्विषये कांक्षीपुरे वैदिशे ।
 प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुमनं विद्योत्कटं संकट,
 वादावीं विचाराम्यह नरपते द्वादशविंशतिवितम् ॥

इसके बाद समन्तमन्त्रने कुछमित्रोंसे ओकर कर वैननिग्रय किंग भारण किया और सूर्य एकादशदिशोंको गान्में जीतकर वैनशासनकी प्रमा-
 नता की । यह सब देखकर राजाको वैनजर्मिने बड़ा हो गई, वैरम्य हो
 आया और राज्य ओकर उसने निन्दाका कारण कर ली ।

१ संभव है कि वह 'पुण्ड्रोष्णे' पाठ ही जिसमें 'पुण्ड्र'—उत्तरवयस्क—और 'वन्दु'
 जर्मिना—हीनोद्य आतिशाय जान पड़ता है ।

२ कहीर 'वत्तवत्तवत्त' भी पाठ है जिसका अर्थ करणके समान वत्तक
 होता है ।

३ प्रकट भी पाठ कहीं कहीं पर पाया जाता है ।

• महा वैदिराजे कबनाहुआर उसका कबामोश मन्त्रक प्रमादके वत्त कवा
 कोशके आधारपर बना हुआ है जो ग्यालक है और जिसको वेदमन्त्र हमें अभी
 तक कोई बचकर नहीं मिल सक्त । इसमें सुदृढ़ प वापुतामकी प्रेमीके इत्यदि

नेमिदत्तके इस कथनमें सबसे पहले यह बात कुछ जीको नहीं लगती कि 'काची' जैसी राजधानीमें अथवा आर भी वड़े वड़े नगरों, शहरों तथा दूसरी राजधानियोंमें मस्मक व्याधिको शांत करने योग्य भोजनका उस समय अभाव रहा हो और इस लिये समतभद्रको सुदूर दक्षिणसे सुदूर उत्तर तक हजारों मीलको यात्रा करनी पड़ी हो । उस समय दक्षिणमें ही बहुतसी ऐसी दानशालाएँ थी जिनमें साधुओंको भरपेट भोजन मिलता था, और अगणित ऐसे शिवालय थे जिनमें इसी प्रकारसे शिवको भोग लगाया जाता था और इस लिये जो घटना काशी (वनारस) में घटी वह वहाँ भी घट सकती थी । ऐसी हालतमें, इन सब सस्थाओंसे यथेष्ट लाभ न उठाकर, सुदूर उत्तरमें काशीतक भोजनके लिये भ्रमण करना कुछ समझमें नहीं आता । कथामें भी यथेष्ट भोजनके न मिलनेका कोई विशिष्ट कारण नहीं बतलाया गया—सामान्यरूपसे

प्रेरणासे, दोनों कथाकोशोंमें दी हुई समन्तभद्रकी कथाका परस्पर मिलान किया है और उसे प्रायः समान पाया है । आप लिखते हैं—“दोनोंमें कोई विशेष फर्क नहीं है । नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण पद्यानुवाद है । पादपूर्ति आदिके लिये उसमें कहीं कहीं थोड़े बहुत शब्द—विशेषण अव्यय आदि—अवश्य बड़ा दिये गये हैं । नेमिदत्तद्वारा लिखित कथाके ११ वे श्लोकमें 'पुण्ड्रनगर' लिखा है, परन्तु गद्यकथामें 'पुण्ड्रनगरे' और 'वन्दक-लोकाना स्थाने' की जगह 'वन्दकानां वृहद्विहारे' पाठ दिया है । १२ वे पद्यके 'वौद्धलिंगक' की जगह 'वद-कलिंग' पाया जाता है । शायद 'वदक' वौद्धका पर्यायशब्द हो । 'काच्या नम्रा-टकोऽह' आदि पद्योंका पाठ ज्योंका त्यों है । उसमें 'पुण्ड्रोन्द्रे' की जगह 'पुण्ड्रोन्द्रे' 'वृद्धविषये' की जगह 'वृद्धविषये' और 'वैदिशे' की जगह 'वैदुषे' इस तरह नाम-मात्रका अन्तर दीख पड़ता है ।” ऐसी हालतमें, नेमिदत्तकी कथाके इस सारांशकी प्रभाचन्द्रकी कथाका भी सारांश समझना चाहिये और इस पर होनेवाले विवेचनादिको उस पर भी यथासंभव लगा रहिये ।

‘मस्मकम्याधिविनाशाहारहानिताः’ ऐसा सूचित किया गया है जो पर्याप्त नहीं है। दूसरे, यह बात भी कुछ असंगतसी मात्रा है कि ऐसे गुह, स्निग्ध, मधुर और श्लेष्मल गणित पदार्थोंका इतना अधिक (पूर्ण शतकुम्भ बिठने) परिमाणमें निष्प सेवन करनेपर भी मस्मकम्याधिविनाश होनेमें कुछ महीने लगा गये हों। जहाँ तक हम सम्मते हैं और हमने कुछ अनुमती केधोसे भी इस विषयमें परामर्श किया है, यह रोग मोक्षनकी इतनी अच्छी अनुकूल परिस्थितिमें अधिक दिनों तक नहीं रह सकता, और न रोगकी ऐसी दृढतामें पैदलका इतना सम्मान सफल ही बन सकता है। इस लिये, ‘राज्यचिकित्से’ में जो पौंच दिनोंकी बात लिखी है वह कुछ असंगत प्रतीत नहीं होती। तीसरे, समन्तमद्रके मुखसे उनके परिचयके जो दो कथ्य कथ्यमें गये हैं वे निम्नलिखित ही व्यापारिक ज्ञान पकते हैं। प्रथम तो राज्यकी ओरसे उस अवसरपर कैसे प्रसन्न होना ही कुछ बढ़ावा मात्रा देना है—वह अवसर तो राज्यका उनके चरणोंमें पड़ जाने और क्षमा प्रार्थना करनेका पद—दूसरे समन्तमद्र, मस्मकम्याधिविनाश के लिये आपदा लिये जानेपर, अपना इतना परिचय दे भी चुके थे कि वे शिबोपासक नहीं हैं बल्कि ‘विनो-पासक’ हैं फिर भी यदि विशेष परिचयके लिये कैसे प्रसन्न किया जाना उचित ही मान लिया जाय तो उसके उत्तरमें समन्तमद्रकी ओरसे उनके पितृकुल और गुरुकुलका परिचय दिये जानकी अपना अधिकतम अधिक उनकी मस्मकम्याधिविनाश उत्पत्ति और उसकी शांतिके लिये उनके उस प्रकार भयानकी कथाओं की कथा देने की जरूरत थी परंतु उक्त दोनों पक्षोंमें यह सब कुछ भी नहीं है—न पितृकुल अपना गुरुकुलका कोई परिचय दे और न मस्मकम्याधिविनाश उत्पत्ति व्यापार ही उनमें कोई निहित है—शान्तिमें

स्पष्ट रूपसे वादकी घोषणा है, वन्कि दूसरे पक्षमें तो, उन स्थानोंका नाम देते हुए जहाँ पहले वादकी भेरी गजाई थी, अपने इन धमणका उद्देश्य भी 'वाद' ही बतलाया गया है । पाठक सोचें, क्या समन्तभद्रके इस धमणका उद्देश्य 'वाद' या ? क्या एक प्रतिष्ठित व्यक्तिद्वारा विनीत भारतसे परिचयका प्रश्न पूछे जाने पर दूसरे व्यक्तिका उसके उत्तरमें लड़ने लगानेके लिये तय्यार होना अथवा वादकी घोषणा करना शिष्टता और सम्यक्ताका व्यवहार कहला सकता है ? आर क्या समन्तभद्र जैसे महान् पुरुषोंके द्वारा ऐसे उत्तरकी रूपना की जा सकती है ? कभी नहीं । पहले पक्षके चतुर्थ चरणमें यदि वादकी घोषणा न होती तो वह पक्ष इस अक्षरपर उत्तरका एक अंग बनाया जा सकता था, क्यों कि उसमें अनेक स्थानोंपर समन्तभद्रके अनेक त्रैप धागण करनेकी बातका उल्लेख है * । परन्तु दूसरा पक्ष तो यहाँ पर कौरा अप्रासंगिक ही है—यह पक्ष तो 'करहाटक' नगरके राजाकी सभामें कहा हुआ पक्ष है, जैसा कि पहले 'गुणादि-परिचय'में बतलाया जा चुका है । उसमें साफ लिखा भी है कि मे अब उस करहाटक (नगर) को प्राप्त हुआ हूँ जो बहुभटोंसे युक्त है, विद्याका उत्कटस्थान है और जनाकीर्ण है । ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि बनारसके राजाके प्रश्नके उत्तरमें समन्तभद्रसे यह कहलाना कि अब मे इस करहाटक नगरमें

* यह बतलाया गया है कि "कांचीमें मैं नम्राटक (दिगम्बर साधु) हुआ, वहाँ मेरा शरीर मलसे मलिन था, लाम्बुशने पाण्डुपिण्ड रूपका धारक (भस्म रमाए शैवसाधु) हुआ, पुण्ड्रोडमें बौद्ध भिक्षुक हुआ, दशपुर नगरमें मृष्टभोजी परित्राजक हुआ, और वाराणसीमें शिवसमान उज्ज्वल पाण्डुर अगका धारी मैं तपस्वी (शैवसाधु) हुआ हूँ, हे राजन् मैं जैन निर्ग्रन्थवादी हूँ, जिस किसीकी शक्ति मुझसे वाद करनेकी हो वह सामने आकर वाद करे । "

आया है किन्तु वे सिरपैरकी बात है, किन्तु मारी भूख है और उससे कपामें किन्तु की कृत्रिमता आ जाती है। ज्ञान पक्का है बस नेनि-
दत ॥ दोनों पुरुषन पणोंको किसी तरह कपामें संगृहीत कर देना चाहते थे और उस संग्रहकी धुनमें उन्हें इन पणोंके अर्थसम्बन्धका कुछ भी खयाल नहीं रहा। यही बबह है कि वे कपामें उनको मयेद स्थान पर देने अथवा उन्हें ठीक तौर पर संकलित करनेमें उत्सर्ग्य मही ॥ सक। उनका इस प्रसंग पर, 'स्फुटं काम्याह्वयं वेति योगीन्द्रः' समुवाच सः' यह खिखकर, एक पणोंका उद्धृत करना कपामें गौरव और उसकी अकृत्रिमताको बहुत कुछ कम कर देता है। इन पणोंमें कदकी घोषणा होनेसे ही ऐसा मझम देता है कि ब्रह्मनेमिहउने, राजामें जैनधर्मकी भ्रष्टा उत्पन्न करनेसे पहले समस्तभद्रका एकान्तवासिपोंसे बाद कराया ॥ अन्यथा इतने बड़े बमरुभरके अन्तर पर उसकी कोई आशङ्कता मही थी। काँचीके बाद समस्तभद्रका वह अमण भी पहले पणको कपामें रखकर ही करया गया मझम होता है। क्यापि उसमें भी कुछ त्रुटियाँ हैं—बहाँ, पञ्चालुसार काँचीके बाद, काँचुशामें समस्तभद्रके पाण्डुपिण्ड' रूपसे (शरीरमें भस्म रमण हुए) रहनेका कोई उल्लेख ही नहीं है, और न दशपुरमें रहते हुए उनके मृत्तमाणी होनेकी प्रशिक्षाका ही कोई उल्लेख है—परंतु इन्हें रहने दीजिये सबसे बड़ी बात यह है कि उस पणमें ऐसा कोई भी उल्लेख मही है जिससे यह मझम होता हो कि समस्तभद्र उस समय भस्मक व्यापिसे युक्त थे अथवा भोजनकी

१ कुछ वैदिकविदोंमें इस बातका शर्क देते हुए, मज्जमहिषतपुर्णमन्त्रसे पा-
ण्डुपिण्ड पणोंका कुछ भी शर्क न देकर उसके स्थानमें 'शरीरमें रोप होनेसे'
ऐसा एक संशयान्वय देना है जो ठीक नहीं है। इस पणमें एक स्थानपर 'पाण्डु-

यथेष्ट प्राप्तिके लिये ही उन्होंने वे वेष धारण किये थे । बहुत समय है कि काचीमें ' भस्मक ' व्याधिकी शातिके बाद समतभद्रने कुछ असेतक और भी पुनर्जिनदीक्षा वारण करना उचित न समझा हो, वरिक्त उगे हाथों शासनप्रचारके उद्देशसे, दूसरे वर्गोंके आन्तरिक भेदको अच्छी तरहसे मादूम करनेके लिये उस तरह पर भ्रमण करना जरूरी अनुभव किया हो और उसी भ्रमणका उक्त पद्यमें उल्लेख हो, अथवा यह भी हो सकता है कि उक्त पद्यमें समतभद्रके निर्ग्रथमुनिजीवनसे पहलेकी कुछ घटनाओंका उल्लेख हो जिनका इतिहास नहीं मिलता और इस लिये जिनपर कोई विशेष राय कायम नहीं की जा सकती । पद्यमें किसी क्रमिक भ्रमणका अथवा घटनाओंके क्रमिक होनेका उल्लेख भी नहीं है, कहाँ काची और कहाँ उत्तर बगालका पुण्ड्र नगर ! पुण्ड्रसे वाराणसी निकट, वहाँ न जाकर उज्जैनके पास ' दशपुर ' जाना और फिर वापिस वाराणसी आना ये बातें क्रमिक भ्रमणको सूचित नहीं करतीं । हमारी रायमें पहली बात ही ज्यादा सम्भवनीय मादूम होती है । अस्तु, इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए, ब्रह्म नेमिदत्तकी कथाके उस अंशपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता जो काचीसे बनारस तक भोजनके लिये भ्रमण करने और बनारसमें भस्मक व्याधिकी शाति आदिसे सम्बन्ध रखता है, खासकर ऐसी हालतमें जब कि ' राजावलिकपे ' साफ तौरपर काचीमें ही

पिण्ड ' और दूसरेपर ' पाण्डुरांग ' पद आए हैं जो दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं और उनसे यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रने जो वेष वाराणसीमें धारण किया है वही लाम्बुशमें भी धारण किया था । हर्षका विषय है कि उन लेखकोंमेंसे प्रधान लेखकने हमारे लिखनेपर अपनी उस भूलको स्वीकार किया है और उसे अपनी उस समयकी भूल माना है ।

मत्स्यक व्याधिकारी शांति आदिक विधान करती है और सेनागणकी पदा-
वलीसे भी उसका बहुत कुछ समर्थन होता है ।

जहाँ तक हमने इन दोनों कथानोंकी जाँच की है हमें 'राजव्यधिकारी'
में ही हुई समस्तभद्रकी कथामें बहुत कुछ सामाविकता महसूस होती है—
कुरुक्षेत्री प्रारम्भमें तपस्वरण करते हुए मत्स्यक व्याधिकार उत्पन्न होना,
उसकी निग्रहीकरावस्थाको देखकर समस्तभद्रका गुस्से सल्लोसना क्रोध
प्रार्थना करना, गुस्सा प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए मुनिवेष स्वीकृत
और रोगोपशान्तिके पश्चात् पुनर्निर्माणा वारण करनेकी प्रेरणा करना,
'मीमांसा' नामक सिद्धान्तका और उसमें प्रतिदिन १२ चंद्रमा परिमाण
संयुक्तके विनियोगका उल्लेख सिक्खोटि राजाको आशीर्वाद देकर उसके
धर्मकृत्योंका पूजा, कमल मोहनका अधिक अधिक बचन, उपसर्ग-
का अनुभव होते ही उसकी मिश्रितपर्यंत समस्त आहार पानादिकका
त्याग करके समस्तभद्रका पाँकेसे ही जिनस्तुतिमें तीन हान, चंद्रमा
मकी स्तुतिके बाद शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति भी करते रहना, महावीर भगवान्
की स्तुतिकी समाप्तिपर वरणोंमें पड़े हुए राजा और उसके छोटे भाई
को आशीर्वाद देकर उन्हें चतुर्मेका विस्तृत स्वल्प कथनाना, राजाके
पुत्र धर्मिष्ठ'का नामाश्लेष, राजाका भाई 'सिवात्मन'का भी राजाके
साथ रीखा केना, और समस्तभद्रकी ओरसे मीमांसा नामक महादेवके
विक्रममें एक शब्द भी अविमय या अपमानका न कहा जाना
ये सब बातें, जो नेमिदत्तकी कथामें नहीं हैं, इस कथाकी
सामाविकताको बहुत कुछ बचा देती हैं—प्रायुत इसके, नेमिदत्तकी
कथासे कृत्रिमताकी बहुत कुछ गंध जाती है, जिसका कितना ही परि-
श्रम छपर दिया जा चुका है । उसके सिवाय, राजाका नमस्कारके क्रिय
आग्रह, समस्तभद्रका उत्तर, और अगले दिन भगवान् करनेका वादा,

इत्यादि बातें भी उसकी कुछ ऐसी ही हैं जो जीको नहीं लगतीं और आपत्तिके योग्य जान पड़ती हैं । नेमिदत्तकी इस कथापरसे ही कुछ विद्वानोंका यह खयाल हो गया था कि इसमें जिनविम्बके प्रकट होनेकी जो बात कही गई है वह भी शायद कृत्रिम ही है और वह 'प्रभावक-चरित'में दी हुई 'सिद्धसेन दिवाकर'की कथासे, कुछ परिवर्तनके साथ ले ली गई जान पड़ती है—उसमें भी स्तुति पढ़ते हुए, इसी तरह पर पार्श्वनायका विम्ब प्रकट होनेकी बात लिखी है । परन्तु उनका वह खयाल गलत था और उसका निरसन श्रवणबेलगोलके उस महिषेण-प्रशस्ति नामक शिलालेखसे भले प्रकार हो जाता है, जिसका 'वद्यो भस्मक' नामका प्रकृत पद्य ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और जो उक्त प्रभावकचरितसे १५९ वर्ष पहलेका लिखा हुआ है—प्रभावक-चरितका निर्माणकाल वि० स० १३३४ है और शिलालेख शक सवत् १०५० (वि० स० ११८५) का लिखा हुआ है । इससे स्पष्ट है कि चद्रप्रभ विम्बके प्रकट होनेकी बात उक्त कथा परसे नहीं ले ली गई बल्कि वह समन्तभद्रकी कथासे खास तौरपर सम्बन्ध रखती है । दूसरे एक प्रकारकी घटनाका दो स्थानोंपर होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है । हाँ, यह हो सकता है कि नमस्कारके लिये आप्रह आदिकी बात उक्त कथा परसे ले ली गई हो । क्योंकि राजावलिकये आदिसे उसका कोई समर्थन नहीं

१ यदि प्रभाचन्द्रभट्टारकका गद्य कथाकोश, जिसके आधारपर नेमिदत्तने अपने कथाकोशकी रचना की है, प्रभावकचरित'से पहलेका बना हुआ है तो यह भी हो सकता है कि उसपरसे ही प्रभावकचरितमें यह बात ले ली गई हो । परन्तु साहित्यकी एकतादि कुछ विशेष प्रमाणोंके बिना दोनोंहीके सम्बन्धमें यह कोई लाजिमी बात नहीं है कि एकने दूसरेकी नकल ही की हो, क्योंकि एक प्रकारके विचारोंका दो ग्रन्थकर्त्ताओंके हृदयमें उदय होना भी कोई असंभव नहीं है ।

होता, और न समस्तमन्त्रके सम्बंधमें वह कुछ युक्तियुक्त ही प्रतीत होती है। इसी सब कारणोंसे हमारा यह कहना है कि मन्त्र नेमिदत्तने 'शिवकोटि' को जो कारणसीका उभय लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता; उसके अस्तित्वकी संभावना अधिकतर कदाचीन्ही और ही पाई जाती है, जो समस्तमन्त्रके निवासादिका प्रधान प्रदेश रहा है। अस्तु ।

शिवकोटिने समस्तमन्त्रका शिष्य होनेपर क्या क्या कर्म किम और कौन कौनसे प्रयोगोंकी रचना की, यह सब एक क्षुद्र ही निषय है जो सास शिवकोटि आचार्यके अतिश्रम तथा इतिहाससे सम्बंध रखता है, और इस विषये हम यहाँपर उसकी कोई विशेष चर्चा करना उचित नहीं समझते।

'शिवकोटि' और 'शिवायन' के शिष्य समस्तमन्त्रके और भी बहुतसे शिष्य रहे होंगे, इसमें संदिग्ध नहीं है परंतु उनके नामादिकत्व अभी तक कोई पता नहीं चला और इस विषये अभी हमें इन दो प्रधान शिष्योंके नामोंपर ही संतोष करना होगा।

समस्तमन्त्रके सरीरमें 'मत्स्यक व्याधिकी उत्पत्ति किस समय अथवा उनकी किस अवस्थामें हुई यह जाननेका, यद्यपि, कोई यथेष्ट साधन नहीं है फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि वह समय, जब कि उनके गुरु भी मौन्य थे उनकी युवावस्थाहीका था। उनका बहुतसा उत्कर्ष, उनके द्वारा लोकहितका बहुत कुछ साधन, स्वाश्रय-दीर्घके प्रभावका विस्तार और जैनशासनका अद्वितीय प्रचार, यह सब उसके कद ही हुआ जान पड़ता है। 'रात्रावकिरुये'में उसके प्रभावसे उन्हें 'चारण षष्ठि'की प्राप्ति होना और उनके द्वारा 'जनकदंड' आदि प्रयोगोंका रखा जाना भी पुनर्दिष्टाके बाद ही लिखा है। साथ ही, इसी अवसर पर उनका सास वीरपर स्वाश्रय-वादी - स्वाश्रय-

विद्याके आचार्य—होना भी सूचित किया है * । इसीसे एडवर्ड राइस साहब भी लिखते हैं—

It is told of him that in early life he (Samantabhadra) performed severe penance, and on account of a depressing disease was about to make the vow of Sallekhana, or starvation, but was dissuaded by his guru, who foresaw that he would be a great pillar of the Jain faith

अर्थात्—समन्तभद्रकी वास्तव यह कहा गया है कि उन्होंने अपने जीवन (मुनिजीवन) की प्रथमावस्थामें घोर तपश्चरण किया था, और एक अवपीडक या अपकर्षक रोगके कारण वे सल्लेखनाव्रत धारण करने-हीको थे कि उनके गुरुने, यह देखकर कि वे जैनधर्मके एक बहुत बड़े स्तम्भ होनेवाले हैं, उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया ।

यहाँ तकके इस सब कथनसे, हम समझते हैं, पाठकोंको समन्तभद्रके विषयका बहुत कुछ परिचय मिल जायगा और वे इस बातको समझनेमें अच्छी तरहसे समर्थ हो सकेंगे कि स्वामी समन्तभद्र किस टाइपके विद्वान् थे, कैसी उत्तम परिणतिको लिये हुए थे, कितने बड़े योगी अथवा महात्मा थे, और उनके द्वारा देश, धर्म तथा समाजकी कितनी सेवा हुई है । साथ ही, उन्हें अपने कर्तव्यका भी जरूर कुछ बोध होगा, अपनी त्रुटियाँ मालूम पड़ेंगी, वे अपनी असफलताओंके रहस्यको समझेंगे, स्याद्वादमार्गको पहचाननेकी ओर लगेंगे और स्वामी समन्तभद्रके आदर्शको सामने रखकर अपने जीवन, अपने सदुद्देश्यों तथा प्रयत्नोंको सफल बनानेका यत्न करेंगे । और इस तरह पर स्वामीके इस पवित्र जीवनचरित्रसे जरूर कुछ लाभ उठाएँगे ।

* ' आभाषि तीर्थंकरन् अप्य समन्तभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्ता-
मर्थंदि चतुरगुल-चारणत्वं पदेदु रत्नकरण्डकादिजिनागमपुराणम पेलि
स्याद्वाद वादिगल् आगि समाधिम् ओडेदु ॥ '

समय निर्णय ।



स्वामी समंतमन्त्रने अपने अस्तित्वसे किस समय इस भारत-भूमिको मूलित और पवित्र किया, यह एक प्रश्न है जो अभी तक विद्वानोंद्वारा विचारणीय ब्रह्मा ज्ञाता है। यहाँ पर इसी प्रश्नका कुछ विशेष विचार और निर्धार किया जाता है।

मत्तान्तरविचार ।

सबसे पहले हम, इस निपटमें, दूसरे विद्वानोंके मतोंका उल्लेख करते हैं और देखते हैं कि उन्होंने अपने अपने मतको पुष्ट करनेके लिये किन किन पुक्तियोंका प्रयोग किया है—

१—मिस्टर जेम्स राब्स साहबने अपनी 'इंस्ट्रिप्शंस ऐट ब्रम्प-टैसोल्ड' नामक पुस्तककी प्रस्तावनामें, यह अनुमान किया है कि समंतमन्त्र ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दीमें हुए हैं। साथ ही, यह सूचित किया है कि जैनियोंके परम्परागत कथन (Jain tradition) के अनुसार समन्तमन्त्रका अस्तित्वसमय शक सन् १० (ई० सन् १३८) के लगभग पाया जाता है, और उसके लिये उस पृष्ठकी ओर देखनेकी प्रेरणा की है जो, हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथोंके अनुसंधानविद-पक, डॉक्टर मांडरकरकी सन् १८८१-८३ की रिपोर्टमें, पृष्ठ ३२० पर प्रकाशित हुई है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि जैनियोंमें जो यह कहावत प्रचलित है कि समंतमन्त्र विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें हुए हैं उसे राब्स साहबने प्रायः ठीक माना है, और उसीकी पुष्टिमें उन्होंने अपने अनुमानको जमा दिया है। आपके इस अनुमानका आधार, प्रकृत-

बेल्लगोलके 'मल्लिपेणप्रशस्ति' नामक शिलालेख (न० ५४=६७) में, समन्तभद्रका 'सिंहनदि' से पहले स्मरण किया जाना है । आपको रायमें यह पूर्व स्मरण इस बातके लिये अत्यत स्वाभाविक अनुमान है कि समन्तभद्र सिंहनदिसे अधिक अथवा अल्प समय पहले हुए हैं । ये सिंहनदि मुनि गगराज्य (गगवाडि) की स्थापनामें विशेषरूपसे कारणीभूत अथवा सहायक थे, गगवशके प्रथम राजा कोंगुणिवर्माके गुरु थे, और इस लिये कोंगुदेशराजाकल (तामिळ कानिकल) आदिसे कोंगुणिवर्माका जो समय ईसाकी दूसरी शताब्दीका अन्तिम भाग (A D 188) पाया जाता है वही सिंहनदिका अस्तित्व-समय है । सिंहनदिसे पहले स्मरण किये जानेके कारण समन्तभद्र सिंहनदिसे पहले हुए हैं, और इसी लिये उनका अस्तित्वकाल ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दि अनुमान किया गया है । यही सब राइस साहबके अनुमानका सारांश है । *

१ राइस साहबको बादमें कोंगुणिवर्माका एक शिलालेख मिला है, जो शक संवत् २५ (A D 103) का लिखा हुआ है और जिसे उन्होंने, सन् १८९४ में, नजनगूड ताल्लुके (मैसूर) के शिलालेखोंमें न० ११० पर प्रकाशित कराया है (E C III) । उससे कोंगुणिवर्माका स्पष्ट समय ईसाकी दूसरी शताब्दीका प्रारंभिक अथवा पूर्वभाग पाया जाता है, और इस लिये सन् १८८९ में भ्रवणबेल्लगोलके शिलालेखोंकी उक्त पुस्तकको प्रकाशित कराते हुए जो दूसरे आधारोंपर आपने यह दूसरी शताब्दिका अन्तिम भाग समय माना था उसे ठीक न समझना चाहिये ।

* इस सम्बन्धमें राइस साहबके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

Supposing him (समन्तभद्र) to have preceded at a greater or less distance the guru (सिंहनन्दि) mentioned, and that is the case, then he

हमारी रस्यमें राक्षस साहसक यह अनुमान निरापद अथवा युक्त प्रतीत नहीं होता । हो सकता है कि समन्तमात्र सिंहनन्दिसे पहले ही हुए हों, और ईसाख्री पहलेी सत्वाब्दिके विद्वान् हों, परंतु जिस आधार पर राक्षस साहसने इस अनुमानकी सृष्टि की है वह सुरक्ष नहीं है; उसके लिय सबसे पहले, यह सिद्ध होनेकी नहीं जरूरत है कि उक्त शिवाकेसरीमें जितने भी गुरुभोंका उल्लेख है वह सब कालक्रमको लिये हुए है, अथवा उसमें सिंहनन्दिका समन्तमात्रके बाद या उनके वंशमें होना सिद्धा है । परंतु ऐसा सिद्ध नहीं होता—न रा शिवाकेसरी ही उस प्रकृतिकाल पक्का है और न उसमें 'उत्त' या 'उदम्बये' आदि शब्दोंके द्वारा सिंहनन्दिका बादमें होना सूचित किया है—उसमें जितने ही गुरुभोंका स्मरण क्रमरहित आगे पीछे भी पाया जाता है । उदाहरणके लिये 'पात्रकेसरी' विद्यानन्दको कीजिये, जिन्होंने अकालंकदेवकी 'अष्टसरी' को अपनी 'अष्टसहस्री' द्वारा पुष्ट किया है और जो विरुमकी प्राय ९ वीं शताब्दिके विद्वान् है । इसका स्मरण अकालंकदेवसे पहले ही नहीं, बल्कि 'श्रीपद्मेदेव' से भी पहले किया गया है । श्रीपद्मेदेवकी स्तुति 'दंडी' नामक कविने भी की है, जो ईसाख्री छठी शताब्दीका विद्वान् है और उसकी

might, in connection with the remarks made below be placed in the 1st or 2nd century A. D.

There is accordingly no reason why Sinha nandi should not be placed at the end of the 2nd century A. D.

१ पात्रकेसरी और विद्यानन्द दोनों एक ही व्यक्ति थे इसके लिये देखो 'सम्बतप्रकाश' प्रथम तथा वासिष्ठनसूरीका 'हनुसूत्रोद्भव' नामक अथवा 'विवाहितरी' नाम १ अंक १ पृ ४३१-४४ । सम्बतप्रकाशके निम्न भागको ही दोनोका एक व्यक्ति ठोका माना जाता है— तथा श्लोकमार्तिके विद्यानन्दपरमप्रायः केन्द्रस्थितिपरिभाषा बहुत तब लिखके— ।

स्तुतिका वह पद्य उक्त शिलालेखमें दिया हुआ है। इससे स्पष्ट है कि श्रीमद्भेदेव बहुत पुराने आचार्य हुए हैं और वे पात्रकेसरीसे कई सौ वर्ष पहले हो गये हैं। फिर भी पात्रकेसरीका स्मरण उनसे भी पहले किया जाना इस बातको स्पष्ट सूचित करता है कि उक्त शिलालेखमें कालक्रमसे गुरुओंके स्मरणका कोई नियम नहीं रखा गया है, आर इसलिये शिलालेखमें समन्तभद्रका नाम सिंहनन्दिमे पहले लिखे जानेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि समन्तभद्र सिंहनन्दिसे पहले ही हुए हैं। रही 'पट्टावली'की बात सों यद्यपि वह हमारे सामने नहीं है फिर भी इतना जरूर कह सकते हैं कि आम तौरपर पट्टावलियाँ प्रायः प्रचलित प्रवादों अथवा दत्तकप्राप्तों आदिके आधारपर पीछेसे लिखी गई हैं, उनमें प्रमाणवाक्यों तथा युक्तियोंका अभाव है, और इसलिये केवल उन्हींके आधार पर ऐसे जटिल प्रश्नोंका निर्णय नहीं किया जा सकता—वे अधिक प्राचीन गुरुओंके क्रम और समयके विषयमें प्रायः अपर्याप्त हैं।

२—'कर्णाटक-कवि-चरिते' नामक कन्नड़ी ग्रंथके रचयिता (मेसर्स आर० एण्ड एस० जी० नरसिंहाचार्य) का अनुमान है कि समन्तभद्र शक सन्वत् ६० (ई० सन् १३८) के लगभग हो गये हैं, ऐसा पंडित नाथूरामजीने, अपनी 'कर्णाटक-जैन-कवि' नामक पुस्तकमें सूचित किया है, जो प्रायः उक्त कन्नड़ी ग्रंथके आधारपर लिखी गई है। परंतु किस आधारपर उनका ऐसा अनुमान है, इसका कोई उल्लेख नहीं किया। जान पड़ता है उक्त पट्टावलीके आधारपर अथवा लेविस राइसके कथनानुसार ही उन्होंने समन्तभद्रका वह समय लिख दिया है, उसके लिये स्वयं कोई विशेष अनुसंधान नहीं किया। यही वजह है जो वादको मिस्टर एडवर्ड पी० राइस साहबने, अपने कन्नड़ी-साहित्यके इतिहास (History of Kanarese literature) में,

जिसे उन्होंने उक्त लेखित राक्षस साहस्यके ग्रंथों और 'कर्णाटकनक्षि-
त्रिते' के आधारपर लिखा है, समंतभद्रके अस्तित्वका विषयमें सिर्फ
इतना ही सूचित किया है कि जैनियोंका विषयत (कोशकथा) के अनु-
सार वे दूसरी शताब्दीके विद्वानोंमेंसे हैं * ।

३—ब्रह्मर एम० एस० रामस्वामी भाष्यंगर, एम० ए० ने अपनी
'सुब्रीज इन साउथ इन्डियन जैनिसम' नामकी पुस्तकमें लिखा है कि
"समन्तभद्र उन प्रख्यात दिगम्बर (जैन) लेखकोंकी श्रेणीमें सबसे
प्रथम थे जिन्होंने प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंके समयमें महान् प्राप्ताभ्य
प्राप्त किया है ।" इससे स्पष्ट है कि आपने समंतभद्रको प्राचीन राष्ट्र-
कूटोंके समकालीन और उनके राज्यमें विद्यमानरूपसे सम्झना ठीक माना
है । परन्तु प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंमेंसे कौनसे राजाके समयमें समंत-
भद्र हुए हैं, यह कुछ नहीं लिखा और न यही सूचित किया कि
आपका यह सब कथन किस आधारपर अवलम्बित है, जिससे उस-
पर विशेष विचारको अवसर मिलेगा । आपने प्राचीन राष्ट्रकूट राजा-
ओंके नाम भी नहीं दिये और न यही प्रकट किया कि उनका कुछ
कैसे कस्तक रहा है । राष्ट्रकूटोंके जिस कालका आपने उल्लेख किया
है और जिसके साथमें 'प्राचीन (जर्नी)' विशेषणका भी कोई प्रयोग
नहीं किया गया वह ईसवी सन् ७५० से प्रारम्भ होकर ९७३ पर समाप्त

* Samanta-bhadra is by Jain tradition placed in the second century

† This Samantabhadra was the first of a series of celebrated Digambara writers who acquired considerable predominance, in the early Rashtrakut period.

५५६ (ई० सन् ६६४) है जो रविवर्तिका के उक्त शिखरप्रकाश समय है, तो यह बात आपके उस कथनके निरुद्ध पड़ती है जिसमें आपने, पुस्तकके पृष्ठ ३०-३१ पर, यह सुनिश्चित करते हुए कि समंतमद्र के बाद बहुतसे जैन मुनियोंने ध्वजधर्मविद्युत्तियोंको स्वधर्मानुयायी बनानेके काम (the work of proselytism) को अपने हितमें लिया है, उन मुनियोंमें, प्रधान उदाहरणके तौर पर, सबसे पहले गंगाधरि (गंगधर) के संस्थापक 'सिद्धन्दि' मुनि का और उसके बाद 'सूर्यपाद,' मच्छकदेव के नामोंका उल्लेख किया है। क्योंकि सिद्धन्दिमुनि का अस्तित्वसमय ऐसा कि पहले जाहिर किया जा चुका है, कोण्टिगिरिवाले साध साध ईसाई दूसरी शताब्दी का प्रारंभिक अथवा पूर्वभाग माना जाता है और सूर्यपाद भी गोविन्द प्रथमके उक्त समयसे प्रायः एक शताब्दी पहले हुए हैं। इसलिये या तो यही कहना चाहिये कि समंतमद्र सिद्धन्दिसे पहले (ईसाई पहली या दूसरी शताब्दीमें) हुए हैं और या यही प्रतिपादन करना चाहिये कि वे प्राचीन राष्ट्रकुटोंके समकक्षीन (ईसाई प्रायः सातवीं शताब्दीके पूर्वार्ध अथवा आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें) थे। दोनों करते एकत्र नहीं बन सकती। जहाँ तक हम समझते हैं आर्यभट्ट महाशयने भी जेनेस रजस साहबके अनुसार, समंतमद्र का अस्तित्वसमय सिद्धन्दिसे पहले ही माना है और प्राचीन राष्ट्रकुटोंके समकक्षीनबना उनका उल्लेख किसी गम्भीर अथवा भूख पर अवलम्बित है। यही बख्श है जो उन्होंने वहाँ पर एक सन्त ६० वाले जैनियोंके साम्प्रदायिक कथनको भी बिना किसी प्रविष्टिके स्थान दिया है। यदि ऐसा नहीं है, बल्कि-

१. देखो पिछला वह 'पुनः पाठ' जिसमें कोण्टिगिरिवाले समय का उल्लेख किया है।

सिंहनदि और पूज्यपादसे पहले समतभद्रको स्थापित करनेवाली बात ही उनकी गलत है, और उन्होंने वास्तवमें समतभद्रको ईसवी सन् ७५० या उसके बादका विद्वान् माना है तो हमें इस कहनेमें जरा भी सकोच नहीं हो सकता कि आपकी यह मान्यता बिल्कुल ही निराधार है, जिसका कहींसे भी कोई समर्थन नहीं हो सकता ।

४—मध्यकार्त्तन भार्ताय न्यायके इतिहास (हिस्टरी ऑफ दि मिडियावल स्कू उ ऑफ इंडियन लॉजिक) में, डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण, एम० ए० ने अपना यह अनुमान प्रकट किया है कि समतभद्र ईसवी सन् ६०० के करीब हुए हैं * । परंतु आपके इस अनुमानका क्या आधार है—अथवा किन युक्तियोंके बल पर आप ऐसा अनुमान करनेके लिये वाध्य हुए हैं, यह कुछ भी सूचित नहीं किया । हाँ, इससे पहले, इतना जरूर सूचित किया है कि समतभद्रका उल्लेख हिन्दू-तत्त्ववेत्ता ' कुमारिल ' ने भी किया है और उसके लिये डाक्टर भाडारकरकी सस्कृतप्रयविषयक उस रिपोर्टके पृष्ठ ११८ को देखनेकी प्रेरणा की है जिसका उल्लेख हम न० १ में कर चुके हैं । साथ ही यह प्रकट किया है कि ' कुमारिल ' बौद्ध तार्किक विद्वान् धर्मकीर्तिका समकार्त्तन था और उसका जीवनकाल आमतौर पर ईसाकी ७ वीं शताब्दी माना गया है । शायद इतने परसे ही—कुमारिलके ग्रंथमें समतभद्रका उल्लेख मिल जानेसे ही—आपने समतभद्रको कुमारिलसे कुछ ही पहलेका विद्वान् मान लिया है । यदि ऐसा है तो

* Samantabhadra is supposed to have flourished about 600 A D

१ सूचित करनेकी खास जरूरत थी, क्योंकि दूसरे विद्वान् समतभद्रका अस्तित्व समय ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दी मान रहे थे ।

आपका यह मान ठीक जरा भी बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होता । समस्त-
मत्र कुम्भारिकसे अधिक समय पहले न होकर अल्पसमय पहले ही हुए
हैं, इस बातकी उक्त उल्लेख मात्रमें क्या गारंटी है ? इस बातको सिद्ध
करनेके लिये तो विशेष प्रमाणोंकी आवश्यकता थी, जिनका उक्त पुस्त-
कमें उल्लेख पाया जाता है ।

धर्मकीर्तिके प्रकरणमें विद्याभूषणजीने धर्मकीर्तिके स्पष्ट समय
(संभवतः धर्मकीर्तिके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका समय) ई०
सन् ११५ से १५० के लगभग बतलाया है और इस समयकी
पुष्टिमें तीन बातेंका उल्लेख किया है—एक तो यह कि धर्मकीर्तिके गुरु
धर्मपाद ई० सन् १३५ में जीवित था, इसी सन् तक उसके अस्तित्वका
पता चलता है इससे धर्मकीर्ति भी उस समयके करीब मौजूद होना
चाहिये दूसरे यह कि धर्मकीर्ति तिब्बतके राजा 'सोण्-सुनगम्पो' का
समकालीन था जिसका अस्तित्व समय ई० सन् १२७ से १९८ तक
पाया जाता है, और इस समयके साथ धर्मकीर्तिके समय अनुकूल पड़ता
है तीसरे यह कि 'इ-सिग' नामक चीनी यात्रीने ई० सन् १७१ से
१९५ के लगभगी समयमें भारतकी यात्रा की है, वह (अपने यात्रा-
वृत्तान्तमें) बड़ी सूचीके साथ इस बातको प्रकट करता है कि किस
तरह पर 'दिप्तांग'के बाद "धर्मकीर्तिने तकराज्यमें और अधिक उन्नति
की है ।" इसके सिवाय धर्मकीर्तिकी बीड़ दीप्तांगके बाद विद्याभू-
षणजीने यह भी प्रकट किया है कि धर्मकीर्तिने तीर्थार्थीन (Tirtha

१ इसी सन् ११५ में, चीनी यात्री हेमत्सेन जब बार्कडाके सिंधुनिवासी-
को पहुँचा तो वहाँ उक्त धर्मपादकी कथा, प्रभाव परंपरा उल्लेख एक विष्णु
दीप्तांग प्रतिष्ठित हो चुका था, ऐसा विद्याभूषणजीकी उक्त पुस्तकसे पता
चला है ।

System) के गुप्ततायका परिचय प्राप्त करने का उद्देश्य एक गुप्ततायका में दक्षिणकी यात्रा की, कि यह मादम करके कि कुमारिल नामक इन गियका अद्वितीय विद्वान् है, अपने आपको उसकी नयाम गण्डा और अपनी सेरासे उसे प्रभाव करके उगने, उक्त दर्जनके गुप्त सिद्धान्तोंको मादम किया । उस समय कथनसे यह स्पष्ट चानि निरुद्धता है कि धर्मकीति ६३५से पहले ही कुमारिलकी ने गां पट्टेच गये थे, और उस समय कुमारिल दृष्ट नहीं तो प्राय ४० वर्षकी अवस्थाके अरुण होने । ऐसी हालतमें कुमारिलका समय पाठकी और ६० सन् ६०० के करीब पट्टेच जाता है, और यही समय, ऊपर, नमन्तभद्रका उल्लास गया है । दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि गियान्गणजीने, गस्तमर्म, समतभद्र और कुमारिलको प्रायः समकालीन ठहराया है । परन्तु कुमारिलने, अपने 'श्लोकमार्तिक' में, अकलकस्तके 'अष्टशती' प्रथ पर, उसके 'आज्ञाप्रधाना हि' इत्यादि वाक्योंको लेकर, कुछ कटाक्ष किये हैं, ऐसा प्रोफेसर के० वी० पाठक 'दिगम्बरजनसाहित्यमें कुमारिलका स्थान' नामक अपने निबन्धमें, सूचित करते हैं और साथ ही यह प्रकट करते हैं कि कुमारिल अकलकस्त कुछ वाट तक जीवित रहा है, इसीसे जो आक्षेप अष्टशतीके वाक्योंपर कुमारिलने किये उनके निराकरणका अवसर स्वयं अकलकस्तो नहीं मिल सका, वह काम बादमें अकलकस्तके शिष्यों (गियानन्द और प्रभाचन्द्र) को करना पड़ा । उक्त 'अष्टशती' प्रथ समतभद्रके 'देनागम' स्तोत्रका भाष्य है, यह पहले जाहिर किया जा चुका है । इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि समतभद्रके एक ग्रन्थके ऊपर कई शताब्दी पीछेके बने हुए भाष्य पर, भाष्यकारकी

१ 'अष्टशती' भाष्य कई शताब्दी पीछेका बना हुआ है, यह बात आगे चलकर स्वयं मादम हो जायगी ।

प्रायः इत्याशयसे, जब कुमारीक कटाक्ष करता है तब वह समंततमन्त्रसे कितने पीछेका विद्वान् है और उसे समंततमन्त्रके प्रायः समकक्षीन ठहराना क्यों तक पुक्तिसंगत हो सकता है । ज्ञान पक्का है विद्याभूषणजीके कुमारीके उक्त 'स्रोतवार्तिक' को देखनेका अवसर ही नहीं मिला । यही वजह है जो वे अकलंकदेवके कुमारीके भी पीछेका—ईसाई सन् ७५० के करीबका—विद्वान् किये गये हैं । यदि उन्होंने उक्त प्रस्य देखा होता तो वे अकलंकदेवका सम्य ७५० की जगह ६४० के करीब लिखते, और तब आपका वह कथन 'अकलंकवर्णित' के निम्न पत्रके प्रायः अनुकूल ज्ञान पक्का, जिसमें लिखा है कि 'विक्रम संवत् ७०० (ई० सन् ६४६) में अकलंक पतिव्रत बौद्धोंके साथ महान् वाद हुआ है—

विक्रमार्क-शुक्राभ्युदीय-धृतसप्त-प्रमाश्रुपि ।

कासेऽकलंक-पतिनो बौद्धैर्विदो महानभूत् ॥

और भी कितने ही जैन विद्वानोंके विषयमें विद्याभूषणजीके सम्य-निरूपणका प्रायः ऐसा ही डाक है—वह किसी विशेष अनुसंधानके

१ कुछ विद्वानोंके अकलंकदेवके 'उज्जयिणीसूत्रम्' इत्यादि पत्रमें आए हुए 'साहस्रपुराण' उज्जयिणी राहस्य उज्जयिणी प्रथम (उज्जयिणी) के साथ समीकरण करके अकलंकदेवके उनके समकक्षीय—ईसाई कालकी कलाभ्युदीयके प्रथम उत्तरार्धका—विद्वान् माना है, परंतु कुमारीक यदि वा कर्तव्यवर्णितके कथनावुधार यद्वैदिकार्थक समकक्षीय भा तो अकलंकदेवके अस्तित्वका समय वह सिद्ध हो ही नहीं कर सकता है, और तब वह कहना होय कि साहस्रपुराण का उज्जयिणीके साथ भी समीकरण किया गया है वह ठीक नहीं है । केमिष्ठ राष्ट्रने ऐसा समीकरण न करके अपनेको साहस्रपुराणके पहचाननेमें असमर्थ बतलाया है ।

२ वह पत्र इतिहासका फेर भगवद्गीतोक्त (एपिमेनिया कर्मादिष्व विहितं शरीरं) के द्वितीयसंस्करण (सन् १९२३) की प्रस्तावनामें श्री भारतीरायचरणके द्वारा उक्त भाष्यके साथ कटुत किया गया है ।

लिये हुए माह्दम नहीं होता—जिसका एक उदाहरण न्यायदीपिकाके कर्ता ' धर्मभूषण ' का समय है । आपने धर्मभूषणका समय ई० सन् १६०० के करीब दिया है परन्तु उनकी न्यायदीपिका शक सवत् १३०७ में लिखी गई है, ऐसा प्रो० के० वी० पाठकने, 'साउथ इंडियन इन्स्टिट्यूट्स जिल्द १ली, पृष्ठ १५६' के आधार पर अपने उक्त निवर्धने सूचित किया है । ऐसी हालतमें आपको धर्मभूषणका समय ई० सन् १३८५, या '१४०० के करीब' देना चाहिये था, परन्तु ऐसा न करके आपने धर्मभूषणको उनके अत्तली समयसे एकदम २०० वर्ष पीछेका विद्वान् करार दिया है और यह लिख दिया है कि करीब ३०० वर्ष (५३२ के स्थानमें) हुए जब उन्होंने न्यायदीपिका लिखी थी ! इससे स्पष्ट है कि विद्याभूषणजीने जैन विद्वानोंका ठीक समय माह्दम करनेके लिये कोई विशेष प्रयास नहीं किया और इस लिये इस विषयमें उनका वह कथन, जो विशेष युक्तियोंको साथमें लिये हुए नहीं है, कुछ अधिक विश्वासके योग्य माह्दम नहीं होता—कितने ही स्थानों पर तो वह बहुत ही भ्रमोत्पादक जान पड़ता है । समतभद्रका अस्तित्व-विषयक कथन आपका कितना भ्रमपूर्ण है इस बातका और भी अच्छा अनुभव पाठकोंको आगे चल कर हो जायगा ।

सिद्धसेन और न्यायावतार ।

५—कुछ विद्वानोंका खयाल है कि स्वामी समतभद्र सिद्धसेन दिवाकरसे पहले हुए हैं । सिद्धसेन यदि विक्रमादित्य राजाकी सभाके नवरत्नोंमेंसे थे और इस लिये विक्रमकी प्रथम शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं तो समतभद्र उससे भी पहलेके—ईसाकी पहली शताब्दीसे भी पहलेके—विद्वान् होने चाहियें, क्योंकि समन्तभद्रके 'रत्नकरण्डक' का निम्न पद्य सिद्धसेनके 'न्यायावतार' में उद्धृत पाया जाता है—

आप्तोपपन्नमनुष्ठानमष्टविरोधकम् ।

तस्योपपन्नकृत्सर्वं शार्ङ्गं कापययद्गुणम् ॥ ९ ॥

इसमें संदेह नहीं कि यह पद्य समेतमयके 'रुनकरक' नामक उपासकभ्यून (आयकधार) का पद्य है, उसमें यथास्थान-स्य-क्रम-मूलरूपसे पाया जाता है और उसका एक बहुत ही आवश्यक भाग है। यदि इस पद्यके उक्त प्रपञ्चे निम्नलिखित दिया जाय तो उसके कथनका सिद्धिबिधा ही सिद्धि जाय। क्यों कि प्रथम, किम जात, आगम तपोमृतके अष्ट अंगसहित और निम्नलिखितविरहित अष्टानको सम्बन्धदर्शन अतकत्या गया है उनका क्रमस्वरूप निर्देश करते हुए इस पद्यसे पहले आश्रय और इसके बाद तपोमृतका स्वरूप दिया है, यह पद्य यहाँ दोनोके मध्यमें अपने स्थानपर स्थित है, और अपने विषयका एक ही पद्य है। प्रस्तुत इसके, स्यात्प्रकारमें इस पद्यकी स्थिति बहुत ही संक्षिप्त जान पड़ती है। यह उसका कोई आवश्यक भाग माहृम नहीं होता, और न इसके निम्नलिखित देनेसे वहाँ प्रपञ्चे सिद्धिसिद्धमें अथवा उसके प्रतिपाद्य विषयमें ही कोई बाधा आती है। प्रथम परोक्ष प्रमाणके अनुमान' और 'शब्द' ऐसे दो मेदोंका कथन करते हुए, स्वार्थानुमानका प्रतिपादन और समर्थन करनेके बाद, इस पद्यसे ठीक पहले शब्द प्रमाणके अष्टानका यह पद्य दिया हुआ है—

उपेष्टाभ्याहताश्रयात् परमार्थमिषायिनः ।

तस्यप्रादितयोत्पत्तिं मानं शब्दं प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥

१ यह पद्य दोनो ही मध्यमें वर १ पर दिया हुआ है, और ऐसा होना आवश्यक कारणका परिणाम है।

२ टीकामें इस पद्यसे पहले यह प्रस्तावना कथन दिया हुआ है—

लिये हुए माद्धम नहीं होता—जिसका एक उदाहरण न्यायदीपिकाके कर्ता 'धर्मभूषण' का समय है । आपने धर्मभूषणका समय ई० सन् १६०० के करीब दिया है परन्तु उनकी न्यायदीपिका शक सवत् १३०७ में लिखी गई है, ऐसा प्र० के० बी० पाठकने, 'साउथ इंडियन इन्स्टिट्यूट्स जिल्द १ली, पृष्ठ १५६' के आधार पर अपने उक्त निबधमें सूचित किया है । ऐसी हालतमें आपको धर्मभूषणका समय ई० सन् १३८५, या '१४०० के करीब' देना चाहिये था, परन्तु ऐसा न करके आपने धर्मभूषणको उनके असली समयसे एकदम २०० वर्ष पीछेका विद्वान् करार दिया है और यह लिख दिया है कि करीब ३०० वर्ष (५३२ के स्थानमें) हुए जब उन्होंने न्यायदीपिका लिखी थी । इससे स्पष्ट है कि विद्याभूषणजीने जैन विद्वानोंका ठीक समय माद्धम करनेके लिये कोई विशेष प्रयास नहीं किया और इस लिये इस विषयमें उनका वह कथन, जो विशेष युक्तियोंको साथमे लिये हुए नहीं है, कुछ अधिक विश्वासके योग्य माद्धम नहीं होता—कितने ही स्थानों पर तो वह बहुत ही भ्रमोत्पादक जान पड़ता है । समंतभद्रका अस्तित्व-विषयक कथन आपका कितना भ्रमपूर्ण है इस बातका और भी अच्छा अनुभव पाठकोंको आगे चल कर हो जायगा ।

सिद्धसेन और न्यायावतार ।

५—कुछ विद्वानोंका खयाल है कि स्वामी समतभद्र सिद्धसेन दिवाकरसे पहले हुए हैं । सिद्धसेन यदि विक्रमादित्य राजाकी सभाके नवरत्नोंमेंसे ये और इस लिये विक्रमकी प्रथम शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं तो समतभद्र उससे भी पहलेके—ईसाकी पहली शताब्दीसे भी पहलेके—विद्वान् होने चाहियें, क्यों कि समन्तभद्रके 'रत्नकरण्डक' का निम्न पद्य सिद्धसेनके 'न्यायावतार' में उद्धृत पाया जाता है—

आप्तोपद्वयमनुल्लङ्घ्यमद्वयेतिरोधकम् ।

तत्सोपद्वयकृत्सोऽपि दाकं कापयमद्वयम् ॥ ९ ॥

इसमें संदेह नहीं कि यह पद्य समतमद्वये 'सुनकरद्वय' नामक उपासकाध्ययन (आवकाचार) का पद्य है, उसमें व्याख्यान-व्या-क्रम-मूलरूपसे पाया जाता है और उसका एक बहुत ही आश्चर्यक-रंग है । यदि इस पद्यको ठीक प्रथमे निकाल दिया जाय तो उसके कथनका सिद्धिबिधा ही बिगड़ जाय । क्यों कि प्रथमे, जिन आप्त, आगम तपोभूतके अष्ट अंगस्तद्विध और विमृष्टादिविहित ध्यानको सम्बन्धार्थन कथनाया गया है उसका क्रमसा स्वरूप निर्देश करते हुए इस पद्यसे पहले आप्तका और इसके बाद तपोभूतका स्वरूप दिया है; यह पद्य यहाँ होमके मध्यमें अपने त्यागपर स्थित है, और अपने विषयका एक ही पद्य है । प्रसुत इसके, व्याख्यानपरमें इस पद्यकी स्थिति बहुत ही संश्लिष्ट जान पड़ती है । यह उसका कोई आश्चर्यक-रंग माहृम नहीं होता और न इसको निकाल देनेसे वहाँ प्रथमे सिद्धिसिद्धिमें कथना उसके प्रतिपाद्य विषयमें ही कोई बाधा आती है । प्रथमे परमेष्ठ प्रमाणके 'अनुमान' और 'शब्द' ऐसे दो मेहोंका कथन करते हुए, स्वार्थानुमानका प्रतिपादन और समर्पण करनेके बाद, इस पद्यसे ठीक पहले 'शब्द' प्रमाणके उल्लेखका यह पद्य दिया हुआ है—

द्वयेष्टाभ्यामसाक्षात्कृत् परमार्थोभिधापिनः ।

सत्त्वसादितयोत्पत्तिं मानं शब्दं प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥

१ यह पद्य दोनों ही प्रयोगों के बाद १ पर दिया हुआ है, और ऐसा होना आश्चर्यक-रंग का ही परिणाम है ।

२ टीका-म-म-पद्यों के अन्तिम अङ्ग प्रस्तावना कायम दिया हुआ है—

इस पद्यकी उपस्थितिमें इसके बादका उपर्युक्त पद्य, जिसमें शास्त्र (आगम) का लक्षण दिया हुआ है, कई कारणोंसे व्यर्थ पड़ता है । प्रथम तो, उसमें शास्त्रका लक्षण आगमप्रमाणरूपसे नहीं दिया—यह नहीं बतलाया कि ऐसे शास्त्रसे उत्पन्न हुआ ज्ञान आगम प्रमाण अथवा शाब्दप्रमाण कहलाता है—बल्कि सामान्यतया आगम पदार्थके रूपमें निर्दिष्ट हुआ है, जिसे 'रत्नकरण्डक' में सम्पद्दर्शनका विषय बतलाया गया है । दूसरे, शाब्दप्रमाणसे शास्त्रप्रमाण कोई भिन्नवस्तु भी नहीं है, जिसकी शाब्द प्रमाणके बाद पृथक् रूपसे उल्लेख करनेकी जरूरत होती, बल्कि उसीमें अंतर्भूत है । टीकाकारने भी, शाब्दके 'लौकिक' और 'शास्त्रज' ऐसे दो भेदोंकी कल्पना करके, यह सूचित किया है कि इन दोनोंका ही लक्षण इस आठवें पद्यमें आगया है, * इससे ९ वें पद्यमें शाब्दके 'शास्त्रज' भेदका उल्लेख नहीं, यह और भी स्पष्ट हो जाता है । तीसरे, ग्रंथ भरमें इससे पहले, 'शास्त्र' या 'आगम' शब्दका कहीं प्रयोग नहीं हुआ जिसके स्वरूपका प्रतिपादक ही यह ९ वाँ पद्य समझ लिया जाता, और न 'शास्त्रज' नामके भेदका ही मूल प्रथममें कोई निर्देश है जिसके एक अवयव (शास्त्र) का लक्षण प्रतिपादक यह पद्य हो सकता, चौथे यदि यह कहा जाय

“तदेव स्वार्थानुमानलक्षण प्रतिपाद्य तद्वत्ता भ्रान्तताविप्रतिपत्तिं च निराकृत्य अधुना प्रतिपादितपदार्थानुमानलक्षण एवास्त्वक्तव्यत्वात् तावच्छाब्दलक्षणमाह ” ।

१ स्वपरामासी निर्वाध ज्ञानको ही 'न्यायावतार' के प्रथम पद्यमें 'प्रमाण' का लक्षण बतलाया है, इस लिये प्रमाणके प्रत्येक भेदमें उसकी व्याप्ति दर्शनी चाहिये ।

* 'शाब्द च द्विधा भवति—लौकिक शास्त्रज चेति । तत्रेदं द्वयोरपि साधारणं प्रतिपादितम् ।

किं ८ वें पद्यमें 'शब्द' प्रमाणक्य त्रिस वाक्यसे उत्पन्न हुआ कथ-
 यथा गया है तृतीय 'शब्द' नामसे अगले पद्यमें स्वरूप दिया
 गया है तो यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि किं ८ वें पद्यमें ही 'हरे
 प्रत्याहृत' माणि विशेषणोक्ति द्वारा वाक्यक्य स्वरूप दे दिया गया है
 और वह स्वरूप अगले पद्यमें दिये हुए शब्दके स्वरूपसे प्राप्य मित
 तो श्रुतता है—उसके 'हरेष्टाभ्याहृत' का 'अष्टोपपन्न' विशेषणोक्त
 साथ साम्य है और उसमें 'अनुकृत्य' तथा 'अतोपपन्न' विशेषणोक्त
 भी समावेश हो सकता है 'परमार्थमिधायि' विशेषण 'कपय
 धन' और 'सार्ध' विशेषणोक्तों के साथ साथ है और अत्रप्रमा-
 णक्ये तत्त्वब्राह्मणोक्त्यस्य प्रतिपादन करनेसे यह स्पष्ट बनित है
 कि वह वाक्य 'उत्पादशब्द' माना गया है—इस तरह पर दोनों
 पद्योंमें परस्पर बहुत कुछ साम्य पाया जाता है । ऐसी दृष्टिमें प्रप-
 न्कारके सिध एक ही बातकी व्यर्थ पुनराक्ति करनेकी कोई बकह नहीं
 हो सकती। सातकर ऐसे प्रपद्यों में जो सूत्ररूपसे जैसे तुल्य शब्दोंमें लिखा
 जाता हो । पौन्ये प्रपकारमें स्वयं अगले पद्यमें वाक्यको उपचारसे
 'पर्याप्तुमान' कहाया है; यथा—

स्वनिबन्धवदन्येषां निबन्धोत्पादनं शुचिः ।

परार्थ मानमाख्यात वाक्यं तदुपचारतः ॥ १ ॥

इन सब बातों अथवा कारणोंके समुच्चयसे यह स्पष्ट है कि 'न्याया-
 चरित' में 'अतोपपन्न' नामक पद्यकी स्थिति बहुत ही सही है, वह
 मूल प्रपकारक पद्य माना नहीं होता उसे मूल प्रपकारकविषय
 प्रपकारक वाक्यक्य अग माननेसे पूर्वोक्त पद्योंके मध्यमें उसकी स्थिति
 व्यर्थ पद है । अतः प्रपकारकी भी उसे स्वीकार नहीं करती,

और इस लिये वह अत्यन्त ही एक
 उसे देनेसे पहले, शब्दके 'लौकिक' और
 कल्पना करके, प्रस्तावनारूपसे जो यह लिखा है कि
 शास्त्रसे उत्पन्न हुआ शास्त्रज प्रमाण प्रमाणोंकी प्रतीति, और
 अब ग्रंथकार लिखते हैं '॥' यह ग्रंथके अन्त परकी प्रतीति
 सामंजस्य स्थापित करनेके लिये टीकाकारके प्रमाण का है ।
 मूल ग्रंथकारकी न तो ऐसी भेदकल्पना ही सम्भव होती है, न
 प्रकारकी कल्पनाके आधारपर प्रथम कल्पनाकी कोई प्रतीति ही पाई
 है और न ८ वें पद्यमें वाक्यका स्वरूप ज्ञान देने पर, उन्हें
 अलग स्वरूप देनेकी कोई जरूरत ही थी । वे यदि ऐसा
 अन्य ग्रंथोंकी तरह अपने ग्रंथमें उस बातका कल्पना भी
 जिससे शास्त्र अथवा वाक्य विशेषकी उत्पत्ति होती है और जिसके
 भेद तथा प्रमाणतापर उस शास्त्र या वाक्यका भेद अथवा
 प्रायः अवलम्बित रहता है, परन्तु ग्रंथभरमें बातका कल्पना
 उसके सामान्यस्वरूपका प्रतिपादक मगलान्तरण तत्त्व भी नहीं है । इससे
 स्पष्ट है कि ग्रंथकारने इस प्रकारकी कल्पनाओं और विशेष

१ 'लौकिक' के साथ शास्त्रज नामका भेद कुछ अन्धता तथा संगत
 मालूम नहीं होता, वह 'लौकिक' होना चाहिए था ।

कार' नामक श्वेताम्बर ग्रन्थमें जिस बातके
 इसके लौकिक और लौकिक
 (लौकिक) और

आगम बतलाया गया है
 (सच होया लौकिक
 उत्पन्न)

प्रमाण
 वे

अपने प्रपञ्चों प्रायः अलग रखता है, उन्होंने सामान्यरूपसे प्रमाणनय की उस प्रतिष्ठ व्यवस्थाका ही इस प्रपञ्चमें वर्धन किया है जिसे सब समा व्यवहारमें लते हैं x, और इस क्रिये भी यह पक्ष प्रपञ्चमें उद्धृत ही जान पड़ता है। यदि सचमुच ही प्रपञ्चकारने, प्रपञ्चों का ठेके पक्षमें दिये हुए वाक्यके स्वरूपका समर्थन करनेके क्रिये इस पक्षको 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत किया हो तो इस कड़नेमें कोई संशय नहीं हो सकता कि सिद्धसेन अवश्य ही समतमदके बाद हुए हैं। परंतु, जहाँ तक हम समझते हैं, सिद्धसेन दिवाकर जिस व्यक्तिके विद्वान् थे और जिस वृंग (पद्धति) से उन्होंने अपने प्रपञ्चों प्रारम्भ और समाप्त किया है उस परसे सिद्धसेन द्वारा इस पक्षके उद्धृत क्रिये जानेकी बहुत ही कम संभावना पाई जाती है—इस बातका ख्याल भी नहीं होता कि सिद्धसेन जैसे विद्वान्ने अपने ऐसे छेदोंमें सूत्रप्रपञ्चमें एक दूसरे विद्वान्के वाक्योंको 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत करके उचित समझा हो। हमारी समझमें यह पक्ष या तो प्रपञ्चकी किसी दूसरी पुरानी टीकामें वाक्य की व्याख्या करते हुए, उद्धृत किया गया है और या किसी विद्वान्ने ८ वें अध्याय १० वें पक्षमें आए हुए 'वाक्य' शब्दपर टिप्पणी देते हुए वहाँ उद्धृत किया है, और उसी टीका या टिप्पणवाली प्रतिपरसे मूल प्रपञ्चकी नकल उतारते हुए छेदकोई असामान्य अथवा नासमझीसे यह प्रपञ्चमें प्रक्षिप्त हो गया है और प्रपञ्च एक अंग बन गया है। किसी पक्षका इस तरह पर प्रक्षिप्त होना कोई असाधारण बात नहीं है—बहुधा प्रपञ्चोंमें इस प्रकारसे प्रक्षिप्त हुए पक्षोंके कितने ही उदाहरण पाये जाते हैं। इस

x—यस्योपदिष्टवस्तुवैयर्थ्यादिविवादिमन्त्र ।

लिये, 'न्यायावतार' में इस पद्यकी स्थिति जादिकी देखती
 यही राय होती है कि यह पद्य यहाँपर क्षेपक है, और
 टीकासे, जिसे कुछ विद्वान् चंद्रप्रमत्सुरि (वि० सं० ११५६)
 और कुछ सिद्धार्थि (सं० ९६२) की बग़ाई हुई कहते हैं,
 प्रथम में प्रक्षिप्त हो चुका है । अस्तु । इस पद्यके 'क्षेपक' कहकर
 जानेपर ग्रंथके पद्योंकी संख्या ३१ रह जाती है । इसपर कुछ लोग
 आपत्ति कर सकते हैं कि सिद्धसेनकी बाबत कहा जाता है कि
 'द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका' नामसे ३२ स्तुतियाँ लिखी हैं, जिनमेंसे
 की श्लोकसंख्या ३२ है, न्यायावतार भी उन्हींमेंसे एक स्तुति
 द्वात्रिंशिका है—उसकी पद्यसंख्या भी ३२ ही होनी चाहिये
 इस लिये उक्त पद्यको क्षेपक माननेसे ग्रंथके परिमाणमें
 आती है । परंतु इस प्रकारकी आपत्तिके लिये वास्तवमें
 स्थान नहीं । प्रथम तो 'न्यायावतार' कोई स्तुतिग्रंथ ही नहीं है,
 उसमें मंगलाचरण तक भी नहीं और न परमात्माको स्तुति
 करके ही कोई कथन किया गया है, दूसरे, इस बातका कोई
 प्राचीन (टीकासे पहलेका) उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह पता
 जाता हो कि न्यायावतार 'द्वात्रिंशिका' है अथवा उसके श्लोकोंकी
 नियतसंख्या ३२ है, और तीसरे, सिद्धसेनकी जो २० अथवा २१

* "ए शिवाय पण 'द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका' ए स्तुतिसंग्रह प्रब रच्यो छे, तेसक्यों
 न्यायावतार एक स्तुतिरूप प्रब छे ।" ऐसा न्यायावतार सटीककी प्रस्तावनामें
 केरुभाई भोगीलालजी, सेक्रेटरी 'हेमचंद्राचार्यसभा' पणने प्रतिपादन किया है ।

१ सिद्धसेन दिवाकरकी आम तौरपर २० द्वात्रिंशिकाएँ एकत्र मिलती हैं,
 सिर्फ एक प्रतिमें २१ वीं द्वात्रिंशिका भी साथ मिली है, ऐसा प्रकाशकोंने सूचित
 किया है, और वह २१ वीं द्वात्रिंशिका अपने साहित्य परसे संदिग्ध जान पड़ती
 है, इसी लिये यहाँपर 'अथवा' शब्दका प्रयोग किया गया है ।

‘शशिशिखरै’ मिलती है उन सबमें ३२ पशोंका कोई नियम नहीं देखा जाता—माछवी शशिशिखरमें २६, ग्यारावीमें २८, पंद्रहवीमें ३१, दसवीमें भी ३१, दसवीमें ३४ और इन्हींमें ३३ पश पाये जाते हैं *। ऐसी हान्दतमें ‘न्यायावतार’क लिये ३२ पशोंका कुछ भक्षण नहीं किया जा सकता, और न यही कहा जा सकता है कि ३१ पशोंके उसके परिमाणमें कोई बाधा आती है ।

अब खता चाहिये कि सिद्धसेन शिवाकर कब हुए हैं और सम-तभद्र उनसे पढ़े हुए या कि नहीं । कहा जाता है कि सिद्धसेन शिवाकर उज्जयिनीके राजा विक्रमादित्यकी समाधि नगरोंमेंसे एक स्तूप और उन नगरोंके भागोंके लिये ‘श्रुतिर्निर्माण’ प्रपञ्च लिख पद पेश किया जाता है—

यन्वन्तरिः क्षपणकोऽभरसिंहं कुर्वेतासमदृष्टदुःखपरकातिदासाः ।
 स्यातो वाराहमिहिरो नृपतः सभायां रत्नानि वै वरदचिन्तनं
 विक्रमस्य ॥

इस पदमें यद्यपि, ‘सिद्धसेन’ नामका कोई उल्लेख नहीं है परन्तु ‘क्षपणक’ नामके जिस विद्वानका उल्लेख है उसीको सिद्धसेन शिवा-कर’ कहा जाता है । शिवाकर सतीशचन्द्र विद्याभूषण जी, इस निम्नमें अपनी भाष्यताका उल्लेख करते हुए, यहाँ तक लिखते हैं कि ‘जिस क्षपणक (जैनसाधु) का हिन्दुसंग विक्रमादित्यकी समाधि मूर्ति करनेवाला नगरोंमेंसे एक स्तूप समस्त है वह सिद्धसेनक शिवाय

इसी भी सिद्धसेनशिवाकरका प्रथमावस्था जिसे जैनधर्मप्रसारक राजा मन्वन्तरने भी सं १११५ में शिवाकर प्रकाशित किया ।

दूसरा कोई विद्वान् नहीं था * । साब ही, प्रकट करते हैं ग्रंथोंमें भी जैनसाधुओंको 'क्षपणक' नामसे नामांकित किया है, उनके लिये 'अवदानकल्पलता' के दो पद्य + भी उद्धृत और इस तरह पर यह सूचित किया है कि उक्त 'क्षपणक' विद्वान् बौद्ध-भिक्षु नहीं था । इसमें संदेह नहीं कि 'क्षपणक' जैन-साधुको कहते हैं । यदि वास्तवमें सिद्धसेन विक्रमादित्यकी ये ही क्षपणक विद्वान् थे और इस लिये बराहमिहिरके समकालीन तो उनका समय ईसाकी प्रायः छठी शताब्दी जान पड़ता है । क्यों बराहमिहिरका अस्तित्व समय ई० सन् ५०५ से ५८७ तक माना जाता है—उसने अपनी ज्योतिषगणनाके लिये शक सं० ४२७ (ई० सन् ५०५) को अम्बपिण्डके तौरपर पसंद किया था x

* I am inclined to believe that Sidhasen was no other than Kshapnaka (a jain sage) who is traditionally known to the Hindus to have been one of the nine gems that adorned the court of Vikramaditya, (H M S Indian Logic p 15)

+ वे पद्य इस प्रकार हैं—

भगवद्भाषितं तत्तु सुमद्रेण निवेदितम् ।

श्रुत्वा क्षपणक क्षिप्रमभूद्वेचविशङ्कम् ॥ १ ॥

तस्य सर्वज्ञतां वेत्ति सुमद्रेो नदि मग्निरा ।

तदेव क्षपणकज्ञां त्यक्त्यति अमनावरात् ॥

—अ०, ज्योतिष्कावदान ।

x देखो डॉ० सतीशचन्द्रकी न्यायावतारकी प्रस्तावना और 'हिस्टरी आफ इण्डियन सायेंस,' जिनमें आपने बराहमिहिरकी 'पंचसिद्धान्तिका' का यह पद्य भी उद्धृत किया है—

और ई० सन् ५८७ में उसका देहान्त ही हुआ था। इसी क्रिये डाक्टर सतीशचंद्रने, अपनी 'मध्यकालीन म्याय' के इतिहासकी पुस्तकमें, सिद्धसे नखे ई० सन् ५३९ के करीबका और ग्यायाबतारकी प्रस्तावनामें, सन् ५५० के करीबका विद्वान् माना है और उज्जयिनीके विक्रमादित्यके नियममें, उन विद्वानोंकी गणना स्वीकार किया है जिन्होंने विक्रमादित्य का समीकरण मालबाके उस राज्य यशोधर्मदेवके साथ किया है जिसने, मल्लिकार्जुनके कथनानुसार, ई० सन् ५३३ में कोरुर (Korur) स्थान पर हूणोंको परास्त किया था। ऐसी दृष्टिमें, यह स्पष्ट है कि सिद्धसेन दिवाकर विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् नहीं थे, बल्कि उसकी छठी शताब्दी अथवा ईसाकी पाँचवीं और छठी शताब्दीके विद्वान् थे। इस विषयमें, मुनि जिनविजयकी जैनसाहित्यसंशोधक-द्वितीय अंकके पृष्ठ ८२ पर लिखते हैं—

“सिद्धसेन ईसाकी ६ठी शताब्दीसे बहुत पहले ही गये हैं। क्योंकि विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीमें ही जानेवाले आचार्य मल्लिकार्जुन सिद्धसेनके सम्प्रतिदर्श ऊपर टीका लिखी थी। हमारे विचारसे सिद्धसेन विक्रमकी प्रथम शताब्दीमें हुए हैं।”

अध्याधिकेदृष्ट्या कालकालममल्लिकार्जुन ।

अर्द्धांशमिमे मालवीयवपुरे श्रीमद्विजयसे ॥ ८ ॥

१ देखो निम्नेष्ट नियमकी 'जहाँ दिल्ली काफ़ ईरिया' पृ० १५५

• विक्रमादित्य नामके—इस कथाके बारह मितने ही राजा हो पये हैं। गुप्तवंशके राजपुत्र द्वितीय और सम्राट् काफ़ तीर पर विक्रमादित्य प्रसिद्ध थे। इसके और इसके सम्बन्धी कुमारगुप्तके राज्यकालमें ही—ईसाकी पाँचवीं शताब्दीमें—कालिदास नामके जन प्रसिद्ध विद्वान्का होना विषयमें यह स्वीकारसे पना जाता है कि वह विक्रमादित्यकी जगहके मन्त्रालयोंमें परीक्षित किया गया है (वि० ५ नियमकी जहाँ दिल्ली काफ़ ईरिया पृ० संस्करण

यह ठीक है कि श्वेतम्बर सम्प्रदायमें आचार्य संवत् ८८४ का विद्वान् लिखा है—और उसीसे केवल विक्रमकी पौंचवीं शताब्दीका विद्वान् प्रतिपादन किया है। मल्लुवादीने बौद्धाचार्य 'धर्मोत्तर'की 'न्यायबिन्दु-टीका' पर 'णक' नामका एक टिप्पण लिखा है, और आचार्य धर्मोत्तर ईसावी शताब्दी (ई० सन् ८३७-८४७ के करीब) के विद्वान् थे, लिये मल्लुवादीका वीरसंवत् ८८४ में होना असंभव है; ऐसा सतीशचंद्र अपने मध्यकालीन न्यायके इतिहासमें, सूचित करते साथ ही, यह प्रकट करते हैं कि यह संवत् ८८४, वीर होकर, या तो विक्रम संवत् है और या शकसंवत्। विक्रम संवत् (सन् ८२७) की हालतमें मल्लुवादी धर्मोत्तरके समकालीन शक संवत् (ई० स० ९६२) की हालतमें वे धर्मोत्तरके

पृ० ३०४) और मुनि विजयजीने जिनको 'सिद्धसेनके समकालीन बौद्धोंकी वासी महाकवि' बतलाया है (जैनहितैषी, नवम्बर सन् १९१९)।

+—“ श्रीवीरवत्सरायसताहके चतुरशीतिसप्तके ।

जिम्मे स मल्लुवादी बौद्धास्तबन्तराजापि ॥ ”

यह पद्य 'न्यायवतार-वृत्ति'की प्रस्तावनामें 'प्रभावकविरित'के नामसे उद्धृत किया है।

१ मूल प्रथ 'न्यायबिन्दु' आचार्य 'धर्मकीर्ति' का लिखा हुआ है जो ईसावी सातवीं शताब्दीके विद्वान् थे। देखो सतीशचन्द्रकी हिस्ट्री आफ इंडियन लॉजिक।

२ इस 'धर्मोत्तर टिप्पणक' की एक प्रति ताकपत्रोंपर अग्निहोत्रपाठपाठके सुरक्षित है और स० १३३१ की लिखी हुई बतलाई जाती है। उसके अन्तमें लिखा है—“इति धर्मोत्तरटिप्पणके श्रीमल्लुवाद्याचार्यकृते तृतीय परिच्छेद समाप्त मञ्जु महाश्री ॥” (History of M. S. of Indian Logic P 34)

सूत्राब्दी पीछेक विद्वान् समझे जाने चाहिय * । इससे, मस्जिदादीके समयक आधार पर मुनिजीने जो यह प्रतिपादन किया है कि सिद्धसेन विद्वम्बादी पाँचवीं शताब्दीसे पहले हुए हैं सो ठीक प्रतीत नहीं होता । और भी कोई दूसरा प्रबल प्रमाण अभी तक ऐसा उपलब्ध नहीं हुआ जिससे सिद्धसेनका समय ईसावी पाँचवीं छठी शताब्दीसे पहले स्थिर किया जा सक, और छठी अथवा पाँचवीं शताब्दीका समय मानने पर हमें यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं हो सकता कि समंतभद्र सिद्धसेन दिवाकरसं बहुत पहले हुए हैं जैसा कि पाठ्यपुस्तके जगो चक्रकर माहूम होगा ।

यहाँ पर इतना आर भी प्रकट कर देना उचित माहूम होता है कि सिद्धसेनको निद्याभूषणजीने श्वेताम्बर सम्प्रदायका विद्वान् किया है । हमारी उपर्युक्त आपका यह लिखना केवल एक सम्प्रदायकी मान्यताका उल्लेख मात्र है और दूसरे सम्प्रदायकी मान्यतासे अनभिज्ञताको सूचित करता है इससे अधिक उस कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता । अन्यथा, जब दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें सिद्ध

* देखो ठक इतिहास (History of the Mediaeval School of Indian Logic) के पृष्ठ १५७, १११ ।

१ ब्रह्मसिंहिक एक प्रथम जय पत्रसं ४१७ (ई. सन् ५५) का उल्लेख है तो वे उसकी रचनासे प्रायः १०-१५ वर्ष पहले और भी नीमित रह होंगे यह स्वाभाविक है और इस सिद्धि का अतिरिक्त समर्थन ईश्वरी पाँचवीं शताब्दीका बहुत बल भी प्राप्त है । इसके विना यह भी समर्थन है कि ब्रह्मसिंहिकी बुधत्वस्वात्म्य की प्रारंभ का जो यह आपका ही उदाहरणका समय हो इसी सिद्धि बर्होपर पाँचवीं शताब्दीकी भी सिद्धसेनके अस्तित्वके सिद्धि प्रदान कर दिया गया है ।

सेनकी मान्यता है, दिगम्बरोंकी पट्टावली—गुरुपरम्पराओंमें भी सिद्ध-
सेनका नाम है, कितने ही दिगम्बर आचार्योंद्वारा सिद्धमेन खास तौर
पर स्तुति किये गये हैं और अपने ग्रन्थोंके साहित्य परसे भी वे खम्-
सियतके साथ कोई श्वेताम्बर माद्धम नहीं होते तब, वैसा लिखनेके
लिये आप कुछ युक्तियोंका प्रयोग जरूर करते अथवा, इस विषयमें,
दोनों ही सम्प्रदायोंकी मान्यताका उल्लेख करते, परंतु इन दोनों ही
वातोंका वहाँ एकदम अभाव है, और इसी लिये हमारी उपर्युक्त राय
है । रहा 'क्षपणक' शब्द, वह सामान्यरूपसे जैनसाधुका बोधक
होने पर भी खास तौर पर श्वेताम्बर साधुका कोई द्योतक नहीं है,
प्रत्युत इसके वह बहुत प्राचीन कालसे दिगम्बर साधुओंके लिये व्यव-
हृत होता आया है, हिन्दुओं तथा बौद्धोंके प्राचीन ग्रंथोंमें निर्ग्रथ-दिग-
म्बर साधुओंके लिये उसका प्रयोग पाया जाता है और खुद श्वेताम्बर
ग्रंथोंमें भी वह दिगम्बरोंके लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसका एक उदा-
हरण नीचे दिया जाता है—

१ 'सेनगण' की पट्टावलीमें 'सिद्धसेन' का निम्न प्रकारसे उल्लेख पाया
जाता है—

(स्वस्ति) श्रीमदुज्जयिनीमहीकालसंस्थापनमहाकाललिंगमहीधरवाग्-
ब्रह्मविष्णुविष्णुतथैश्वर्यप्रातिद्वन्द्वश्रीसिद्धसेनमहारकाणा ।

—जैन सि० भा०, प्रथम किरण ।

२ हरिवंशपुराणके कर्ता श्रीजिनसेनाचार्यने, अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख
करते हुए उसमें, 'सिद्धसेन'का नाम भी दिया है । यथा—

'सुसिद्धसेनोऽभयभीमसेनकौ गुरु परौ तौ जिन-शक्तिपेणकौ ।'

—हरिवंशपुराण ।

३ दिगम्बराचार्योंद्वारा की हुई स्तुतियोंके कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

सोमाणराजकुलबोऽपिसमुद्रसुरि—

गच्छं क्षास किं वप्रवणप्रमाण (१) ।

जित्वा तदा क्षपणकान्स्ववद्यो वितेने

नार्गेद्रदे (१) भूजगनायनमस्य तीर्थे (१) ॥

यह पद्य तपराजकुली पद्मकिर्मे, जो जैन इत्येतत्पर कान्करन्त
हैरन्त किन् ११ अंक ७-१० य मुद्रित हुई है, समुद्रसुरिके
वर्णनमें लिया है । इसमें किन क्षपणकोंको जीतनेकी बात लिखी है

काम्यकिन्दोचत्त वृचयम्बेच विसुवाः ।

वोचवन्ति सतां दुर्द्धि सिद्धसेवस्य सुखः ॥

—हरिचण्डपुराणे धीविस्तेना ।

कचय सिद्धसेवसाः कचं तु कच्यो मता ।

मत्तयाः पक्षपायसाः मयु कच्योऽपि येवसाः ॥ ३२ ॥

मवादिहरिबुधार्थ केवरी कच्येवसाः ।

सिद्धसेवस्यविभीनाहिकस्यकच्येवसाः ॥ ३३ ॥

—आदिपुराणे कच्यविस्तेना ।

सिद्धसेवस्यविभीनाहिकस्यकच्येवसाः कच्येवसाः पक्षपायसाः ॥

कच्येवसाः पक्षपायसाः कच्येवसाः कच्येवसाः कच्येवसाः ॥

विस्मयसाः कच्येवसाः पक्षपायसाः ॥

कच्येवसाः पक्षपायसाः कच्येवसाः पक्षपायसाः ॥

सिद्धसेवस्यविभीनाहिकस्यकच्येवसाः ॥

—सम्यग्यसा विस्तेनाः ।

(३ 'विस्तेना' सम्यग्यसाः कच्येवसाः कच्येवसाः कच्येवसाः कच्येवसाः ॥)

मयु कच्योऽपि येवसाः कच्येवसाः कच्येवसाः ॥

कचय सिद्धसेवसा कच्येवसा इति लिखः ॥

—वचोवचरिने कच्येवसाः

उन्हें गुजराती परिचयमें दिगम्बर जती' प्रकट किया है । 'क्षपणकान्' पदसे अभिप्राय यहाँ दिगम्बर यतियोंका ही है, यह व्रात मुनिमुन्द सूरिकी 'गुर्वावली' के निम्न पद्यसे और भी स्पष्ट हो जाती है, जिसमें इसी पद्यका अर्थ अथवा भाव दिया हुआ है और 'क्षपणकान्' का जगह साफ तौरसे 'दिग्वसनान्' पदका प्रयोग किया गया है—

खोमाणभूभृत्कुलजस्ततोऽभूत्

समुद्रसूरिः स्ववशं गुरुर्यः ।

चकार नागहृदपार्श्वतीर्थ

विद्याम्बुधिर्दिग्वसनान्विजित्य ॥ ३९ ॥

इसी तरह पर 'प्रवचनपरीक्षा' आदि और भी श्वेताम्बर ग्रंथोंमें दिगम्बरोंको 'क्षपणक' लिखा है । अब एक उदाहरण दिगम्बर ग्रंथोंका भी लीजिये—

तरुणं वृद्धं रुयडं सूरं पंडितं दिव्यं ।

खवणं वंदं सेवडं मूढं मण्डं सब्बं ॥ ८३ ॥

यह योगीन्द्रदेवकृत 'परमात्मप्रकाश' का पद्य है । इसमें निश्चय नयकी दृष्टिसे यह बतलाया गया है कि 'वृद्ध' शब्द आत्मा है जो (तरुण वृद्धादि अवस्थाओंके स्वरूपसे भिन्न होने पर भी विभाव परिणामोंके आश्रित होकर) यह मानता है, कि मैं तरुण हूँ, वृद्धा हूँ, रूपवान् हूँ, शूर हूँ, पंडित हूँ, दिव्य हूँ, (दिगम्बर) हूँ, वदक (बौद्ध) हूँ, अथवा श्वेतपट (श्वेताम्बर) हूँ । यहाँ क्षपणक, वंदक और श्वेतपट, तीनोंका एक साथ उल्लेख है कि त्रिकुल स्पष्ट हो जाता है कि 'क्षपणक' शब्द इस तौरसे व्युत्पन्न है ।

दिव्य
सर्वम्

इसके सिवाय स्वतन्त्राचार्य हेमचन्द्र और दिगम्बराचार्य श्रीधरसेनने अपने अपने कोशप्रयोगों में 'नम्र' सम्बन्ध एक अर्थ 'क्षपणक' दिया है—

'नम्रो विवात्ससि मागधे च क्षपणके' । (हेमचन्द्रः)

'नमस्त्रिषु विवक्ष्य स्यात्सि क्षपणमन्दिनो' ।' (श्रीधरसेन)

और इससे यह स्पष्ट ज्ञानि निकलती है कि 'क्षपणक' शब्द जब किसी साधुक के प्रिय प्रयुक्त किया जाता है तो उसका अभिप्राय 'नम्र' बनना दिगम्बर साधु होता है ।

'क्षपणक' शब्दकी ऐसी दृष्टि होती हुई, चिकमादित्यकी समझके 'क्षपणक' शब्दको स्वतन्त्र बतलाना बहुत कुछ आपत्तिके योग्य जान पड़ता है और संदेहसे छाड़ी नहीं है ।

वास्तवमें सिद्धसेम दिगम्बर थे या स्वतन्त्र, यह एक प्रश्न ही विषय है और उसे हम एक स्वतंत्र केसक द्वारा स्पष्ट कर देना चाहते हैं अबसर मिलने पर उसके लिये जरूर यत्न किया जाएगा ।

५ अर्थात् ।

पूज्यपाद—समय ।

एक प्रश्नको लोकी बुक्तियोंकी आलोचनाके बाद अब हम देखते हैं कि 'उपस्थित' शब्द का क्या है । समस्तमद्र जैनैश्वर्याकरण और चर्यासिद्धि में 'उपस्थित' शब्दोंके अर्थ 'देवनाम्नि' अपरमाम 'पूज्यपाद' आचार्यसे पड़ता है, यह बात निर्विवाद है । धर्मात्मकेसोक्तके शिक्षाकेसमें भी समस्तमद्रको पूज्यपादसे पढ़ेका विद्वान् लिख है । ४० वें शिक्षाकेसमें समस्तमद्रके परिचय-पत्रके बाद 'सत्' शब्द लिख-

१ टीकाका—'अब यह सब देखकर' क्षपणको विष्णुचरोद्धर वरको बाकोई श्रेष्ठपदाधिकारकोहमिति मूल्याय सर्व मन्वत इति । —अनन्तर ।

२ समस्तमद्रके परिचयका यह पत्र और १८ वें शिक्षाकेसका पत्र भी, दोनों गुणादिपरिचय में उल्लेख मिलते हैं ।

उत्तर अभी नहीं दिया जा सकता, फिर भी विचार करते हुए इस सम्बन्धमें जो जो घटनाएँ सामने उपस्थित हुई हैं और उनसे जिस जिस समयका, जिस प्रकारसे अथवा जो कुछ बोध होता है उस सबको पाठकोंके सामने रख देना ही उचित मालूम देता है, जिससे पाठकजन वस्तुस्थितिको समझकर विशेष अनुसन्धानद्वारा ठीक समयको मालूम करनेमें समर्थ हो सकें, अथवा लेखकको ही विशेष निर्णयके लिये कोई खास सूचना दे सकें ।

उमास्वाति-समय ।

(क) श्रवणबेलगोलके शिलालेखपरसे समन्तभद्रका परिचय देते हुए, यह बात पहले जाहिर की जा चुकी है कि समन्तभद्र 'उमास्वाति' आचार्य और उनके शिष्य 'बलाकपिच्छ' के बाद हुए हैं । यदि उमास्वातिका या उनके शिष्यका निश्चित समय मालूम होता तो उस परसे समन्तभद्रका आसन्न समय आसानीसे बतलाया जा सकता था, अथवा इतना तो सहजहाँमें कहा जा सकता था कि समन्तभद्र उस समयके बाद और ई० सन् ४५० के पहले—दोनोंके मध्यवर्ती किसी समयमें—हुए हैं । परन्तु उमास्वातिका समय अभीतक पूरी तौरसे निश्चित नहीं हो सका—उसकी भी हालत प्रायः समन्तभद्रके समय जैसी ही है और इस लिये उमास्वातिके सदिग्ध समयके आधार पर समन्तभद्रके यथार्थ समयकी वास्तव कोई जँची तुली बात नहीं कही जा सकती ।

(ख) नन्दिशङ्खकी पट्टावलीमें, उमास्वातिके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका समय वि० स० १०१ दिया है । साथ ही, यह भी लिखा है कि वे ४० वर्ष ८ महीने आचार्य पद पर रहे, उनकी आयु ८४ वर्षकी थी और स० १४२ में उनके पट्टपर लोहाचार्य

द्वितीय प्रतिष्ठित हुए । अथर्ववेदसंग्रहके कितने ही शिखरोंमें उमास्वामिके प्रधान शिष्य रूपसे 'ब्रह्मपिण्ड' का ही नाम दिया है, ब्रह्मपिण्ड ही शिष्यपरम्पराका भी उल्लेख किया है और यहाँपर उसकी जगह जोहाचार्यका नाम पाया जाता है । इसकी वास्तविकता, यद्यपि, यह कहना भी सकता है कि ब्रह्मपिण्ड जोहाचार्यका ही नामान्तर होगा — जैसे उमास्वामिका नामान्तर 'गुणपिण्ड' — अथवा जोहाचार्य उमास्वामिके कोई दूसरे ही शिष्य होंगे परंतु फिर भी इस पक्षकीपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता । इसमें प्राचीन आचार्योंका समय और क्रम बहुत कुछ गलत्योंमें पाया जाता है । उदाहरणके लिये पूर्यपाद (देव-नन्दी) के समयको ही लीजिये, पक्षकीमें वह वि. सं० २५८ से ३०८ तक लिया है । दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि पक्षकीमें पूर्यपादके आचार्य पक्ष पर प्रतिष्ठित होनेका समय ई० सन् २०० के करीब बताया है परन्तु इतिहाससे जैसा कि ऊपर ज़रूर किया गया है, वह ४५० के करीब पाया जाता है, और इस लिये दोनोंमें करीब आठसौ (२५०) वर्षका भारी अन्तर है । इतिहासमें पूर्यपादके शिष्य ब्रह्मपिण्ड उल्लेख मिलता है और यह भी उल्लेख मिलता है कि उन्होंने वि० सं० ५२६ में 'प्राक्वि' संघकी स्थापना की, परन्तु पक्षकीमें पूर्यपादके बाद दो आचार्यों (ब्रह्मनन्दी और गुणनन्दी) का उल्लेख करके चौथे (१३) नम्बर पर ब्रह्मनन्दीका नाम दिया है और साथ

१ देखो शिखरिका नं० ४ ४२, ४३ ४० ५ १ ५ और १ ।

२ वह उसकी नाम भ्रातृम भी नहीं होता, नाम पक्षका है ब्रह्म (ब्रह्म पारव) की पीछी रखनेके कारण इसका वह नाम प्रसिद्ध हुआ है । इसके कुछ पक्षकी पीछी रखते थे । इससे मधुरकी पीछीका उक्त समय कोई बात बताह भ्रातृम नहीं करता ।

कर 'यो देवनन्दिग्रथमाभिधानः' इत्यादि पद्योंके द्वारा पूज्यपादका परिचय दिया है, और १०८ वें शिलालेखमें समन्तभद्रके बाद पूज्यपादके परिचयका जो प्रथम पद्य दिया है उसीमें 'ततः' शब्दका प्रयोग किया है, और इस तरहपर पूज्यपादको समन्तभद्रके बादका विद्वान् सूचित किया है। इसके सिवाय, स्वयं पूज्यपादने, अपने 'जैनेन्द्र' व्याकरणके निम्न सूत्रमें समन्तभद्रका उल्लेख किया है—

‘चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ।’ ५-४-१४० ॥

इन सब उल्लेखोंसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि समन्तभद्र पूज्यपादसे पहले हुए हैं। पूज्यपादने 'पाणिनीय' व्याकरण पर 'शब्दावतार' नामका न्यास लिखा था और आप गगराजा 'दुर्विनीत' के शिक्षागुरु (Preceptor) थे, ऐसा 'हेब्बूर' के ताम्रलेख, 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका' की कुछ जिल्दों, 'कर्णाटककविचरिते' और 'हिस्टरी ऑफ कनडीज लिटरेचर' से पाया जाता है। साथ ही यह भी मालूम होता है कि 'दुर्विनीत' राजाका राज्यकाल ८८२ से ५२२ तक रहा है। इसलिये पूज्यपाद ईसवी ईसमें निश्चय

१ पूज्यपादके परिचयके तीन पद्योंमें प्रथम पद्य इस प्रकार है—

श्रीपूज्यपादोद्धतधर्मराज्यस्ततो सुराधीश्वरः पूज्यपाद ।

यदीय-वैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि सद्बुद्धतानि ॥

२ पूज्यपाद द्वारा 'शब्दावतार' नामक न्यासके रचे जानेका हाल 'नगर' ताल्ले के ४६ वें शिलालेख (E C VIII,) के निम्न वाक्यसे भी पाया जाता है—

न्यास जैनेन्द्रस्य सकलबुधनुत पाणिनीयस्य भूयो—

न्यास शब्दावतार मनुजततिहित वैद्यशास्त्र च कृत्वा ।

यस्तस्त्वार्यस्य टीका व्यरचयदिह ता भाष्यसौ पूज्यपाद—

स्वामी भूपालवधः स्वपरहितयचः पूर्णदम्बोधधृत् ॥

से भी कुछ पहलेके विद्वान् थे, यह स्पष्ट है। डॉक्टर बून्सरने जो आपकी ईसाई पीपनी सतायीका विद्वान् लिखा है वह ठीक ही है। पूम्पपादके एक शिष्य 'वज्रनन्दी' ने वि० सं० ५२६ (ई० सं० ४७०) में 'प्रायिक' संघकी स्थापना की थी, जिसका उल्लेख 'देवसेनके 'दशमसार' ग्रंथमें मिलता है * और इससे यह माह्यम होता है कि पूम्पपाद 'दुर्बिनीत' राजके पिता अविर्नीत के राज्यकालमें भी मौजूद थे, जो ई० सन् ४३० से प्रारम्भ होकर ४८२ तक पाया जाता है। साथ ही, यह भी माह्यम पड़ता है कि शक्ति संघकी स्थापना जब पूम्पपादके एक शिष्यक द्वारा हुई है तब उसकी स्थापनाके समय पूम्पपादकी अवस्था अधिक नहीं तो ४० वर्ष-क करीब जरूर होगी और उन्होंने अपने ग्रंथोंकी रचनाका कार्य ई० सन् ४५ के करीब प्रारम्भ किया होगा। ऐसी हालतमें, सम्भवतः / प्राय ई० सन् ४५० से पहले हुए हैं, यह कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। परंतु कितने पहले हुए हैं यह बात अभी विचारणीय है। इस प्रश्नका समुचित और यथार्थ एक उत्तर देनेमें बड़ी ही कठिनाईयें उपस्थित होती हैं। यथेष्ट साधनसामग्रीकी कमी पर्योपर बहुत ही खजूती है। और इसलिये, क्यापि इस विषयका कोई निश्चयपरम एक

१ Ind. Ant., XIV 355

२ यह ग्रंथ वि० सं० १९ का बना हुआ है।

—प्रितियुक्तकृष्णीयो वामिनीयस्य कारणो दुष्टो ।

आमेन वज्रनीदी पाहुतनी मया धृतो ॥ १४ ॥

पञ्चमः कृष्णीये विजयराजस्य भरणवज्रस्य ।

वामिनीयमुत्तमो वामिनीयो महामोहो ॥ १५ ॥

३ अविनीत राजाका एक नामकेब तक सं० ३८८ (ई० सन् ४६६) का लिखा हुआ पाया जाता है जिसे सुईय डेन ने १ करते हैं।

उत्तर अभी नहीं दिया जा सकता, फिर भी विचार करते हुए इस सम्बन्धमें जो जो घटनाएँ सामने उपस्थित हुई हैं और उनसे जिस जिस समयका, जिस प्रकारसे अथवा जो कुछ बोध होता है उस सबको पाठकोंके सामने रख देना ही उचित माध्यम देता है, जिससे पाठकजन-वस्तुस्थितिको समझकर विशेष अनुसंधानद्वारा ठीक समयको माध्यम करनेमें समर्थ हो सकें, अथवा लेखकको ही विशेष निर्णयके लिये कोई खास सूचना दे सकें ।

उमास्वाति-समय ।

(क) श्रवणबेलगोलके शिलालेखपरसे समन्तभद्रका परिचय देते हुए, यह बात पहले जाहिर की जा चुकी है कि समन्तभद्र 'उमास्वाति' आचार्य और उनके शिष्य 'बलाकपिच्छ' के बाद हुए हैं । यदि उमास्वातिका या उनके शिष्यका निश्चित समय माध्यम होता तो उस परसे समन्तभद्रका आसन्न समय आसानीसे बतलाया जा सकता था, अथवा इतना तो सहजहीमें कहा जा सकता था कि समन्तभद्र उस समयके बाद और ई० सन् ४५० के पहले—दोनोंके मध्यवर्ती किसी समयमें—हुए हैं । परन्तु उमास्वातिका समय अभीतक पूरी तौरसे निश्चित नहीं हो सका—उसकी भी हालत प्रायः समन्तभद्रके समय जैसी ही है और इस लिये उमास्वातिके सदिग्ध समयके आधार पर समन्तभद्रके यथार्थ समयकी बाबत कोई जँची तुली बात नहीं कही जा सकती ।

(ख) नन्दिसंघकी पट्टावलीमें, उमास्वातिके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका समय वि० स० १०१ दिया है । साथ ही, यह भी लिखा है कि वे ४० वर्ष ८ महीने आचार्य पद पर रहे, उनकी आयु ८४ वर्षकी थी और स० १४२ में उनके पट्टपर लोहाचार्य

रतीय प्रतिष्ठित हुए । अथर्ववेदस्रोतोंके किन्तने ही शिलालेखोंमें उम्हस्वातिके शिष्य रूपसे 'वज्रकपिष्ठ' का ही नाम दिया है, वज्रकपिष्ठकी सम्प्रदायपरम्परा भी उल्लेख किया है और 'यहोपर उसकी जगह जोह्यार्थक नाम पाया जाता है । इसकी शान्त, पथपि, 'मिह' कहा जा सकता है कि वज्रकपिष्ठ छात्रार्थक ही नामान्तर होगा — जैसे उम्हस्वातिके नामान्तर 'गृध्रपिष्ठ' — अथवा जोह्यार्थक उम्हस्वातिके नामान्तर ही शिष्य होंगे परंतु फिर भी इस पद्यावलीपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता । इसमें प्राचीन आचार्यों का समय और क्रम बहुत कुछ गड़बड़में पाया जाता है । उदाहरणके लिये पूष्यपाद (देवन्द्य) के सम्बन्ध ही लीजिये, पद्यावलीमें वह वि० सं० २५८ से १०८ तक दिया है । दूसरे स्थानोंमें जो कहा जा रहा है कि पद्यावलीमें पूष्यपादके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका समय ई० सन् २०० के करीब बताया है परन्तु इतिहाससे जैसा कि ऊपर उद्धृत किया गया है, वह ४५ के करीब पाया जाता है, और इस लिये दोनोंमें करीब अठारह सौ (२५०) वर्षका भारी अन्तर है । इतिहासमें पूष्यपादके शिष्य वज्रनन्दि का उल्लेख मिलता है और यह भी उल्लेख मिलता है कि उन्होंने वि सं० ५२६ में 'श्राविह' संस्कृति स्थापना की, परन्तु पद्यावलीमें पूष्यपादके बाद दो आचार्यों (अयनन्दी और गुणनन्दी) का उल्लेख करके बीधे (१२) नम्बर पर वज्रनन्दी का नाम दिया है और साथ

(१ देखो शिष्यलैख नं ४ ४१, ४३ ४० ५ १ ५ और १ ।

२ वह उसकी नाम माधम भी नहीं होता, जग पकता है वज्रक (वज्र धारण) की पीछी एधनेके कारण इसका वह नाम प्रसिद्ध हुआ है । इसके कुछ एधने पीछी रहते हैं । इससे मनुष्य की पीछी का वह समय कोई जग माधम माधम नहीं पकता ।

हो उनका समय भी वि० स० ३६४ से ३८६ तक बतलाया है । कम-भेदके साथ साथ इन दोनों समयोंमें भी परस्पर बहुत बड़ा अन्तर जान पड़ता है । इतिहाससे वसुनन्दीका समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दी माद्धम होता है परन्तु पट्टावलीमें ६ ठी शताब्दी (५२५-५३१) दिया है । इस तरह जाँच करनेसे बहुतसे आचार्योंका समयादिक इस पट्टावलीमें गलत पाया जाता है, जिसे विस्तारके साथ दिखलाकर यहाँ इस नि-
 न्धको तूल देनेकी जरूरत नहीं है । ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह पट्टावली कितनी सदिग्धानस्थामें है और केवल इसीके आधार पर किसीके समयादिकका निर्णय कैसे किया जा सकता है । प्रोफेसर हैर्नल, डाक्टर पिटर्सन और डा० सैतीशचद्रने इस पट्टाव-
 लीके आधार पर ही उमास्वातिको ईसाकी पहली शताब्दीका विद्वान् लिखा है और उससे यह माद्धम होता है कि उन्होंने इस पट्टावलीकी कोई विशेष जाँच नहीं की—वैसे ही उसके रग-ढगपरसे उसे ठीक मान लिया है । अस्तु, यदि पट्टावलीमें दिया हुआ उमास्वातिका समय ठीक हो तो समन्तभद्रका अस्तित्व-समय उससे प्राय ४० वर्षके फासले पर अनुमान किया जा सकता है—यह ४० वर्षका अन्तर एकके समयारभसे दूसरेके समयारभ तक अथवा एककी समय-समाप्तिसे दूसरेकी समय-समाप्ति तक भी हो सकता है—और तब डा० भाण्डार-

१ Ind ant, XX, P 341, 351

२ Peterson's fourth report on Sanskrit manuscripts
P XVI

३ History of the Mediaeval school of Indian Logic,
P. 8, 9

करकी रिपोर्टमें समन्तभद्रका समय जो शक सं० ६० (वि० सं० १९५) के करीब बताया गया है अथवा आम तौर पर विद्वानों दूसरी शताब्दी माना जाता है उसे भी ठीक कहा जा सकता है ।

(ग) ' विद्वज्जनबोधक ' में निम्न श्लोकको उमास्वाति (उमास्वामि) के सम्पन्नर्जनका प्रसिद्ध श्लोक लिखा है और उसके द्वारा यह सूक्ति किया है कि उमास्वाति आचार्य वीरनिर्वाणस ७७० वर्ष बाद हुए हैं अर्थात् ७७० वर्ष तक उनके सम्पत्नी सर्वादा है—

इपे सप्तदशे वैष सप्तत्या च विस्मृतौ ।

उमास्वामिमुनिर्वाणः कुन्दकुन्दस्तयैव च ॥

यदि इस समय जो वीरनिर्वाणसक (२४५१) प्रचलित है उसे ठीक मान लिया जाय तो इस श्लोकके आधार पर उमास्वातिक समय वि सं० ३०० या ३०० तक होता है और वह पञ्चमर्जनक समयसे षेकसौ वर्षों भी अधिक पीछे पड़ता है । इस समयका ठीक मान देने पर समन्तभद्र वि सं० ३४० (ई० सं० २८३) या ३४० तकके करीबके विद्वान् ठहरते हैं ।

वीरनिर्वाण, विक्रम और शक संवत् ।

परन्तु वीरनिर्वाण संवत्का अभी तक कोई ठीक निश्चय नहीं हुआ । इस संवत्से विक्रम संवत्का जो ४७० वर्ष (४६९ वर्ष ५ माहमें) बाद प्रचलित होना माना जाता है उसकी भावना कुछ विद्वानोंका कहना है कि वह ठीक नहीं है; क्योंकि वीरनिर्वाणस

१ हस्तलिखित संस्कृत प्रतियों अनुसार—विषयक क्र० १४८१—८४ की रिपोर्ट ।

२ इस श्लोकके अर्थकी संभावना अधिक प्रतीत होती है । कुन्दकुन्दका आर्यसे उल्लेख भी उक्त पुष्ट करता है ।

३ मध्यम यही वह पक्ष विद्वज्जनबोधकमें दर्शाते चरुत किया गया है और शीघ्रसे प्रकाश है ।

४७० वर्ष बाद विक्रम राजाका जन्म हुआ है—न कि उसका सम्बत् प्रचलित हुआ, और इसके लिये वे नन्दिसघकी दूसरी प्राकृत पट्टावलीका निम्न वाक्य पेश करते हैं—

सत्तरि चदुसदजुत्तो तिणकाला विक्रमो हवइ जम्मो ।

अठवरस वाललीला सोडसवासेहि भम्मिए देसे ॥१८॥

उनके विचारसे विक्रमकी १८ वर्षकी अवस्था हो जाने पर, वीर-निर्वाणसे ४८८ वर्ष ५ महीने बाद, विक्रम सवत् प्रारम्भ हुआ है, और यह विक्रमके राज्यकालका सम्बत् है । श्रीयुत बाबू काशीप्रसादजी जायसवाल, वार-पेट-ला, पटना, तथा मास्टर विहारीलालजी बुलन्द-शहरी इसी मतको पुष्ट करते हैं और डा० हर्मन जैकोबीका भी अब ऐसा ही मत मालूम होता है* । नन्दिसघकी पट्टावलीमें भी

१ यह पट्टावली जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें भी मुद्रित हुई है ।

२ यह गाथा 'विक्रम-प्रबन्ध' में भी पाई जाती है, (जै० सि० भा०, किरण ४ थी, पृ० ७५ ।)

*यह बात डा० हर्मन जैकोबीके एक पत्रके निम्न अंशसे मालूम होती है जो उन्होंने 'भगवान महावीर' नामक पुस्तककी पहुँच देते हुए, हालमें लिखा है और जिसके इस अंशको वा० कामताप्रसादजीने 'वीर' के दिसम्बर सन् १९२४ के अंकमें मुद्रित किया है—

In the 32nd chapter you show that according to Digambara tradition, the Nirvâna of Mahāvira took place 470 before Vikrama. Now I found in Gurvavali from Jaipur that Vikrama's birth occurred 470 years after Mahāvira's Nirvana सत्तरि चदुसदजुत्तो तिणकाला विक्रमो हवइ जम्मो But the Vikrama era does not date from the जन्म of Vikrama, but from the राज्य of Vikrama, or from the 18 th year after his birth By this reckoning the Nirvana should be placed 18 years earlier or 545 B C.

अध्यायके पहाते हणक ओ समस्त दिये हैं उनही गणना निरुद्धके उम्मा-
निषेक समयसे ही की गई है * अन्यथा, उक्त पहावर्षीमें भद्रबाहु द्वितीयके
अध्याय पर पर प्रतिष्ठित होनका आ समय वि० सं० ४ दिया है
वह नैसर्गिक दूसरी प्राकृतपहावर्षीके निरुद्ध पड़ता है; क्योंकि उस
पहावर्षीमें भद्रबाहु (द्वितीय) का वीरनिर्वाणसे ४९२ वर्ष का होने
उल्लेख किया है और यह समय निरुद्धके जन्मसे २२ वर्ष का
ज्येष्ठ है । पहावर्षीमें सं० २२ न देकर २ का दिया जाना इस
कारणसे साफ बतलाता है कि वह निरुद्धके उम्माकृतका संवत् है और
उसके जन्मसे १८ वर्षके बाद प्रारंभ हुआ है । अतः, यदि प्रचलित
विक्रम संवत्के विक्रमके क्रमका संगत न मानकर उम्माका संवत्
मानना ही ठीक हो और साध ही यह भी माना जाय कि विक्रमका
जन्म वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद हुआ है तो आबकदर का वीर-
निर्वाण सं० २४५१ बीत रहा है उसे २४७० मानना पड़ेगा;
उम्माकृतिक समय तब, उक्त पद्यके आधार पर, वि० सं० २८१
या २८१ तक बढ़ेगा, और तदनुसार समस्तमयका समय भी १८ वर्ष
और पहले (ई सन् २६५ या २६५ तकके फरीब) हो जयगा ।

विक्रमसंवत्के सम्बंधमें एक मत और भी है और वह प्रचलित
संवत्को विक्रमकी मृत्युका संवत् प्रतिपादन करता है । इस मतके
(प्रथम पोषक हमारे मित्र पं नाथूरामजी प्रेमी हैं । आपने, "रीनस" ^१
की विवेचनामें, अपने इस मतका बहुत स्पष्ट समर्थन उल्लेख किया
है और साथ ही कुछ प्रमाणवाक्योंके द्वारा उसे पुष्ट करनेका भी यत्न

किया है * । दर्शनसारकी कई गाथाओंमें, कुछ सघोंके उत्पत्ति-समयका निर्देश करते हुए, 'विक्रमरायस्स मरणपत्तस्स' शब्दोंका प्रयोग किया गया है । इसपरसे प्रेमीजीको यह खयाल पैदा हुआ कि इस प्रथमें जो कालगणना की है वह क्या खास तौरपर विक्रमकी मृत्युसे की गई है अथवा प्रचलित विक्रम सवत्का ही उसमें उल्लेख है और वह विक्रमकी मृत्युका सवत् है । खोज करनेपर आपको अमितगति आचार्यका निम्नवाक्य उपलब्ध हुआ और उसपरसे प्रचलित विक्रम सवत्को मृत्यु सवत् माननेके लिये आपको एक आधार मिल गया—

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके ।
समाप्तं पंचम्यामवति धरिणीं मुंजनृपतौ
सिते पक्षे पौपे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥

यह 'सुभाषितरत्नसदोह'का पद्य है । इसमें स्पष्ट रूपसे लिखा है कि विक्रम राजाके स्वर्गारोहणके बाद जब १०५० वाँ वर्ष (सम्बत्) बीत रहा था और राजा मुज पृथ्वीका पाछन कर रहा था उस समय पौष शुक्ल पचमीके दिन यह शास्त्र समाप्त किया गया है । अमितग-

* यथा—“बहुतोंका खयाल है कि वर्तमानमें जो विक्रमसवत् प्रचलित है वह विक्रमके जन्मसे या राज्याभिषेकसे शुरू हुआ है, परन्तु हमारी समझमें यह मृत्युका ही सवत् है । इसके लिये एक प्रमाण लीजिये ।”

१ देखो गाथा न० ११, २८ और ३८ जिनके प्रथम चरण क्रमशः 'छत्ती-से वरिससए', 'पचसए छब्बीसे', 'सत्तसए तेवण्णे' हैं और द्वितीय चरण सबका वही 'विक्रमरायस्स मरणपत्तस्स' दिया है । और इन गाथाओंमें क्रमशः श्वेताम्बर, ब्राह्मिण तथा काष्ठासंघोंकी उत्पत्तिका समय निर्दिष्ट है ।

तिने अपने दूसरे ग्रंथ 'वर्मपरीक्षा' की समाप्ति का समय इस प्रकार दिया है—

संवत्सराणां विगते सहस्र सप्ततौ विक्रमपारिवत्स ।

इदं निषिष्यान्यमर्तं समाप्तं अनेन्द्रवर्माभितयुक्तिशालं ॥

इस पद्यमें, यद्यपि, विक्रमसंवत् १०७० में ग्रंथ की समाप्ति का उल्लेख है और उसे स्वर्गरोहण अथवा मृत्यु का संवत् ऐसा कुछ नाम नहीं दिया फिर भी इस पद्यको पहले पद्य की रीतिमें पढ़नेसे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि अमिताभि आचार्यने प्रचलित विक्रम संवत् ही अपने ग्रंथोंमें प्रयोग किया है और वे उसे विक्रम की मृत्यु का संवत् मानते थे—संवत् के साथमें विक्रम की मृत्यु का उल्लेख किया अन्य अथवा न किया अन्य एक ही बात थी, उससे कोई भेद नहीं पड़ता था । पहले पद्यमें मुझको उम्पका उल्लेख इस विषय का और भी बात सीरसे समर्थक है; क्योंकि इतिहाससे प्रचलित वि० सं० १५० में मुझका उम्पासीन होना पाया जाता है । और इस विषये यह नहीं कहा जा सकता कि अमिताभिने प्रचलित विक्रम संवत् से निश्चिन्ता दूसरे ही विक्रम संवत् का उल्लेख अपने उक्त पद्योंमें किया है । ऐसा कहने पर मृत्यु सं० १०५ का समय जन्म सं० ११३० अथवा उम्प सं० १११२ का प्रचलित होना व्यर्थ है और उस तक तक मुझको जीवित रहने का इतिहासमें कोई प्रमाण नहीं मिलता । मुझको उत्तराधिकारी राजा मोजका भी वि० सं० १११२ से पूर्व देहावसान होना पाया जाता है ।

यद्यपि विक्रम की मृत्यु के बाद प्रभा के द्वारा उसका ८९ ॥

कितने जमाने की बात जीको कुछ का-... १५१ वर्ष सकता है कि अमिताभि आदि को उ... अथवा और

भगवानके सिद्ध होनेके बाद ९७८५ वर्ष ५ महीने वीतने पर शक राजा हुआ । अथवा वीरेश्वरकी मुक्तिसे १४७९३ वर्षके अन्तरसे शक राजा उत्पन्न हुआ । अथवा वीरजिनेन्द्रकी निर्वाण-प्राप्तिको जब ६०५ वर्ष ५ महीने हो गये तब शक राजा हुआ ।

इस कथनसे स्पष्ट है कि उस वक्त वीरनिर्वाणका होना एक मत तो शक राजासे ४६१ वर्ष पहले, दूसरा ९७८५ वर्ष ५ महीने पहले, तीसरा १४७९३ वर्ष पहले और चौथा ६०५ वर्ष ५ महीने पहले मानता था । इन चारो मतोंमें पहला मत नया है—उन मतोंसे भिन्न है जिनका इससे पहले उल्लेख किया गया है—और वही त्रिलोकप्रज्ञसिद्धि के कर्त्ताको इष्ट जान पड़ता है । यदि यही मत ठीक हो तो कहना चाहिये कि विक्रम राजा वीरनिर्वाणसे ३२६(४६१-१३५) वर्ष बाद हुआ है, न कि ४७० वर्ष बाद, और इस समय वीरनिर्वाणसंवत् २३०७ बीत रहा है । साथ ही, यह भी कहना चाहिये कि उमास्वातिका समय उक्त पद्यके आधारपर वि० सं० ४४४ (७७०-३२६) या ४४४ तक होता है और समन्तभद्रका समय भी तब विक्रमकी ५ वीं शताब्दीका प्रायः अन्तिम भाग ठहरता है, अथवा यों कहिये कि वह पूज्यपादके समयके इतना निकट पहुँच जाता है कि पूज्यपादको अपने प्रारम्भिक मुनि-जीवनमें समन्तभद्रके सत्समागमसे लाभ उठानेकी बहुत कुछ संभावना रहती है ।

दूसरा और तीसरा दोनों मत एकदम नये ही नहीं, बल्कि इतने अद्भुत और विलक्षण माद्धम होते हैं कि आजकल उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । माद्धम नहीं ये दोनों मत किस आधारपर अवलम्बित हैं और उनका क्या रहस्य है । इनके रहस्यको शायद कोई महान् शास्त्री ही जैनग्रंथोंके बहुत गहरे अध्ययनके बाद उद्घाटन कर सके ।

उस व्यक्तिके उदात्त होनेपर त्रैलोक्योन्नी भवतसी ठन्नी चौकी कर्मगणनापर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है, इसमें आ भी संदेह नहीं है ।

इस चौक मत, यह नहीं है जो आत्मक प्रचलित है और जिसके अनुसार इस समय वीरनिर्वाण संवत् २४५१ माना जाता है । विज्ञान-कसरकी निम्न गायामें भी इसी मतका उल्लेख है—

पेयछस्सवस्सं पयमासजुवं गमिय वीरमिन्वुइदो ।

सगराजो वो कवी बहुनवत्थियमहियसगमासं ॥ ८५० ॥

इस मन्त्रके विषयमें यद्यपि यह बात अभी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि इसके अनुसार वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद एक एवाका देह-जन्म माना गया है या एवजन्म अपना उसके एवकालकी समाप्ति है। उससे अभिप्रेत है कि मैं इतना जरूर कहा जा सकता है कि यदि एक एवाका एवकाल वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष बाद प्रारंभ हुआ है तो एवा विक्रमका एवकाल भी वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद प्रारंभ हुआ है—४८८ वर्ष बाद नहीं—क्योंकि दोनोंके एवकालमें अपना सम्बन्धमें १३५ वर्षका अन्तर प्रसिद्ध है, जो ४८८ वर्ष बाद विक्रम-एवकाल प्रारंभ होगा मानने पर नहीं बन सकता । और इस विषये प्राकृत पद्याकी आदिमें जो वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका जन्म होना लिखा है वह उसका एवाकालसे जन्म होना हो सकता है—देहरूपसे नहीं । देहरूपसे जन्म होगा तभी सम्झा जा सकता है जब कि शक संवत्का प्रारंभ भी एक एवाके जन्मसे मन्त्र गया हो ।

१ इस गायामें वीरनिर्वाणकी ६ ५ वर्ष ५ महीने बाद एक एवाका और उसके ११४ वर्ष ० महीने बाद विक्रम होना बतलाना गया है ।

एक बात और भी यहाँ प्रकट कर देने योग्य है, और वह यह कि त्रिलोकसारकी उक्त गाथामें 'सगराजो'के बाद 'तो' शब्दका प्रयोग किया गया है जो 'ततः' (तत्पश्चात्) का वाचक है—माधवचंद्र त्रैविद्यदेवविरचित सस्कृतटीकामें भी उसका अर्थ 'ततः' ही किया गया है—और उससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि शक राजाकी सत्ता न रहने पर अथवा उसकी मृत्युसे ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्कि राजा हुआ, और चूकि त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रंथोंसे कल्किकी मृत्युका वीरनिर्वाणसे एक हजार वर्ष बाद होना पाया जाता है * इस लिये उक्त ३९४ वर्ष ७ महीनेमें कल्किका राज्यकाल भी शामिल है, जो त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अनुसार ४२ वर्ष परिमाण कहा जाता है । दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि इस गाथामें शक और कल्किका जो समय दिया है वह अलग अलग उनके राज्यकालकी समाप्तिका सूचक है । और इस लिये यह नहीं कहा जा सकता है कि शक राजाका राज्यकाल वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद प्रारभ हुआ और उसकी समाप्तिके बाद ३९४ वर्ष ७ महीने बीतनेपर कल्किका राज्यारभ हुआ । ऐसा कहने पर कल्किका अस्तित्वसमय वीरनिर्वाणसे एक हजार वर्षके भीतर न रहकर ११०० वर्षके करीब हो जाता है और उससे एक हजारकी नियत सख्यामें बाधा आती है । अस्तु । वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पर शक राजाके राज्यकालकी समाप्ति मान लेनेपर यह स्वतः मानना पड़ता है कि विक्रम राजाका राज्यकाल भी वीरनिर्वाणसे ४७० वर्षके अनन्तर ही समाप्त हो गया था, ~~अतः~~ लिये वीरनिर्वाणसे ४७०

* देखो जैनहितैषी भाग १३, अंक 'प्रज्ञप्ति' नामका

कम बाद विक्रम राजाका अन्त्य होनेकी ओ बात कही जाती है वह ठीक नहीं बैठती अथवा यह कहना पड़ता है कि दोनोंके समयोंमें जो १३५ वर्षका अन्तर माना जाता है वही ठीक नहीं है । ऐसी हाऊ-उमें, विक्रमसंवत्को विक्रमका मूल्य-संवत् न मगकर यदि यह माना जाय कि वह विक्रमकी १८ या २० वर्षकी अवस्थामें उसके सम्य-मियेक समयसे प्रारंभ हुआ है तो ४७० मेंसे विक्रमके सम्य-वत् (६६-६२ वर्षों) को घटाकर यह कहना होगा कि वह बीरनिर्वाणसे प्राय ४०८ अथवा आठ सार्पेण्टिपरके क्यमानुसार, ४१ वर्ष बाद प्रारंभ हुआ है । साथ ही यह भी कहना होगा कि इस समय बीरनिर्वाण संवत् २३८९ या २३९१ बीत रहा है; और इस लिये उमास्वातिका समय उक्त पत्रके आधार पर, वि सं० ३६० या ३६२ होना चाहिये अथवा इनमेंसे किसी संवत्को ही उनके समयकी अन्तिम मर्यादा कहना चाहिये और ठरनुसार समन्वयका सब भी वि सं० ४०० या ४००० तकके करीब बतलाना चाहिये ।

इस सब कथनसे पाठक स्वयं समझ सकत हैं कि बीरनिर्वाण संवत् एक विषय और विक्रम तथा शक संवत्कोके साथ उसका समन्वय केवली अधिक गड़बड़ तथा अनिश्चिततावस्थामें पड़ा जाता है, और [सक्रिय, उसके आधार पर--उसकी गुत्थीको सुलझाये बिना उसकी किसी एक बातको छँकर--किसीक समयका निष्पन्न कर बैठना कहीं एक मुक्तिमुक्त और निराफ हो सकता है । इसमें संदेह नहीं कि बीर निर्वाण-काक जैसे विषयका अभी तक अनिश्चित रहना अनियोजित लिये एक बड़े ही कष्टक तथा जटिली बात है और इसलिये नितनू स्वीय बन सके निदानोंको उसे पूरी तौर पर निश्चित कर बाधना चाहिये । परंतु यह सब काम अधिक परिश्रम और समय-साध्य होनेके साथ

कि उमास्वाति कुन्दकुन्दके शिष्य न होकर प्रशिष्य रहे हैं और इसीसे 'उदम्बये' आदि पर्येकि प्रयोगकी अहरत पड़ी हो। इस तरह भी दोनों कितने ही अंशोंमें समझाजीन हो सकते हैं और उमास्वातिके सम पक्षी समाप्तिको प्रकारान्तरसे कुन्दकुन्दके सम्पक्षी समाप्ति भी कहा जा सकता है। शायद यही वजह हो जो उक्त पक्षमें उमास्वातिके समय अज्ञातकर पीछेसे 'कुन्दकुन्दस्तर्पण च' सम्बन्धित द्वारा यह सूचित किया गया है कि कुन्दकुन्दका भी यही समय है, अर्थात् कुन्दकुन्द भी इसी समयके भीतर हो गये हैं। अस्तु, उक्त पद्यावलीमें उमास्वातिकी भासु ८४ वर्ष ही है और साथ ही यह सूचित किया है कि वे ४ वर्ष ८ महीने आचार्यपक्ष पर प्रतिष्ठित रहे। यदि यह उल्लेख ठीक हो तो कहना चाहिये कि उमास्वाति प्रायः ४१ वर्ष कुन्दकुन्दके सम्पक्षीन रहे हैं। ऐसी दृष्टिमें यदि कुन्दकुन्दका ही निश्चित सम्पक्षीन हो जाय तो उसपरसे भी सम्पत्तमात्रक आसन्न सम्पक्ष बहुत कुछ पर्याप्त हो सकता है। परन्तु कुन्दकुन्दका समय भी अभी तक पूरी तौरसे निश्चित नहीं हो पाया। नन्दिसंघकी पद्यावलीमें जो ओषका समय नि सं ९४ से ११ तक दिया है उस पर तो, पद्यावलीकी दृष्टिको देखते हुए सहसा शिंकास नहीं होता, और उक्त पक्षमें जो समय दिया है वह उक्त सब विकल्पों अपना संदेहको प्राप्त बना हुआ है जो ऊपर 'ग' भागमें उपस्थित किये गये हैं; और इसलिये इन दोनों आधारों परसे प्रकृति विषयके निष्कर्षार्थ यहाँ किसी विशेषताकी उपलब्धि नहीं होती—सम्पत्तमात्रके समयसम्बन्धमें जो कल्पनाएँ ऊपर की गई हैं वे ही ज्योंकी त्यों क्षम्य रहती हैं। अब देखना चाहिये दूसरे किसी मार्गसे भी कुन्दकुन्दका कोई ठीक समय उपलब्ध होय है या कि नहीं।

इन्द्रनदि आचार्यके 'श्रुतावतार'से मालूम होता है कि भगवान् महावीरकी निर्वाण-प्राप्तिके बाद ६२ वर्षके भीतर तीन केवली, उसके बाद १०० वर्षके भीतर पाँच श्रुतकेवली, फिर १८३ वर्षके भीतर ग्यारह मुनि दशपूर्वके पाठी, तदनंतर २२० वर्षके भीतर पाच एकादशागधारी और तत्पश्चात् ११८ वर्षमें चार आचारागके धारी मुनि हुए । इस तरह वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष पर्यंत अगज्ञान रहा । इसके बाद चार आरातीय मुनि अग और पूर्वोंके एकदेगज्ञानी हुए, उनके बाद 'अर्हद्वलि,' अर्हद्वलिके अनन्तर 'माघनन्दि' और माघनन्दिके पश्चात् 'घरसेन' नामके आचार्य हुए, जो 'कर्मप्राभृत'के ज्ञाता थे । इन मुनिराजने अपनी आयु अल्प जानकर और यह खयाल करके कि हमारे पीछे कर्मप्राभृत श्रुतका ज्ञान व्युच्छेद न होने पावे, वेणाक तटके मुनिसंघसे दो तीक्ष्णबुद्धि मुनियोंको बुलवाया, जो बादमें 'पुष्पदन्त' और 'भूतबलि' नामसे प्रसिद्ध हुए और उन्हें वह समस्त श्रुत अच्छी तरहसे व्याख्या करके पढ़ा दिया । तत्पश्चात् पुष्पदन्त और भूतबलिने कर्मप्राभृतको सक्षिप्त करके पट्खण्डागमका रूप दिया और उसे द्रव्य-पुस्तकारूढ किया—अर्थात्, लिपिवद्ध करा दिया । उधर गुणधर आचार्यने 'कषायप्राभृत' अपरनाम 'दोषप्राभृत'के गाथासूत्रोंकी रचना करके उन्हें 'नागहस्ति' और 'आर्यमक्षु' नामक मुनियोंको पढ़ाया, उनसे 'यतिवृषभ'ने पढ़कर उन गाथाओंपर चूर्णिसूत्र रचे और यतिवृषभसे 'उच्चारणाचार्य' ने अध्ययन करके चूर्णिसूत्रोंपर वृत्तिसूत्र लिखे । इस प्रकार गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्यके द्वारा कषाय-प्राभृतकी रचना होकर वह भी द्रव्यपुस्तकारूढ हो गया । जब कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत दोनों सिद्धान्त द्रव्यभावरूपसे पुस्तकारूढ हो गये तब कोण्डकुन्दपुरमें पञ्चनन्दि (कुदकुन्द) नामके

आचार्य गुप्तरिपाटीसे दोनों सिद्धांतोंके वाता हुए और उन्होंने 'प्रक्षणागम' के प्रथम तीन खण्डोंपर बरह हजार श्लोकपरिमाण एक टीका लिखी ।

इस कथनसे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य वीरनिर्वाण सं० ६८३ से पहले नहीं हुए किन्तु पीछे हुए हैं । परन्तु कितने पीछे, यह असत्य है । यदि अन्तिम आचारंगधारी 'जोहान्धार्य' क बाद होने वाला विमलधर भाट्ट चार आरातीय मुनीयोंका एकत्र समय २० वर्षका और आईद्विधि, माघनदि धरसन, पुष्पवृष, मूठवस्त्रि तथा कुन्दकुन्दकं गुरुका स्थूल समय १० १० वर्षका ही मान लिया जय, जिसका मान सना कुछ अधिक नहीं है तो यह सहज्यहीमें कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द तक समयसे ८ वर्ष अथवा वीरनिर्वाणसे ७६३ (६८३+२०+५) वर्ष बाद हुए हैं और यह समय उस समय (७७) के करीब ही पहुँच जाता है जो विश्वजनबोधसे उद्भूत किये हुए एक पद्यमें दिया है और इस लिये इसका द्वारा उसका बहुत कुछ सम्पन्न होता है । भुवनतारमें, वीरनिर्वाणसे अन्तिम आचारंगधारी जोहान्धार्यपर्यंत, ६८३ वर्षके भीतर कबचि-भुवनकथियों आदिके होनेका जो कथन विमल क्रम और जिस समयनिर्णयके साथ किया है वह त्रिभोक्त्यादि विनसेनकृत हरिवंशपुराण और भगवद्विनसेन-प्रणीत आदिपुराण जैसे प्राचीन ग्रंथोंमें भी पाया जाता है । हों त्रिभोक्त्यादिमें इतना विरोध नकर है कि आचारंगधारियोंकी ११८ वर्षकी संख्यामें बग और पूर्वोक्त एकत्रधारियोंका भी समय शामिल किया है *; इससे विमलधर आदि चार आरातीय मुनीयोंका जो

* पहले मुख्यधर्ममें ब्रह्मचारी वह व होदि ब्रह्मचारी ।

द्वितीय व जोहान्धार्य परे आचार भगवदध ॥ ८ ॥

पृथक् समय २० वर्षका मान लिया गया था उसे गणनासे निकाल दिया जा सकता है और तब कुन्दकुन्दका वीरनिर्वाणसे ७४३ वर्ष बाद होना कहा जा सकता है । इससे भी उक्त पद्यके समयसमर्थनमें कोई बाधा न आती, क्योंकि उस पद्यमें प्रधानतासे उमास्वातिका समय दिया है—उमास्वातिके समकालीन होनेपर भी, वृद्धत्वके कारण, कुन्दकुन्दका अस्तित्व २७ वर्ष पहले और भी माना जा सकता है और उसका मान लिया जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है । सेनगणकी पट्टावलीमें भी ६८३ वर्षकी गणना 'श्रुतावतार' के सदृश ही की गई है । परंतु नन्दिसधकी प्राकृत पट्टावलीमें वह गणना कुछ विसदृशरूपसे पाई जाती है । उसमें दशपूर्वधारियों तकका समय तो वही दिया है जिसका ऊपर उल्लेख किया है । उसके बाद एकादशागधारी पाँच मुनियोंका समय, २२० वर्ष न देकर, १२३ वर्ष दिया है और शेष ९७ वर्षोंमें सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य नामके उन चार मुनियोंका होना लिखा है और उन्हें दश नव तथा अष्ट अंगका पाठी बतलाया है, जिन्हें 'श्रुतावतार' आदि प्रयोगोंमें एकादशा-

सेसेक्षरसगाणि चोद्दसपुष्पाणमेकदेसधरा ।

एकसयं अद्वारसवासजुदं ताण परिमाण ॥ ८१ ॥

तेसु भदीदेसु तदा आधारधरा ण होति भरहमि ।

गोदममुणिपहुदीण वासाण छस्सदाणि तेसी दो ॥ ८२ ॥

१ जैनहितपी, भाग ६ ठा, अंक ७-८ में प० नाथूरामजीने आठके बाद सात संख्याका भी उल्लेख किया है और लिखा है कि, "जिस ग्रन्थके आधार पर हमने यह पट्टावली प्रकाशित की है, उसमें इन्हें क्रमशः दश, नौ, आठ और सात अंगका पाठी बतलाया है" । ऐसा होना जीको भी लगता है, परंतु हमारे सामने जो पट्टावली है उसमें 'दसग नव अंग अष्टधरा' और 'दसनवअष्टगधरा' पाठ हैं । संभव है कि पहला पाठ कुछ अशुद्ध छप गया हो और वह 'दसग नवअष्टसत्तधरा' हो ।

गवारियोंकी २२० वर्षकी संख्याके बाद ११८ वर्षके भीतर हमेशाके प्रतिपादन किया है और साथ ही 'आचार्य' नामक प्रथम अंगके ज्ञाता लिखा है । इन चारों मुनियोंके अनन्तर पंडित, माधनन्दि, धर्मेन, पुष्पदन्त और मूतबन्धि नामके पाच आचार्योंको 'एकग्रहारी' लिखा है और उनका समय ११८ वर्ष दिया * । इस तरह पर बोरनिर्वाणसे मूतबन्धिपर्यंत ६८३ वर्षकी गणना हो गई है । यह गणना मुताकतार, त्रिलोकप्रसादि, हरिवंशपुराण, गदिपुराण और सेनगणकी पहाबन्धीसे कितनी मिला है और इसके जो पुष्पदन्त मूतबन्धि तक आचार्योंकी समयगणनामें कितना अन्तर रह जाता है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं । परन्तु यदि इसीको प्रक मान लिया जाय और यह स्वीकार किया जाय कि मूतबन्धिके अस्तित्व बोरनिर्वाण सेकत् ६८३ तक रहा है तो मूतबन्धिके बाद कुन्दकुन्दकी प्रादुर्भूतिके लिये कमसे कम २०-३० वर्षकी कल्पना और भी करनी होगी क्योंकि कुन्दकुन्दको दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान गुरु-परिपाटी द्वारा प्राप्त हुआ था † और पुष्पदन्त, मूतबन्धि या उचारणा-

* यथा—एकग्रहे एकमेव अन्तिमस्मिन्ममवधारेतु ।

उपपन्न एवमत्र ह्यवधारी मुनेवन्था ॥ १५ ॥

अहिचक्रिणमवधारेण जसेन पुष्पदन्तमूतबन्धी ।

अवधारे ह्यवधारे उगन्धीर्षी तीक्ष्ण वीक्ष्य कथं पुनो ॥ १६ ॥

इयत्तव्यवधारणासे ह्यवधारी व मुनिवरा आदरा ।

कस्यचित्तरासिचकारो विधान्य अर्थादिति अहिचक्रिणे ॥ १७ ॥

† एवं हिमिनी प्रथममपुस्तक्यत आमापचम् ।

पुष्परिपाठ्य ज्ञाता सिद्धान्तः कुन्दकुन्दपुरे ॥ १८ ॥

भीषणवन्धुमुनिष्य ओऽपि ह्यवधारेणारिमात्र ।

अन्तरिकर्मज्ञतां वदन्नाहविपश्यन् ॥ १९ ॥

चार्यमेंसे किसीको आपका गुरु नहीं लिखा है, इस लिये इन आचार्योंके बाद कमसे कम एक आचार्यका आपके गुरुरूपसे होना जरूरी मालूम पड़ता है, जिसके लिये उक्त समय अधिक नहीं है । इस तरह पर कुन्दकुन्दके समयका प्रारम्भ वीरनिर्वाणसे ७०३ या ७१३ के करीब हो जाता है । परन्तु इस अधिक समयकी कल्पनाको भी यदि छोड़ दिया जाय और यही मान लिया जाय कि वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्षके अनन्तर ही कुन्दकुन्दाचार्य हुए हैं तो यह कहना होगा कि वे विक्रम सवत् २१३ (६८३-४७०) के बाद हुए हैं उससे पहले नहीं । यही प० नाथूरामजी प्रेमी * आदि अधिकांश जैन विद्वानोंका मत है इसमें हम इतना और भी जोड़ देना चाहते हैं कि वीर निर्वाण ४७० वर्ष बाद विक्रमका देहजन्म मानते हुए, उसका विक्रमसंवत् यदि राज्यसवत् है तो उससे १९५ (६८३-४८८) वर्ष वा और यदि मृत्युसंवत् है तो उससे १३३ (६८३-५५०) वर्ष वा कुन्दकुन्दाचार्य हुए हैं । साथ ही, इतना और भी कि, यदि शक राजा का अस्तित्वसमय वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पर्यंत रहा है, उसीका मृत्युका वर्तमान शक सवत् (१८४६) प्रचलित है और विक्रम तथा शक सवत्तोंमें १३५ वर्षका वास्तविक अन्तर है तो कुन्दकुन्दाचार्य वि० स० से ३५७ (६८३-३६१+१३५) वर्ष बाद हुए हैं ।

ऊपर उमास्वातिके समयसे समन्तभद्रके समयकी कल्पना प्रायः ४० वर्ष बाद की गई है, कुन्दकुन्दके समयसे वह ६० वर्ष बाद की जा सकती है और कुछ अनुचित प्रतीत नहीं होती । ऐसी हालतमें समन्तभद्रको १० स० २७३, २५५, १२३ या ४१७ के करीबके और यदि शक सवत् शक राजाकी

मृत्युश्च संवत् न होकर उसके राज्य अथवा जन्मका संवत् हो तो पिछले ४१७ संवत्मेंसे शकराज्यकाज अथवा उसकी आसुके वर्ष मी कम किये जा सकते हैं ।

राजा शिवकुमार ।

‘पञ्चास्तिकाय सूत्रकी जयसेनाचार्यकृत टीकामें लिखा है कि धीकु-
हकुन्दाचार्यने इस शास्त्रको अपने शिष्य शिवकुमार महाराजके प्रति-
प्रेषनार्थ रचा है और वही राजा इस शास्त्रकी उत्पत्तिक निमित्त है ।
या—

भीमलङ्कृष्टकुन्दाचार्यदेवैः ... शिवकुमारमहाराज-
दिसंक्षेपवचिशिष्यप्रतिप्रेषनार्थ विरचिते पञ्चास्तिकायप्रामृत
शास्त्रे ...’

“अथ प्रामृतसंक्षेपे शिवकुमारमहाराजो निमित्तं अन्यत्र ब्रह्म
संप्रदायो सोमभेष्टपादि ज्ञातव्यम् । इति संक्षेपेण निमित्तं
कथितं ।”

मैं पक्षी कनबी टीकामें मी, जो ‘वाल्मीकि’ मुनिकी बनाई हुई है,
इसी प्रकारके उल्लेख कृतकत्वा ज्ञाता है । प्रोफेसर के० बी०
पाठकने इन शिवकुमार महाराजका समीकरण कदम्बवंशके राजा
शिवगुणेश्वरजी के साथ किया है—उन्हींको उक्त शिवकुमार कृत-
कत्वा है—और शिवगुणेश्वरका समय, ‘आहुतय भक्तार्ता श्रीसिधार्थ’
महाराजके द्वारा बादामी स्थानपर एक सं ५ में प्राचीन कदम्ब-
वंशके धस्त किये जानेसे ५० वर्ष पहलेका निश्चित करने,
यह प्रतिपादन किया है कि कुन्दकुन्दाचार्य शक सं० ४५०
(वि सं ५८५ या ई० सन् ५२८) के विशन् सिद्ध होते हैं ।
पाठक महाशयके इस मतको पं० गजधरकाठजी ग्यापशास्त्रिने,

‘समयसारप्राभृत’ की प्रस्तावनामें, अपना यह मत पुष्ट करनेके लिये उद्धृत किया है कि कुन्दकुन्दका उत्पत्तिसमय वि० स० २१३ से पहले बनता ही नहीं, और साथ ही यह प्रतिपादन किया है कि उसे स्वीकार कर लेनेमें कोई भी हानि नहीं है * । परंतु हमें तो उसके स्वीकारनेमें हानि ही हानि नजर पड़ती है—छात्र कुठ भी नहीं—और वह जरा भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । इस मतको मान लेनेसे समन्तभद्र तो समन्तभद्र पूज्यपाद भी कुन्दकुन्दसे पहलेके विद्वान् ठहरते हैं, और तब कुन्दकुन्दके वशमें उमास्वाति हुए, उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की, उस तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपादने ‘सर्वार्थसिद्धि’ नामकी टीका लिखी, इत्यादि कथनोंका कुछ भी अर्थ अथवा मूल्य नहीं रहता, और पचासों शिलालेखों तथा ग्रंथादिकोंमें पूज्यपाद तथा उनसे पहले होनेवाले कितने ही विद्वानोंके विषयमें जो यह सुनिश्चित उल्लेख मिलता है कि वे कुन्दकुन्दके वशमें अथवा उनके बाद हुए हैं मिथ्या और व्यर्थ ठहरता है।

* ‘२१३ तमवैक्रमसंवत्सरात्पूर्वं तु साधयितुमेव नार्हति भगवत्कुन्दकुन्दोत्पत्तिसमय ।’ ..

‘ततो युक्त्यानयापि भगवत्कुन्दकुन्दसमय तस्य शिवमृगेशधर्मसमान कालीनत्वात् ४५० तम शकसंवत्सर एव सिद्धयति स्वीकारे चास्मिन् क्षातिरपि नास्ति कापीति ।’

। उदाहरणके लिये देखो मर्कटाका ताम्रपत्र जो शक संवत् ३८८ का लिखा हुआ है और जिसमें कुन्दकुन्दाचार्यके वशमें होनेवाले आचार्योंका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

‘ श्रीमान् कौण्डिण्य—महाधिराज अविनीतनामधेयदत्तस्य देसिगण कौण्डकुन्दान्वय—गुणचद्रभटार—शिष्यस्य अभयणदिभटार तस्य शिष्यस्य शीलभद्रभटार—शिष्यस्य जनाणादिभटार—शिष्यस्य गुणजदिभटार—शिष्यस्य चन्द्रणन्दिभटारगो अष्ट अशीति—त्रयो—शतस्य सम्बत्सरस्य माघमासे

—कुर्ग इन्तिकप्रशन्स (E C I.)

यह सब क्या कुछ कम हानि है ? समझमें नहीं आता कि न्यायशास्त्री जीने बिना पूर्वापर सम्बन्धोंका विचार किये ऐसा क्यों छिन्न दिया । अस्तु हमारी समझमें प्रथम तो जयसेनादिक यह स्थिति ही कि 'कुन्द कुन्दने शिवकुमार महाराजके सम्भावनार्थ जयबा उनके निमित्त इस पंचास्ति-कायकी रचना की ' बहुत कुछ आधुनिक * मत ज्ञान पड़ता है, मूळ ग्रंथमें उसका कोई उल्लेख नहीं और न श्रीअमृतचंद्राचार्यद्वारा प्राचीन टीकापरसे ॥ उसका कोई समयन होता है । स्वयं कुन्दकुन्दाचार्यने ग्रंथके अन्तमें यह सूचित किया है कि उन्होंने इस ' पंचास्तिकायसं ग्रह ' सूत्रको प्रवचनमार्गसे प्रेरित हाकर मौर्याधी प्रभावानुसार रचा है । यथा—

* ११ वीं १४ वीं शताब्दीके कबीरदास, कबीरि बाकचंद्रमुनि विष्णुदास ११ वीं शताब्दीके विद्वान् थे । उनके पुत्र नवकीर्तिदास तथा सं १ १९ (वि- सं १९१४) में देहान्त हुआ है । और जयसेनाचार्य विष्णुदास प्रायः १४ वीं शताब्दीके विद्वान् मान्य होत हैं । उन्होंने जयचरणार्यद्वारा प्रकाशितयें शिव 'कुन्दकुन्द' का समस्कार किया है वे कुछ बाकचंद्र मुनिके समकालीन विद्वान् थे । आपकी ग्रन्थतन्त्रयकी टीकाओंमें गोमयसार चारित्र्यसार, इत्येवमह आदि ११ वीं १२ वीं शताब्दियोंके बने हुए ग्रंथोंके स्थित ही उल्लेख पाये जाते हैं । ऐसी हान्यमें पंचास्तिकायटीकाके अन्तमें ' पंचास्तिकाय समाप्तः के बाद जो विष्णु संवत् ११९९ वर्षेराश्वि कृति १ मांस शिवे' ऐसा सम्यक् दिया हुआ है वह आश्चर्य नहीं जो टीकाकी संपादिका ही सम्यक् हो ।

१ प्रो ए अकमर्ता ' पंचास्तिकाय' की प्रस्तावनामें लिखते हैं कि ग्रन्थ उनके सभी टीकाकारोंने इस बातका उल्लेख किया है कि इन तीनों ग्रंथोंके कुन्दकुन्दाचार्यके अपने स्थित शिवकुमारके हितार्थ रचा है, परंतु अमृतचंद्राचार्यकी किसी भी टीकामें ऐसा कोई उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया । यही माह्य प्रो साहबने किंतु आधार पर ऐसा कथन किया है ।

१ मासों हि परमवैराग्यचरणप्रवण चारयेवरी परमाज्ञा ।' (अमृतचन्द्र) ।

मग्न्यभावणं पवयणभक्तिपचोदिदेण मया

भणियं पवयणसार पंचत्थियसगह सुत्त ॥ १७३ ॥

इससे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दने अपना यह ग्रंथ किसी व्यक्तिपिण्डपके उद्देश्यसे अथवा उसकी प्रेरणाको पाकर नहीं लिखा, बल्कि इसका खास उद्देश्य 'मार्गप्रभावना' और निमित्तकारण 'प्रवचनभक्ति' है । यदि कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके सम्बोधनार्थ अथवा उनकी खास प्रेरणासे इस ग्रंथको लिखा होता तो वे इस पद्यमें या अन्यत्र कहीं उसका कुछ उल्लेख जरूर करते, जैसे कि भट्टप्रभाकरके निमित्त 'परमात्मप्रकाश' की रचना करते हुए योगीन्द्रदेवने जगह जगह पर ग्रंथमें उसका उल्लेख किया है । परंतु यहाँ मूल ग्रंथमें ऐसा कुछ भी नहीं, न प्राचीन टीकामें ही उसका उल्लेख मिलता है और न कुन्दकुन्दके किसी दूसरे ग्रंथसे ही शिवकुमारका कोई पता चलता है । इस लिये यह शिवकुमार महाराजके संबोधनार्थ रचा गया ऐसा माननेके लिये मन सहज तय्यार नहीं होता । संभव है कि एक विद्वानने किसी किम्वदंतीके आधार पर उसका उल्लेख किया हो और फिर दूसरेने भी उसकी नकल कर दी हो । इसके सिवाय, जयसेनाचार्यने 'प्रवचनसार' की टीकामें प्रथम प्रस्तावनाव्याख्येके द्वारा, 'शिवकुमार' का जो निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है उससे शिवकुमार महाराजकी स्थिति और भी सादिग्घ हो जाती है—

अर्थ कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा स्वसंचितिसमुत्पन्न-
परमानन्दैकलक्षणसुखामृतविपरीतचतुर्गतिसंसारदुःखभयभीतः
समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृ-

तदुराग्रहः परित्यक्तसमस्तशत्रुमिश्रादिषष्ठपातेनात्यन्तमध्यस्थो
भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यन्तात्महितामविनश्वरां पंच-
परमेष्ठिप्रसन्नोत्पन्नां मुक्तिभिर्गुणपादयत्वेन स्वीकुर्वाणः श्रीवर्द्ध-
मानस्वामितीर्थं परमवत्प्रमुखान् भगवतः पंचपरमेष्ठिनो ब्रह्म-
मात्मनमस्काराभ्यां प्रणम्य परमचारिश्रमाभयामीति प्रतिज्ञां
करोति—

इस प्रस्तावनाके छठ मूल प्रपञ्ची मंगलानिर्दिष्ट कर पाँच गाथाएँ
एक साथ दी हैं जिनमेंसे पिछली दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

किञ्चा अरहंतां सिद्धार्थं तद् भगवो गणहराण ।

अस्मात्प्रसन्नार्थं साहृणं चेव सम्बोधिं ॥ ४ ॥

वेसि विमुद्धवं सज्जपापपद्मासमं समासेज्ज ।

उत्संपयामि सम्मं अचो पिञ्चापसंपत्ती ॥ ५ ॥

इन गाथाओंमें श्रीगुन्दकुन्दव्यापने कृतकथा है कि 'मैं' अर्हन्ति
ज्ञात्वाप्योपाध्यायसर्वसाधुओं (पंचपरमेष्ठियों) को नमस्कार करके और
उनके विद्युद्दर्शनद्वारा रूपी प्रबल व्यासमन्त्रे प्राप्त होकर (सम्य-
दर्शन, सम्पन्नान्ते सम्पन्न होकर) उस धाम्यभाव (परम-वीर्य-
शक्ति) का आश्रय लेता हूँ—अथवा उसे सम्पादन करता हूँ—जिससे
निर्वाणकी प्राप्ति होती है । और इस प्रकारकी प्रतिज्ञाद्वारा उन्होंने
अपने प्रपञ्चे प्रतिपाद्य विषयकी सूचित किया है । अब इसके साथ
टीकाकारकी उक्त प्रस्तावनाको देखिये उसमें यही प्रतिज्ञा शिवकुमारसे
कराई गई है और इस तरह पर शिवकुमारको मूलप्रपञ्च कर्ता अथवा
प्रकारान्तरसे गुन्दकुन्दका ही नामान्तर सूचित किया है । साथ ही
शिवकुमारके जो विशेषण दिये हैं वे एक रागके विशेषण नहीं हो
सकते—वे उन महासुनिरागके विशेषण हैं जो सरागधारीस्थिते भी उपरत

होकर वीतरागचरित्रकी ओर प्रवृत्त होते हैं । ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि शिवकुमार महाराजकी स्थिति कितनी सदिग्ध है ।

दूसरे, शिवकुमारका ' शिवमृगेशवर्मा ' के साथ जो समीकरण किया गया है उसका कोई युक्तियुक्त कारण भी मालूम नहीं होता । उससे अच्छा समीकरण तो प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती नायनार, एम० ए०, एल० टी०, का जान पड़ता है जो काचीके प्राचीन पल्लवराजा ' शिवस्कन्दवर्मा ' के साथ किया गया है*, क्योंकि ' स्कन्द ' कुमारका पर्याय नाम है और एक दानपत्रमें उसे ' युवामहाराज ' भी लिखा है जो ' कुमार-महाराज ' का वाचक है, इस लिये अर्थकी दृष्टिसे शिवकुमार और शिवस्कन्द दोनों एक जान पड़ते हैं । इसके सिवाय शिवस्कन्दका ' मयिदात्रोल्लु ' वाला दानपत्र, अन्तिम मगल पद्यको छोड़ कर, प्राकृत भाषामें लिखा हुआ है और उससे शिवस्कन्दकी दरबारी भाषाका प्राकृत होना पाया जाता है जो इस ग्रन्थकी रचना आदिके साथ शिवस्कन्दका सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये ज्यादा अनुकूल जान पड़ती है । साथ ही, शिवस्कन्दका समय भी शिवमृगेशसे कई शताब्दियों पहलेका अनुमान किया गया है† । इसलिये पाठक महाशयका उक्त समीकरण

* देखो ' पचास्तिकाय ' के अंग्रेजी संस्करणकी प्रो० ए० चक्रवर्ती द्वारा लिखित ' ऐतिहासिक प्रस्तावना ' (Historical Introduction), सन् १९२० ।

† चक्रवर्ती महाशयने, कुन्दकुन्दका अस्तित्वसमय ईसासे कई वर्ष पहलेसे प्रारंभ करके, उन्हें ईसाकी पहली शताब्दीके पूर्वार्धका विद्वान् माना है, और इस लिये उनके विचारसे शिवस्कन्दका समय ईसाकी पहली शताब्दी होना चाहिये, परन्तु एक जगह पर उन्होंने ये शब्द भी दिये हैं—

It is quite possible therefore that this Sivaskanda of Conjeepuram or one of the predecessor of the

किसी तरह भी ठीक मात्तम नहीं होता । ब्राम पक्ता है उन्होंने इस समीकरणका लेकर ही दो ताम्रपत्रोंमें उल्लेखित हुए तोरणाचार्यका, कुन्दकुन्दाचार्य होनेके कारण, केवल सेइसी वष पीछेका ही विद्वान् कल्पित किया है, अथवा वैसी कल्पनाके लिये दूसरा कोई भी आधार नहीं था । हम किन्तु ही विद्वानोंके ऐसे उल्लेख देखते हैं जिनमें उन्हें कुन्दकुन्दाचार्य सूचित किया है और वे कुन्दकुन्दसे हजार वर्षसे भी पीछेका विद्वान् हुए हैं । उदाहरणके लिये शुभचंदाचार्यकी पंद्रहवीं छंदी छानिये जिसमें सकलस्मृति मूलकके गुह 'पद्मनदि'को कुन्दकुन्दाचार्यके बाद 'तदन्वयचरणपुरीष' लिखा है और जो इस्लामी प्राय १५ वीं शताब्दीके विद्वान् थे । इसलिये उक्त ताम्रपत्रके आधार पर तोरणाचार्यको शक सं० ५०० का और कुन्दकुन्दको उक्त १५० वर्ष पहले—शक सं० ३५ —का विद्वान् मान लेना मुक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता और वह उक्त समीकरणकी सिद्धा कल्पना पर ही अवलम्बित बल पक्ता है । ३५० से पहलेका ता शक सं ३८८ का लिखा हुआ

Same name was the contemporary and disciple of Sri Kundakunda.

इन सबोंसे यह जगति निकलती है कि इस विद्वत्पुरुष ईसाकी पहली शताब्दीके पूर्वार्धमें हीका जन्मता हीमाचलको थापन कुछ संदिग्ध बात पस है, व उक्त कुछ बातोंमें होना भी संभव सम्भव है, और इस लिये उन्होंने इस विद्वत्पुरुष पहले उची नामके एक और पूर्वजकी कल्पनाको भी कुन्दकुन्दकी समकालीनता और सिद्धांतके लिये स्थापित किया है ।

१ वे ताम्रपत्र राष्ट्रकूट वंशके राजा तुल्य भोजिन्दके समयके हैं और तोरणाचार्यके प्रसिद्ध प्रमाणपत्रसे सम्भव रहते हैं । इनमें एक शक सं ११ और दूसरा ७१४ का है । देखो सम्भवपत्रकी प्रस्तावना और कदापुत्रकी संग्रहकी धर्मिका । १ देखो जैनविद्वान्तमात्सरकी ४ वीं शिरण पृष्ठ ४१ ।

मर्कटाका ताम्रपत्र है, जिसमें कुन्दकुन्दका नाम है, गुणवर्णनार्थकी कुन्दकुन्दके वशमें होनेवाले प्रकट किया है और फिर ताम्रपत्रके समस्त उक्तों की पाँच पीढ़ियोंका उल्लेख किया है ।

एलाचार्य ।

प्रो० ए० चक्रवर्तीने, पंचास्तिकायकी अपनी ' ऐतिहासिक प्रस्तावना ' में, प्रो० हर्नलद्वारा संपादित नन्दिसंघकी पञ्चावलिओंके भाष्य पर, कुन्दकुन्दको विक्रमकी पहली शताब्दीका विद्वान् माना है—यह सूचित किया है कि वे वि० सं० ४९ में (ईसासे ८ वर्ष पहले) आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्षकी अवस्थामें उन्हें आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पदपर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० महीने १५ दिनकी बतलाई है । साथ ही, यह करते हुए कि कुन्दकुन्दका एक नाम ' एलाचार्य ' भी था और भाषाके ' कुरल ' काव्यकी बाबत कहा जाता है कि उसे ' ' ने रचकर अपने शिष्य थिरुवल्लुवरको दिया था जिसकी से वह प्रसिद्ध है और जिसने उसको मदुरासंघ (मदुराके सं० ७०१) के सामने पेश किया था, यह सिद्ध करनेका यत्न किया कि उक्त एलाचार्य और कुन्दकुन्द दोनों एक ही व्यक्ति थे और इस- ' ' ' कुरल ' का समय भी ईसाकी पहली शताब्दी ठहरता है * । परंतु ' कुरल ' का समय ईसाकी पहली शताब्दी ठहरो या कुछ और, और वह एलाचार्यका या न हो, हमें इस चर्चामें जानेकी नज़ी है, कुन्दकुन्दका

समय निर्णय नहीं किया गया है । हमें यहाँपर सिर्फ इतना ही देखना है कि भक्तवर्ती महाशयने कुन्दकुन्दके जिस समयका प्रतिपन्न किया है वह कहीं तक पुष्टिसुक्त प्रतीत होता है । रही यह बात कि 'एकाचार्य' कुन्दकुन्दका नामान्तर था या कि नहीं, इस विषयमें हम सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि जहाँ तक हमने जैन साहित्यका भ्रमग्रहण किया है हमें नन्दिसंस्कृति पञ्चाली अथवा गुर्वा-कलीके छत्रचक्र, दूसरे किसी भी ग्रंथ अथवा शिखाग्रंथ परसे यह माह्यम नहीं होता कि 'एकाचार्य' कुन्दकुन्दका नामान्तर था । अनेक शिखाग्रंथों आदि परसे उनका दूसरा नाम पद्मनन्दि हा उपलब्ध होता है और वही उनका दीक्षासमयका नाम अथवा प्रथम नाम था * 'क्षेत्रकुन्दाचार्य' नामसे वे बादमें प्रसिद्ध हुए हैं जिसका मुनिमधु रूप 'कुन्दकुन्दाचार्य' बन गया है और यह उनका अष्टमस्य नाम था क्योंकि वे क्षेत्रकुन्दपुरके रहनेवाले थे और इस लिये क्षेत्रकुन्दाचार्य का अर्थ क्षेत्रकुन्दपुरके आचार्य होता है । उस समय इस प्रकारके नामोंकी परिपाटी थी अनेक नगर-ग्रामोंमें मुनिसभ स्थापित थे—मुनियोंकी टोळियों रहती थीं—और उनमें जो बहुत बड़े आचार्य होते थे वे कभी कभी उस नगराधिकारके नामसे ही प्रसिद्ध होते थे । छत्रज

* जैसा कि भवनवेष्णाओंके शिखाग्रंथोंके जिस वाक्योंसे पता चलता है—
 अन्त्यात्मने भूविदिते बभूव वा पद्मनन्दि-नवमाधिराजम् ।
 श्रीक्षेत्रकुन्दादिमुनीकसत्त्वात् सत्यवमादुहृतचार्यवर्हि ॥

—वि के व ४ ।

श्रीपद्मनन्दिनवमाधिराजमा आचार्यछत्रजोत्तरक्षेत्रकुन्दा ।

द्वितीयमासीवर्माचार्यमुद्रावर्तिवत्तत्वात्सुचार्यवर्हि ५

—व ४१ ४२, ४७ ५ ।

तथा जोशेषोंका अन्ती तरहसे निस्तारन । जो दिया जाय वह ठीक केवल उसीके आधार पर किन्तो जाचार्यके समयका इतिहास तब तब प्रतिपादन नहीं किया जानका, फिर भी उसका उचित जन्म सा- योंके सत्य होनेका समझना है, और इसमें हमें यह देना चाहिये, कि कुन्दकुन्दके उक्त समयकी सत्यतामें प्रमाणोंसे कोई शक भी नहीं है या कि नहीं—

यह बात मानी हुई है और इसमें कोई शक भी नहीं पाया जाता कि वीरनिर्माणसे ६८३ ईसाके जगज्जान रहा, उसके बाद फिर कोई अगज्ञानी—एक भी जगका पाठी—नहीं हुआ, और पुनः कुन्दकुन्द अन्तिम ज्ञानी नहीं थे । इन्द्रनान्धितान्त्रिकों के मतानुसार कुन्दकुन्द अन्तिम आचार्यगमारी लोहाचार्यकी कई पीढ़ियोंके बाद हुए हैं जिन पीढ़ियोंके लिये ६०—८० वर्षके समयकी कल्पना कर देना कुछ देना नहीं है । और प्राकृत पञ्चमालीके अनुसार, भूतगणिकों अन्तिम एकागधारी मान लेनेपर कुन्दकुन्दका समय ६८३ से २०—३० वर्ष बादका ही रह जाता है । परन्तु दोनों ही दृष्टियोंको सक्षित करने यदि यही मान लिया जाय कि कुन्दकुन्द अन्तिम एकागधारी (लोहाचार्य या भूत- गणसे ६८३ वर्ष बाद हुए हैं तो यह मानना होगा कि वे वीरनिर्मा- जाहिर किया गया है, कुन्दकुन्द किसी तरह भी निम्नमन्त्री पहली शताब्दीके विद्वान् सिद्ध नहीं होते । हाँ यदि यह मान लिया जावे कि कुन्दकुन्द, अगधारी न होते हुए भी, एकागधारियोंसे पहले हुए हैं तो उनका समय विक्रमकी पहली शताब्दी बन सकता है । महाशय चक्रवर्ती भी ऐसा ही मानकर चले मादूम होते हैं, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

आपने एकदशांगधारियों तक ४९८ वर्षकी गणना की है ।
 इस गणनामें एकदशांगधारियोंका एकत्र समय २२० की बगल १३३
 वर्ष माना गया है और यह प्राकृत पहाणकीके अनुसार है । इसी पहा
 णकीको ककर आपने अन्तिम एकदशांगधारी कंसके बाद सुभद्र और
 यशोमयका समय क्रमशः ६ वर्ष और १८ वर्षका कलत्राया है ।
 इसके बाद, मद्रबाहु द्वितीयके २३ वर्ष समयका मन्त्रिसंघकी दूसरी
 पहाणकीके साथ मेल देखकर कुन्दकुलके समयके लिये उस पहाण
 कीका आश्रय लिया है और पहाणकीमें मद्रबाहुके आचार्य पद पर
 प्रतिष्ठित होनेका समय विक्रमसम्पत् सं० ४ दिया हुआ होनेसे यह
 प्रतिपादन किया है कि विक्रमका जन्म सुभद्रके उस सम्वारभसे इन्ने
 वर्षमें हुआ है—अथवा इस उल्लेखके द्वारा यह सूचित किया है कि
 विक्रम प्रायः १८ वर्षकी अवस्थामें राम्यासनपर अभिषिक्त हुआ था
 और उस वक्त यशोमयके समयका १५ वीं वर्ष बीत रहा था । सत्य
 ही, इस पिछली पहाणकीके आधारपर कुन्दकुलसे यह होनेका
 आचार्योंका जो समय आपने दिया है उससे माहूम होता है कि
 यशोमयके बाद मद्रबाहु द्वितीय, गुप्तिगुप्त माघनन्दी प्रथम और
 शिवचंद्र, ये चारों आचार्य ४५ वर्ष ८ महीने ९ दिनों भीतर
 हुए हैं, और चूंकि मद्रबाहु द्वितीयका आचार्य पद पर प्रतिष्ठित
 होने के पश्चात् १४ के दिन लिखा है इससे यह भी मशूम होता है
 कि वे बीरनिर्वाणसे ४९२ (४९८ + ६ + १८) वर्ष ५ महीने
 १३ दिन बाद आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे । इस तरह पर
 बीरनिर्वाणसे ५३८ वर्ष १ महाना २२ दिन (४९२ वर्ष ५ महीने

१ बीरनिर्वाण काविक वही १५ के दिन हुआ था, उसके बाद पश्चात् १८
 के पहले ५ महीने १३ दिनों का समय और फैला है ।

१३ दिन+४५ वर्ष ८ महीने ९ दिन) बाद, पौषवदी ८ के दिन, आचार्य पद पर कुन्दकुन्दके प्रतिष्ठित होनेका विधान किया गया है, अथवा दूसरे शब्दोंमें यो कहना चाहिये कि प्राकृत पट्टावलीके अनुसार जब ७-८ अर्गोंके पाठी लोहाचार्यका समय चल रहा था, या श्रुतावतार और त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिके अनुसार एकादशागधारियोंका ही—संभवतः कंसाचार्यका—समय बीत रहा था उस समय कुन्दकुन्दाचार्यके अस्तित्वका प्रतिपादन किया गया है ।

यद्यपि, अंगज्ञानी न होने पर भी कुन्दकुन्दका अंगज्ञानियोंके समयमें होना कोई असंभव या अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता,—उस समय भी दूसरे ऐसे विद्वान् जरूर होते रहे हैं जो एक भी अर्गके पाठी नहीं थे—परन्तु ऐसा मान लेनेपर नीचे लिखी आपत्तियाँ खड़ी होती हैं जिनका अच्छी तरहसे निरसन अथवा समाधान हुए बिना कुन्दकुन्दका यह समय नहीं माना जा सकता, जो कि एक बहुत ही संशयित और आपत्तियोग्य पट्टावलीपर अवलम्बित है—

(१) दोनों पट्टावलियोंके आधारपर अर्हद्वलि कुन्दकुन्दके प्रायः समकालीन और शेष माघनन्दि (द्वितीय), धरसेन, पुष्पदन्त तथा भूतबलि नामके चारों आचार्य कुन्दकुन्दसे एकदम पीछेके विद्वान् पाये जाते हैं, और यह बात इन्द्रनन्दिश्रुतावतारके विरुद्ध पड़ती है ।

(२) गुणधर, नागहस्ति, आर्यमक्षु, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य भी कुन्दकुन्दसे कितने ही वर्ष बादके विद्वान् ठहरते हैं, और यह बात भी 'श्रुतावतार' के विरुद्ध पड़ती है ।

१ लोहाचार्यका समय वीरनिर्वाणसे ५१५ वर्षके बाद प्रारंभ होता है और वह ५० वर्षका वतलाया गया है । इसलिये कुन्दकुन्दके आचार्य होनेके बाद २७ वर्ष तक और भी लोहाचार्यका समय रहा है ।

(३) किसी भी ग्रंथ अथवा शिलालेखादिमें ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह साफ तौरपर विदित होता हो कि उक्त माघर्षदी, धरसेन, पुष्पदन्त मृतवस्ति, तथा गुणधर, नागहस्ति, भार्यमधु, पतिवृषभ और उदारणाचार्य, ये सब अथवा इनमेंसे कोई भी कुन्दकुन्दकी आचार्यसंतातिमें अथवा उनके बाद हुए हैं । कुन्द कुन्दके बाद होनेवाले आचार्योंकी जगह जगह अनेक नामगणनाएँ मिलती हैं उनमेंसे किसीमें भी इन आचार्योंका कोई नाम न होनेसे इन आचार्योंका कुन्दकुन्दके बाद होनेका अस्वरूप स्पष्ट है । हों एक स्थानपर—प्रथमकेलोकके १०५ (२५४) नम्बरके शिलालेखमें—
ये वाक्य बखर पाये जाते हैं—

यः पुष्पदन्तेन च मृतवस्थास्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे ।

फलप्रदानाय अगजानानां प्राप्तोदुराम्यामिवकल्पयन् ॥

अर्द्धद्विस्त्रिंशच्चतुर्विंशं च श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघः ।

कालस्वभावादिह जायमान-द्वेपेतरास्पीकुरपाय चक्रे ॥

सिताम्बरादौ विपरीतस्येऽस्थिते त्रिंशधे पितनोतु मेदे ।

तत्सेन-नन्दि-त्रिदिवेश-सिंहस्त्रिंशेषु भर्तुं मनुते कुर्याः ॥

इन वाक्योंमें यह कथनाया गया है कि 'पुष्पदन्त और मृतवस्ति दोनों अर्द्धद्विंशके शिष्य थे और उनसे अर्द्धद्विंश ऐसे राजने थे मानों अगजानोंके फल देनेके लिये कल्पवृक्षने दो नये अक्षुर ही भारत किया है । इन्हीं अर्द्धद्विंशने कालस्वभावासे उत्पन्न होनेवाले राजाओंके लिये कुन्दकुन्दाभ्यस्तपी मूलसंघका चार भागोंमें विभाजित किया था और वे विमाग संन, नन्दि, देव तथा सिंह नामके 'चारसंघ' हैं । इन चारों संघोंमें जो वास्तविक भेद मान्य है वह कुछ है ।"

इस कथनमें मूलसंघका जो 'कुन्दकुन्दान्वय' विशेषण दिया गया है और उसी कुन्दकुन्दान्वयविशेषित मूलसंघका अर्हद्वलिद्वारा चार सर्वोर्ध्व विभाजित होना लिखा है उससे, यद्यपि, यह ध्वनि निकटतम है कि कुन्दकुन्दान्वय अर्हद्वलिसे पहले प्रतिष्ठित हो चुका था और इसलिये कुन्दकुन्द अर्हद्वलिसे पहले हुए हैं परन्तु यह गिलाखेख शक्र स० १३२० का लिखा हुआ है जब कि कुन्दकुन्दान्वय बहुत प्रसिद्धि को प्राप्त था और मुनिजनादिक अपनेको कुन्दकुन्दान्वयी कहनेमें गर्व मानते थे। इसलिये यह भी हो सकता है कि वर्तमान कुन्दकुन्दान्वयको मूलसंघसे अभिन्न प्रकट करनेके लिये ही यह विशेषण लगाया गया हो और ऐतिहासिक दृष्टिसे उसका कोई सम्बंध न हो। अर्हद्वलि, जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है पट्टावलीयोंके अनुसार कुन्दकुन्दके समकालीन थे—वे कुन्दकुन्दसे प्रायः तीन वर्ष बाद तक ही ओर जाति रहे हैं *। ऐसी हालतमें उनके द्वारा कुन्दकुन्दान्वयके इस तरहपर विभाजित क्रिये जानेकी संभावना कम पाई जाती है। इसके सिवाय, अर्हद्वलिद्वारा इस चतुर्विधसंघकी कल्पनाका विरोध श्रवणवेलागोलके निम्न शिलाना क्योंसे होता है—

ततः पर शास्त्रविदा मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलंकसूरिः ।

मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः ॥

* प्राकृत पट्टावलीमें अर्हद्वलिका समय वीरनिवाणसे ५६५ वर्षके बाद प्रारंभ करके ५९३ तक दिया है, और नन्दिसंघकी दूसरी पट्टावलीसे मालूम होता है कि कुन्दकुन्द ५९ वर्ष १० महीने १० दिन तक आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे जिससे उनका जीवनकाल वीरनि० स० ५९० तक पाया जाता है और इस तरह पर अर्हद्वलिका कुन्दकुन्दसे कुल तीन वर्ष बाद तक जीवित रहना ठहरता है।

तस्मिन्नाते स्वर्गसुखं महर्षौ दिव पतीर्षुमिव प्रकृष्टान् ।
 तदन्वयोऽत्रतमुनीश्वराणां ययुरित्यं सुवि संभवेदाः ॥
 स योगिसंपत्तुरः प्रभेदानासाद्य भूयानविरुद्धज्ञान् ।
 ५ समापय भीमगवान्बिनेन्द्रस्तुष्टुखानीव मिथं ममानि ॥

देव-नन्दि-सिंह-सेन-संप्रभेदवर्तिनां
 देवमेवत प्रबोधमाजि देवयोगिनां ।
 वृत्तितस्तमस्ततोऽविरुद्धधर्मसेविनां
 मध्यतः प्रसिद्ध एव नन्दि-संप्र इत्यभूत् ॥

—विष्णुकेतव न १८ (१५८) ।

इन वाक्यों द्वारा यह सूचित किया गया है कि अक्षरकदेव
 (एवमर्षिचरि प्रयोगकर्ता) की दिव प्राप्ति के बाद उनके वंशके
 मुनिपौत्रों, यह चार प्रकारका संप्रभेद उत्पन्न हुआ जिसका अर्थ
 देव-मेव है और जो परस्पर अविरुद्ध रूपसे धर्मज्ञ सेवन करनेवाला
 है । अक्षरकदेव पहलेके साहित्यमें इन चार प्रकारके सर्वोक्त कोई
 उल्लेख भी अतीतक देखनेमें नहीं आया जिससे इस कथनके सत्य
 होनेकी बहुत कुछ संभावना पार्श्व जाती है ।

(४) पदसम्प्रदाय'के प्रथम तीन संक्षेपों पर कुन्दकुन्दने १२
 हजार श्लोकपरिमण एक टीका लिखी, यह संक्षेप भी लिखा
 छरता है ।

(५) उपक्रम्य जैनसाहित्यमें कुन्दकुन्दके ग्रंथ ही सबसे अधिक
 प्राचीन ठहरते हैं और यह उस अनसामान्य मान्यताके विरुद्ध पड़ता है
 जिसके अनुसार कर्म-प्राभूत और कथ्य-प्राभूत नामके दो ग्रंथ ही प्राचीन-
 तम माने जाते हैं जिन पर भक्त्यादि टीकाएँ उपक्रम्य हैं ।

(६) विद्वज्जनबोधकके उस पद्यमें कुन्दकुन्दका जो समय दिया है और जिसका ' श्रुतावतार ' आदि ग्रंथोंसे समर्थन होना भी ऊपर बतलाया गया है उसे भी असत्य कहना होगा, क्योंकि इस समय और उस समयमें करीब २०० वर्षका अन्तर पाया जाता है ।

(७) इसके सिवाय, पट्टावलीमें कुन्दकुन्दसे पहले ' गुप्तिगुप्त ' और ' जिनचन्द्र ' नामके जिन आचार्योंका उल्लेख है उनकी स्थितिको स्पष्ट करनेकी भी जरूरत होगी, क्योंकि श्रुतसागरसूरिने, बोधपाहुङ्गकी टीकामें ' सीसेणय भद्रबाहुस्स ' का अर्थ देते हुए, ' गुप्तिगुप्त ' को दशपूर्वधारी ' विशाखाचार्य 'का नामान्तर बतलाया है—

“ भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्वलि-गुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशानामाचार्याणां मध्ये प्रथमेन.. ।”

और डाक्टर फ्लीटने उसका समीकरण चद्रगुप्त (मौर्य) के साथ किया है * । इन दोनों उल्लेखोंसे 'गुप्तिगुप्त' भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य ठहरते हैं परन्तु पट्टावलीमें उन्हें भद्रबाहु द्वितीयका शिष्य अथवा उत्तराधिकारी सूचित किया है । और शिलालेखोंमें 'गुप्तिगुप्त' नामका कोई उल्लेख ही नहीं मिलता । इसी तरहपर 'जिनचन्द्र'की स्थिति भी सदिग्ध है । जिनचन्द्र कुन्दकुन्दके गुरु थे, ऐसा किसी भी समर्थ प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, शिलालेखोंमें कुन्दकुन्दके गुरुरूपसे जिनचन्द्रका तो क्या, दूसरे भी किसी आचार्यका नाम नहीं मिलता । हाँ, कुछ शिलालेखोंमें इतना उल्लेख जरूर पाया जाता है कि कुन्दकुन्द भद्रबाहु श्रुतकेवलीके

शिष्य चंद्रगुप्त^४ के वंशमें हुए हैं × । इसके सिवाय, ज्यसेमाचार्यने, पंचास्तिकायकी टीकामें, अहाँ शिवकुमार महाराजके लिये मूक ग्रंथके रूपे जानेका विवरण किया है वही कुन्दकुन्दको 'कुमारनन्दिसिद्धान्त-
देव'का शिष्य भी किया है। इससे निनबंधकी स्थितिसे स्पष्ट करनेकी और भी ज्यादा जरूरत थी जिसको चक्रवर्ती महाराजने नहीं किया ।

ऐसी हालतमें, चक्रवर्ती महाराजने कुन्दकुन्दका जो समय प्रतिपादन किया है वह निरापद, सुनिश्चित और सहसा प्राप्त माहम नहीं होता । और इसलिये, उसके आधार पर समंतमद्रका समय निश्चित नहीं किया जा सकता । यदि किसी तरह पर कुन्दकुन्दका यही (विक्रमकी १ की शताब्दी) समय ठीक सिद्ध हो तो समंतमद्रका समय इससे ५, ६० वर्ष पीछे माना जा सकता है ।

मद्रबाहु-शिष्य कुन्दकुन्द ।

यहाँ पर इतना और भी प्रकट कर देना उचित माहम होता है कि 'बोधप्रामथ' के अन्तमें एक गाथा निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

× कदाहरणके लिये देखो भवभूतेत्योक्तके ४ वंश के अन्त पर अंत जो पितृवृक्ष और गुच्छक^५ प्रकारमें बहुत किया गया है, जगता १ है शि-
विश्वका शिव अंत—

तदीन-विष्णोऽपि चंद्रगुप्त सम-कीकाय-देवदत्त ।

विश्वेश्वरीप्रपाममान-प्रभुत्वकीर्तिर्भुवनाम्तराग्नि ॥

कदीनवर्षकायतः मद्रिहानुवृत्तौच पतिरजमात्र ।

वसौ बहन्तर्मन्त्रिणमुपीन्द्रस्यकुन्दकुन्दोदितवत्तद्वत्तः ॥

१ जब श्रीकृष्णारवन्दिष्ठिसिद्धान्तदेवदत्तदेवः... श्रीमद्राजकुन्दकाचार्यदेवे विरचिते पंचास्तिकायप्रवृत्तकावे ।

इन कुमारनन्दिक भी कहींसे कोई समर्थन नहीं होता ।

सदवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।

सो तह कहियं णाय सीसेण य भद्रबाहुस्स ॥ ६१

इस गाथामें यह वतलाया गया है कि जिनेन्द्रने—भगवान महावीरने—अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रोंमें शब्दविकारको प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकारके शब्दोंमें गूँथा गया है—भद्रबाहुके मुझ शिष्यने उन भाषासूत्रों परसे उसको उसी रूपमें जाना है और (जानकर इस ग्रंथमें) कथन किया है ।

इस उल्लेखपरसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि ‘भद्रबाहुशिष्य’ का अभिप्राय यहाँ ग्रंथकर्तासे भिन्न किसी दूसरे व्यक्तिका नहीं है, और इसलिये कुन्दकुन्द भद्रबाहुके शिष्य जान पड़ते हैं । उन्होंने इस पद्यके द्वारा—यदि सचमुच ही यह इस ग्रंथका पद्य है तो—अपने कथनके आधारको स्पष्ट करते हुए उसकी विशेष प्रामाणिकताको उद्धोषित किया है । अन्यथा, कुन्दकुन्दसे भिन्न भद्रबाहुके शिष्यद्वारा जाने जाने और कथन किये जानेकी बातका यहाँ कुछ भी सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता । टीकाकार श्रुतसागर भी उस सम्बन्धको स्पष्ट नहीं कर सके, उन्होंने ‘भद्रबाहु-शिष्य’ के लिये जो ‘विशाखाचार्य’ की कल्पना की है वह भी कुछ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती । जान पड़ता है टीकाकारने भद्रबाहुको श्रुतकेवली समझकर वैसे ही उनके एक प्रधान शिष्यका उल्लेख कर दिया है और प्रकरणके साथ कथनके सम्बन्धादिककी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, इसीसे उसे पढ़ते हुए गाथाका कोई सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता । अब देखना चाहिये कि ये भद्रबाहु कौन हो सकते हैं जिनका कुन्दकुन्दने अपनेको शिष्य सूचित किया है । श्रुतकेवली तो ये प्रतीत नहीं होते, क्योंकि भद्रबाहुश्रुतकेवलीके शिष्य माने जानेसे कुन्दकुन्द विक्रमसे प्राय ३०० वर्ष पह-

छेके विद्वान् ठहरते हैं और उस वक्त दसपूजार्थियों जैसे महाविद्वान् मुनिराजोंकी उपस्थितिमें 'कुन्दकुन्दान्वय'के प्रतिष्ठित होनेकी बात कुछ श्रेष्ठ नहीं लगती । इस लिये कुन्दकुन्द उन्हीं भद्रबाहु द्वितीयके शिष्य जेने चाहिये जिन्हें प्राचीन ग्रंथकारोंने 'आचार्य' नामक प्रथम अगके शिष्योंमें तृतीय विद्वान् सूचित किया है और पहावलीमें बिनके अनन्तर गुप्तिगुप्त, माचनदी और जिनचंद्रकी कल्पना की गई है । परन्तु पहावलीमें इनके आचार्यपदपर प्रतिष्ठित होनेका जो समय वि० सं० ४ देया है वह कुछ सुस्तिरुक्त प्रतीत नहीं होता—वह उस अक्षयगणनाको लेकर कथ्यम किया गया मान्य होता है जिसके अनुसार एकत्रिंशत् शारियोंका समय २२० वर्षकी अग १२३ वर्ष माना गया है और जिसका किसी प्राचीन ग्रंथसे कोई समर्पन नहीं होता । उस समय पहावली ऐसी कोई व्यवस्था भी नहीं थी जैसी कि वह बादकी परिपाटीको व्यवस्थामें लेकर लिखी हुई पहावलीमें अथवा गुप्तकालियोंसे पाई जाती है; और न ऐसा कोई नियम था जिससे एक आचार्यकी मृत्युपर उनके शिष्यको चाहे वह योग्य हो या न हो—विशुद्धतमें आचार्य पद दिया जाता हो बल्कि उस समयकी स्थितिमें ऐसा कोई होता है कि जब कोई मुनि आचार्यपदके योग्य होता था तभी उसको आचार्यपद दिया जाता था और इस तरह पर एक आचार्यके समयमें उनके कई शिष्य भी आचार्य हो जाते थे और वृषभ रूपसे अनेक मुनिसंघोंका शासन करते थे अथवा कोई कोई आचार्य अपने जीवनकालमें ही आचार्य पदको छोड़ देते थे और संघका शासन अपने निम्नी योग्य शिष्यके संपूर्ण करके स्वयं उपाध्याय या साधु परमष्ठिक पद धारण कर लेते थे । इस लिये बहुत प्राचीन आचार्योंके मन्त्रमें पहावलीमें दिये हुए उनके आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होनेके समय

और क्रम पर एकाएक विश्वास नहीं किया जा सकता । उपलब्ध जैन-साहित्यमें, प्रकृत विषयका उल्लेख करनेवाले प्राचीनसे प्राचीन ग्रंथोंपर-से एकादशांगधारियोंका समय वीरनिर्वाणसे ५६५ वर्ष पर्यंत पाया जाता है । इसके बाद ११८ वर्षमें चार एकांगधारी तथा कुछ अग-पूर्वोंके एकदेशधारी भी हुए हैं और इन्हींमें तीसरे नम्बर पर भद्रबाहु द्वितीयका नाम है । इन चारों आचार्योंका, प्राकृत पट्टावलीमें, जो पृथक् पृथक् समय क्रमशः ६, १८, २३, और ५० वर्ष दिया है उसकी एकत्र संख्या ९७ वर्ष होती है । हो सकता है कि इन मुनियोंके कालपरिमाणकी यह संख्या ठीक ही हो और बाकी २१ (११८-९७) वर्ष तक प्रधानतः अगपूर्वोंके एकदेशपाठियोंका समय रहा हो । इस हिसाबसे भद्रबाहु (द्वितीय) का समय वीरनिर्वाणसे ५८९ (५६५+६+१८) वर्षके बाद प्रारम्भ हुआ और ६१२ वें वर्ष तक रहा माद्धम होता है । अब यदि यह मान लिया जावे—जिसके मान लेनेमें कोई खास बाधा माद्धम नहीं होती—कि भद्रबाहुकी समय-समाप्तिसे करीब पाँच वर्ष पहले—बी० नि० से ६०७ वर्षके बाद—ही कुन्दकुन्द उनके शिष्य हुए थे, और साथ ही, पट्टावलीमें जो यह उल्लेख मिलता है कि ‘कुन्दकुन्द’ ११ वर्षकी अवस्था हो जाने पर मुनि हुए, ३३ वर्ष तक साधारण मुनि रहे और फिर ५१ वर्ष १० महीने १० दिन तक आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे’ उसे भी प्रायः सत्य स्वीकार किया जावे, तो कुन्दकुन्दका समय वीरनिर्वाण ६०८ से ६९२ के करीबका हो जाता है । इस समयके भीतर—बीर नि० से ६६२ वर्ष तक—अन्तिम आचारांगधारी ‘लोहाचार्य’का समय भी बीत जाता है, और उसके बाद २१ वर्ष तकका अगपूर्वैकदेशधारियों—अथवा अंगपूर्वपदांशवेदियोंका समय भी निकल जाता है, जिसमें अर्ह-

इति, माघनन्दि और धरसेनादिकका समय भी शामिल किया जा सकता है, क्योंकि त्रिलोकप्रभृतिमें अगपूर्वकदेशधारियोंके कोई सास-न्यम नहीं दिये, प्राकृत पट्टावलीमें इनके समयकी गणना एकअध्यायों-के समय (५६६ से ६८३ तक) में ही की गई है—अथवा यों कहिये कि इन्हें ही एकअध्यायी बतलाया है—, नन्दिसेनकी 'गुर्वा-ली'में माघनन्दीको 'पूर्वपदांशवेदी' लिखा है * और 'सुतावतार' में अरइति, माघनन्दी तथा धरसेन नामके आचार्योंका अगपूर्वके एक-दशवाता सूचित किया है x । इसके सिवाय अक्षयवेलाके सिद्ध-लेख नं० १०५ से, जिसका पद्य ऊपर उद्धृत किये-गये हैं—माध्यम होता है कि पुष्पदन्त और भूतबलि अरइतिके शिष्य थे । इन्हीं पुष्प-दन्त और भूतबलिको धरसेनने अपनी मृत्यु निकट देखकर बुलाया था और कर्मप्रामृत साक्षात् ज्ञान कराया था । इससे अरइति, माघनन्दि, धरसेन पुष्पदन्त और भूतबलि ये सब प्राय एक ही समयके विद्वान् माध्यम होते हैं । यह दूसरी बात है कि इन्मेंसे कोई कोई एक दूसरेसे कुछ वर्ष पीछे तक भी जीवित रहे हैं और सनकजीम विद्वानोंमें ऐसा प्राय हुआ ही करता है । बाकी 'ततः' 'तदनन्तर' आदि सम्बंधोंके द्वारा जो इन्हें कहीं कहीं एक इस-

* यथा— श्रीमृगशंखेऽऽदि कश्चिदधस्तसिन्धुवत्तत्परमोतिरन्यः ।

तथाभक्तपूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी धरसेनयः ॥

x यथा— "सर्वपदपूर्वदेवैकदेवैकविपूर्वदेवमाभयते ।

श्रीपुष्पदन्तपुत्रे सुविज्ञादि ततोऽरइवत्तत्परः" ॥ ८५ ॥

"तत्वाकन्तरमन्तारपुत्रो माघनन्दिनामाभूत् ।

लोचनपूर्वदेवं प्राकाश्य समाविष्टा विष्टं वाता ॥ १२० ॥

"अप्यवजीवपूर्वतिवत्तर्पणमवधायतन्तुर्नमः—

कर्मप्रामृतकः पुरिषैरक्षेयकमाभूत् ॥ १२० ॥

ऐसे वादका विद्वान् सूचित किया है उसका अभिप्राय एकके मरण और दूसरेके जन्मसे नहीं बल्कि इनकी आचार्यपदप्राप्ति, ज्ञानप्राप्ति आदिके समयसे या बड़ाई छोटाईके खयालसे समझना चाहिये अथवा उसे ग्रथकर्ताओंकी क्रमशः कथन करनेकी एक शैली भी कह सकते हैं । अस्तु, कुन्दकुन्दके इस समयके प्रतिष्ठित होनेपर उनके द्वारा 'षट्खण्डागम' सिद्धान्तकी टीकाका लिखा जाना बन सकता है * और पट्टाचलीकी उक्त बातको छोड़कर, और भी कितनी ही बातोंपर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है ।

वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका जन्म मानने और विक्रम सवत्को राज्यसवत्—जन्मसे १८ वर्ष बाद प्रचलित हुआ—स्वीकार करनेपर कुन्दकुन्दका सपूर्ण मुनिजीवनकाल वि० स० १२० से २०४ तक आ जाता है । और यदि प्रचलित विक्रम सवत्, मृत्युसंवत् हो या जन्मसवत् तो इस कालमें ६० वर्षकी कर्मों या १८ वर्षकी वृद्धि करके उसे क्रमशः ६० से १४४ अथवा १३८ से २२२ तक भी कहा जा सकता है । कुन्दकुन्दके इस लम्बे मुनिजीवनमें, जिसमें करीब ५२ वर्षका उनका आचार्य-काल शामिल है, कुन्दकुन्दकी दो तीन पीढ़ियोंका बीत जाना—उनके समयमें मौजूद होना—कोई अस्वाभाविक नहीं है । आश्चर्य नहीं जो समन्तभद्रका मुनिजीवन उनकी वृद्धावस्थामें ही प्रारम्भ हुआ हो और इस तरह पर दोनोंके समयमें प्रायः ६० वर्षका अन्तर हो । ऐसी हालतमें समन्तभद्र क्रमशः विक्रमकी दूसरी तीसरी, दूसरी, या

* यदि कुन्दकुन्दने वास्तवमें 'षट्खण्डागम' की कोई टीका न लिखी हो तो उनका दीक्षाकाल १०-१५ वर्ष और भी पहले माना जा सकता है, और तब उनके पिछले समयको १०-१५ वर्ष कम करना होगा ।

द्वितीय शताब्दीके विद्वान् ठहरते हैं और यह समय वास्तव में आर्यभट्ट के
रेपाटमें उल्लेखित उस पञ्चाङ्गके समयक प्रायः अनुकूल पड़ता है
जिसमें समन्तमहर्षि शक सन् ५० (वि० सं १९५) क कथनका
विद्वान् बतलाना गया है और जिसे उल्लिखित रहस्यवादि विद्वानों ने भी
प्रामाण्य माना है ।

यदि किसी तरह पर प्राकृत पञ्चाङ्गकी गणना की दूसरे प्राचीन
ग्रन्थोंके गणनाके मुकाबलेमें ठीक सिद्ध हो, और उसके अनुसार मद्र
का द्वितीयक वि सं ९ में ही आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होना
कर दिया जाय; साथ ही, यह मान लिया जाय कि कुन्दकुन्दने वि०
सं० १७ में उनसे दण्डा की थी तो इससे कुन्दकुन्दका मुनिवर्तिनका
वि सं० १७ सं १ १ तक हो जाता है, और यह वही समय है जो
नन्दसंघकी दूसरी पञ्चाङ्गमें दिया है और जिसपर चक्रवर्ती महारा
थके कपन-सम्भवमें ऊपर विचार किया जा चुका है । इस समयके
मान्यता पर समन्तमहर्षि तो विक्रमकी दूसरी शताब्दीके विद्वान् ठहरते
ही हैं परन्तु उन सब आपत्तियोंके समाधानकी भी जरूरत रहती है
जो ऊपर सर्वा की गई हैं, अथवा यह मानना पड़ता है कि कुन्दकु-
न्दाचार्य अद्वैति मध्वनदी धरसेन पुष्पस्त, भूतबन्धि और गुणपर
आदि आचार्योंसे पहले हुए हैं और उन्होंने पुष्पस्त-भूतबन्धिके 'पद्
सम्प्रदाय' पर कोई टीका नहीं लिखी ।

तुम्बुसुराचार्य और श्रीचन्द्रन ।

(४) भुक्तवतारमें, समन्तमहर्षिसे पहले और पञ्चनन्दि (कुन्द
कुन्द) मुनि तथा सामकुण्डाचार्यके बाद सिद्धान्तार्योंके टीकाकार

१ कुन्दकुन्दाचार्यकी बगौर हुई 'पद्सम्प्रदाय' सिद्धान्त ग्रन्थपर कोई टीका
रचल नहीं है ।

रूपसे 'तुम्बुलूराचार्य' नामके एक विद्वानका उल्लेख किया है जो 'तुम्बुलूर' ग्रामके रहनेवाले थे और इसीसे 'तुम्बुलूराचार्य' कहलाते थे । साथ ही, यह बतलाया है कि उन्होंने वह टीका कर्णाट भाषामें लिखी है, ८४ हजार श्लोकपरिमाण है और उसका नाम 'चूडामणि' है * । तुम्बुलूराचार्यका असली नाम 'श्रीवद्देव' बतलाया जाता है—लेविस राइस, एडवर्ड राइस और एस० जी० नरसिंहाचार्यादि विद्वानोंने अपने अपने ग्रंथोंमें × ऐसा ही प्रतिपादन किया है—परन्तु इस बतलानेका क्या आधार है, यह कुछ स्पष्ट नहीं होता । राजावलिकथेमें 'चूडामणिव्याख्यान' नामसे इस टीकाका उल्लेख है, इसे तुम्बुलूराचार्यकी कृति लिखा है और ग्रंथसंख्या भी ८४ हजार दी है, कर्णाटक शब्दानुशासनमें 'चूडामणि' को कन्नड़ी भाषाका महान् ग्रंथ बतलाते हुए उसे तत्त्वार्थमहाशास्त्रका व्याख्यान सूचित किया है, ग्रंथसंख्या ९६ हजार दी है परन्तु ग्रंथकर्ता का कोई नाम नहीं दिया, और श्रवणबेलगोलके ५४ वें शिलालेखमें श्री-

* यथा—अथ तुम्बुलूरनामाचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे ।

पद्येन विना खण्डेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयो ॥ १६५ ॥

चतुरधिकाशीतिसहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम् ।

कर्णाटभाषयाऽकृत महती चूडामणिं व्याख्याम् ॥ १६६ ॥

× देखो 'इस्किपशस ऐट श्रवणबेलगोल' पृ० ४४, हिस्टरी आफ कन्नडोज लिटरेचर' पृ० २४ और 'कर्णाटककविचरिते'के आधारपर प० नाथूरामजी प्रेमी—लिखित 'कर्णाटकजैनकवि' पृ० ५ ।

१ देखो राजावलिकथेका निम्न अवतरण जिसे राइस साहबने श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंकी प्रस्तावनामें उद्धृत किया है—

'तुम्बुलूराचार्यर एम्भट्ट—नाळकु-सासिर-ग्रन्थ-कर्तृगळामि कर्णाटकभाषेयि चूडामणि व्याख्यानम माळिदूर ।'

सर्दिरको 'चूडामणि' नामक सेव्य काव्यका कवि बतलाया है और उनकी प्रशंसा में दण्डी कविद्वारा कहा हुआ एक श्लोक भी उद्धृत किया है, यथा—

“चूडामणिः कवीनां चूडामणि-नाम-सेव्यकाव्यकविः ।

श्रीवर्द्धदेव एव हि कृतपुण्यः कीर्तिमाहर्तु ॥”

य एवमुपश्लेषितो दण्डिना—

“अष्टोः कन्यां अटाप्रेष वमार परमेश्वरः ।

श्रीवर्द्धदेव संवत्से विहाप्रेष सरस्वती ॥”

अन पकटा है इतने परसे ही—मैंयके 'चूडामणि' नामकी समान ताको केन्द्र ही—तुम्बुकराचार्य और श्रीवर्द्धदेवको एक व्याप्ति करार दिया गया है । परन्तु राज्यावधिक्ये और कर्णाटकशब्दानुशासनमें 'चूडामणि'को जिस प्रकारसे एक व्याख्यान (टीकाग्रंथ) प्रकट किया है उस प्रकारका उल्लेख शिवायके नहीं मिलता शिवायके त्पष्ट रूपसे उसे एक 'सेव्य-काव्य' किया है और वह काव्य कन्नड़ी भाषाका है ऐसा भी कुछ सूचित नहीं किया है । इसके सिवाय राज्यावधिक्ये आदिमें उक्त व्याख्यानके साथ श्रीवर्द्धदेवके नामका कोई उल्लेख भी नहीं है । इस लिये दोनोंका एक ग्रंथ मान केना और उसके आधार पर तुम्बुकराचार्यका श्रीवर्द्धदेवके साथ समीकरण करना सदिहसे सार्थी नहीं है । आचार्य नहीं जो 'चूडामणि' नामका कोई छूटा ही उत्तम संस्कृत पद्य है और उसीको केन्द्र दण्डीने जो त्वयं संस्कृत भाषाके महान् कवि ये, श्रीवर्द्धदेवकी प्रशंसा में उक्त श्लोक कहा हो । परन्तु यदि यही

१ धर्मात्—हे श्रीवर्द्धदेव । महादेवने तो ब्रह्मपति केनाको कारण किया था और तुम सरस्वतीका विहाप्रेषमें कारण लिये हुए हो ।

मान लिया जाय और यही मानना ठीक हो कि दण्डीकविद्वारा स्तुत श्रीमद्देव आर तुम्बुद्राचार्य दोनों एक ही व्यक्ति थे तो हमें इस कहनेमें जरा भी सकोच नहीं होता कि श्रुतावतारमें समन्तभद्रको तुम्बुद्राचार्यके बादका जो विद्वान् प्रकट किया गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि दण्डीके उक्त श्लोकमें श्रीमद्देव दण्डीके समकालीन विद्वान् माह्यम होते हैं, आर दण्डी ईसाकी छठी अथवा त्रिंशमकी सातवीं शताब्दीके विद्वान् थे * । ऐसी हालतमें श्रीमद्देव किसी तरह पर भी समन्तभद्रसे पहलेके विद्वान् नहीं हो सकते, वरिष्ठ उनसे कई शताब्दी पीछेके विद्वान् माह्यम होते हैं ।

गंगराज्यके संस्थापक सिंहनन्दी ।

(च) शिमोगा जिलेके नगर ताल्लुकेमें हूमच स्थानसे मिश्र हुआ ३५ नम्बरका एक बहुत बड़ा कनड़ी शिलालेख है, जो शक्र स० ९९९ का लिखा हुआ है और एपिग्रेफिया कर्णाटिकाकी आठवीं जिल्दमें प्रकाशित हुआ है । इस शिलालेखपरने माह्यम होता है कि भद्रबाहु स्वामीके बाद यहा कलिकालका प्रवेश हुआ—उसका वर्तना आरम्भ हुआ—गणभेद उत्पन्न हुआ और फिर उनके वंशक्रममें समन्तभद्र स्वामी उदयको प्राप्त हुए, जा ‘कलिकालगणधर’ और ‘शास्त्रकार’ थे । समन्तभद्रकी शिष्य-सत्तानमें सबसे पहले ‘शिवकोटि’ आचार्य हुए, उनके बाद ‘वरदत्ताचार्य,’ फिर ‘तत्त्वार्थसूत्र’ के कर्त्ता

* देखो लेविस राइसद्वारा संपादित ‘इस्क्रिपशम ऐट थ्रवणजेलगोल’ पृष्ठ ४४, १३५, और ‘वेवर्स हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर,’ पृ० २१३, २३२ ।

१ मल्लिषेणप्रशस्तिमें आर्यदेवको ‘राक्षान्त कर्त्ता’ लिखा है और यहाँ ‘तत्त्वार्थसूत्रकर्त्ता’ । इससे ‘राक्षान्त’ और ‘तत्त्वार्थसूत्र’ दोनों एक ही ग्रन्थके नाम माह्यम होते हैं ।

‘अम्बिब,’ अम्बिबके पश्चात् गंगराज्यका निर्माण करनेवाले सिंहनन्दि आचार्य और सिंहनन्दिके पश्चात् एकसंवि ‘सुमति महा-
क’ हुए । इनके बाद ‘कमलमय’ पर्यंत और भी कितने ही आचा-
र्यके नामों तथा कहीं कहीं उनके क्षमोंका भी क्रमशः उल्लेख किया
है । इस शिखरकेसुद्धा कुछ वंश इस प्रकार है—

‘ श्रीवर्द्धमानस्वामिगल तीर्त्थ प्रवर्तिसे गौतमगर्भजवर-
रने विद्वान्निगल अप्प मुनिगल सलेय् अवर्ति चतुरंगुलकादि
गातर एनिसिद कोण्डकुन्दाचार्यर् अरि केळव-कार्ळ योगे मद्रवाहु
स्वामिगलिन्द् इत्त कलिकालवर्षनेर्णि गणमेर्द पुट्टिदुद् अवर
प्रन्वयक्रमर्दि कलिकालगणवर्ष धावकपुंगलुम् एनिसिद समन्त
मद्रस्वामिगल अवर शिष्यसंतानं शिषकोत्थाचार्यर् अवर्ति पर
इत्ताचार्यर् अवर्ति तत्तार्यसूत्रकर्तुगल एनिसिद् आय्यदेवर
अवर्ति गंगराज्यम मादिद सिंहनन्दाचार्यर् अवरिन्द् एकसंवि
सुमतिमहारकर अवर्ति । — ’

इस जगह परसे यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि विन सिंहनन्दि आचा-
र्यका गंगराज्य संस्थापनासे सम्भव है वे सम्प्रतमद्रस्वामीक बाद हुए
हैं । यद्यपि, इस शिखरकेसुद्धा कुछ आचार्यके नाम आगे पीछे क्रम-
गच्छे किये हुए भी पाये जाते हैं—जिसका एक उदाहरण मद्रवाहु
स्वामीके कुन्दकुन्दसे कुछ काज बादका विद्वान् सूचित करता है—
, और इसलिये आचार्यके क्रमसम्बन्धमें यह शिखरकेसुद्धा सर्वथा प्रमाण
नहीं माना जा सकता फिर भी इसमें सिंहनन्दिको समयतमद्रके बादका

१ सिंहनन्दिके इस विशेषण परमप्रथम मादिद का अर्थ केचित्त रासने
who made the Ganga Kingdom दिया है—जहाँ वह वर
क्या है कि विन्दोने परमप्रथम निर्माण किया (वे सिंहनन्दी आचार्य) ।

जो विद्वान् सूचित किया है उनका समर्थन इना नगर ताल्लुके दूसरे गिज़ाउगासे भी होता है निम्न नम्बर २६ और ३७ है ।
 और जो तमश ९९०, १०६९ तक सामान्य शिवालयों में है । यथा—
 “ श्रुतकेवलिलगल् एनिसिद् (एनिप ३७) मद्रमाहुस्वामिगल्
 (गलग ३७) मोदलागि पलम्पर (दलम्पर ३७) आचार्य
 पौदिम्पलियं समन्तभद्रस्वामिगल् उन्नपिमिद्र् अवर अन्वय-
 दोल (अनन्तर ३७) गगगन्यम माटिद् सिंहनन्याचार्य
 अवरि — । ”

इसके सिवाय, दूसरा ऐसा कोई भी गिज़ाउगा देगनेमें नहीं आता जिसमें, समन्तभद्र और सिंहनन्दि दोनोंका नाम देने हुए, सिंहनन्दिको समन्तभद्रसे पहलेका विद्वान् सूचित किया हो जवना कमसे कम समन्तभद्रसे पहले सिंहनन्दिके नामका हो उल्लेख किया हो । ऐसी हालतमें समन्तभद्रके सिंहनन्दिके पूर्ववर्ती विद्वान् होनेकी संभावना अधिक पार् जाती है । यदि वस्तुस्थिति ऐसी ही हो तो उससे छपस साइस तकके उस अनुमानका समर्थन होता है जिसे उन्होंने केवल मल्लियेणप्रशस्तिमें इन विद्वानोंके आगे पीछे नामोल्लेखको देखकर ही लगा था और इसलिये जो सदोप तमा अपर्याप्त था । इन वादको मिले हुए शिलालेखोंमें ‘अवरि’ ‘अवर अन्वयदोल’ और ‘अवर अनन्तरं’ शब्दोंके द्वारा

१ यह ३६ वें शिलालेखका अंश है, ३७ वें में यह अंश प्रायः इसी प्रकारसे दिया हुआ है, जहाँ कुछ भेद है उसे कोष्ठक में दिालाकर उसपर नम्बर ३७ दे दिया गया है ।

२ मल्लियेणप्रशस्ति ध्रुवणवेल्लोलका ५४ वें शिलालेख है जो सन् १८८९ में प्रकाशित हुआ था, और नगर ताल्लुकेके एक शिलालेख सन् १९०४ में प्रकाशित हुए हैं । वे सन् १८८९ में राम... सामने मौजूद नहीं थे ।

इस बातकी स्पष्ट घोषणा की गई है कि सिंहनन्दि समस्तभद्रके भ्रातृ
 हुए हैं। अस्तु; ये सिंहनन्दि गंगवंशके प्रथम राजा 'कौगुणिवर्मा' के
 समकालीन थे और यह बात पहले भी बाहिर की जा चुकी है। सिंह
 नन्दिने गंगराज्यकी स्थापनामें क्या सहायता की थी, इसका कितना
 ही उल्लेख अनेक शिलालेखोंमें पाया जाता है, जिसे यहाँ पर उद्धृत
 करनेकी कोई जरूरत माझम नहीं होती। यहाँ पर हम सिर्फ
 इतना ही प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि कौगुणिवर्माका समय
 ईसाब्दी दूसरी शताब्दी माना गया है। उनका एक शिलालेख एक सं.
 २५ का 'नमनगुह' तास्तुकुकेसं उपलब्ध हुआ है, जिससे माझम
 होता है कि कौगुणिवर्मा वि० सं० १६० (ई० सं० १०३) में
 राज्यासन पर आबूझ थे। प्रायः यही समय सिंहनन्दिका होना चाहिये,
 और इस लिये कहना चाहिये कि समस्तभद्र वि० सं० १६० से पहले
 हुए हैं परंतु कितने पहले यह अप्रकट है। फिर भी पूर्ववर्ती मान
 केन पर कमसे कम ३० वर्ष पहले तो समस्तभद्रका होना मान ही
 लिया जा सकता है क्योंकि ३५ वें शिलालेखमें सिंहनन्दिसे पहले
 अय्यप्ति, बरदत्त और शिवकोटि नामके तीन आचार्योंका और भी उल्लेख
 पाया जाता है, जिनके लिये १०-१० वर्षका समय मान लेना कुछ अ-
 बिक नहीं है। इससे समस्तभद्र विक्रमकी प्रायः दूसरी शताब्दीके पूर्वार्धके
 सिंहान् माझम होते हैं। और यह समय उस समयके साथ मेक खाता

१ इस शिलालेखका मकर ११ और आर्यात विश्व प्रकाश ६—

“स्थिति श्रीमच्छौगुणिवर्मावर्मागङ्गाविराज प्रथम रज्यस्य एवं अक्षय-
 पतेषु पञ्चविंशति ३५ देव ह्यमण्डितु सत्त्वराधु अक्षयगुह ३५मी कवि
 रोहणि... ।

है जो कुन्दकुन्दको भद्रबाहुका शिष्य मानकर तथा विक्रमसंवत्सरी मृत्यु-संवत् स्वीकार करके ऊपर वतलाया गया है, अथवा भद्रबाहुको वि० स० ४ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेवाला मान लेने पर नन्दिसवकी पड़ावलीमें दिये हुए कुन्दकुन्दके समयाधार पर जिसकी कल्पना की गई है। अस्तु।

समय-सम्बन्धी इस सब कथन अथवा विवेचन परसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि समन्तभद्रके समय-निर्णय-प्रयत्नमें कितनी रुकावटें पैदा हो रही हैं—क्या क्या दिक्कतें आरही हैं—और कैसी कैसी कठिन अथवा जटिल समस्याएँ उपस्थित हैं, जिन सबको दूर अथवा हल-किये बिना समन्तभद्रके यथार्थ समय-सम्बन्धमें कोई जैची तुली एक बात नहीं कही जा सकती। फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि समन्तभद्र विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीसे पीछे अथवा ईसवी सन् ४५० के बाद नहीं हुए, और न वे विक्रमकी पहली शताब्दीसे पहलेके ही विद्वान् माद्धम होते हैं—पहलीसे ५ वीं तक पाँच शताब्दियोंके मध्यवर्ती किसी, समयमें ही वे हुए हैं। स्थूल रूपसे विचार करने पर हमें समन्तभद्र विक्रमकी प्रायः दूसरी या दूसरी और तीसरी शताब्दीके विद्वान् माद्धम होते हैं। परन्तु निश्चयपूर्वक यह बात भी अभी नहीं कही जा सकती। इस समयका विशेष विचार अवसरादिक मिलने पर दूसरे संस्करणके समय किया जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि कितने ही प्राचीन आचार्योंका समय इसी तरहकी अनिश्चितावस्था तथा गड़बड़में पड़ा हुआ है और उद्धार किये जानेके योग्य है। समन्तभद्रका समय सुनिश्चित होने-पर उन सभीके समयोंका बहुत कुछ उद्धार हो जायगा। साथ ही, वीर-निर्वाण, विक्रम और शक संवत्सरीकी समस्याएँ भी हल हो जायँगी, ऐसी दृढ़ आशा की जाती है।

समय-निर्णय-विषयक इस निबन्धको पढ़कर जो विद्वान् हमें निर्णयमें सहायक ऐसी कोई भी खास बात सुझाएँगे उनका हम हृदयसे आभार मानेंगे।

ग्रन्थ-परिचय ।

स्वामी सम्मतभद्राचार्यने कुछ कितने ग्रंथोंकी रचना की, वे किस किस विषय अथवा नामक ग्रंथ हैं, प्रत्येककी ओर संक्षेप से, और उन पर किन किन अचार्यों तथा विद्वानोंने टीका, टिप्पण अथवा भाष्य लिखे हैं इन सब चारोंका पूरा विवरण देनेके लिये, यद्यपि, साबन्दाभास्ते हम तय्यार नहीं हैं, किन्तु भी आचार्य महोदयके बनाये हुए जो जो ग्रंथ इस समय उपलब्ध होत हैं, और निम्नलिखित पता पढ़ता या उल्लेख मिळता है उन सबका कुछ परिचय, अथवा यथार-हस्य उन पर कुछ विचार नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

१ आत्ममीमांसा ।

सम्मतभद्रके उपलब्ध ग्रंथोंमें यह सबसे प्रधान ग्रंथ है और ग्रंथका यह नाम उसके विषयका स्पष्ट दातक है । इसे 'देवागम' स्तोत्र भी कहते हैं । भक्तप्रभु आदि विद्वानों की स्तोत्रोंके नाम जिस प्रकार उनके कुछ आचार्यों पर अवलम्बित हैं उसी प्रकार 'देवगान्' सम्प्रदायसे प्रारंभ होनेके कारण यह ग्रंथ भी 'देवागम' कहा जाता है अथवा अर्हन्त देवका आगम इसके द्वारा व्यक्त होता है—उसका तत्त्व साफ तौरपर समझमें आता है—और पर उसके रहस्योंके लिये हुए है इससे भी यह ग्रंथ 'देवागम' कहलाता है । इस ग्रंथके ओम्में अथवा कारिकाओंकी संख्या ११४ है । परंतु हरीचमात्ममीमांसा नामके पृथक् ११४ के अर्थ 'सुनन्दि' आचार्यने अपनी 'देवागमवृत्ति'में, नीचे लिखी पद्य की दिया है—

जयति जगति क्लेशवेशप्रपंचहिमांशुमान्
 विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ।
 यतिपतिरजो यस्याधृष्टान्मताम्बुनिधेर्लवान्
 स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥ ११५ ॥

यह पद्य यदि वृत्तिके अतमें ऐसे ही दिया होता तो हम यह नतीजा निकाल सकते थे कि यह वसुनन्दि आचार्यका ही पद्य है और उन्होंने अपनी वृत्तिके अन्त-मगलस्वरूप इसे दिया है । परतु उन्होंने इसकी वृत्ति दी है और साथ ही इसके पूर्व निम्न प्रस्तावनावाक्य भी दिया है—

“कृतकृत्यो निर्व्यूढतत्त्वप्रतिज्ञ आचार्यः श्रीसमन्तभद्र-
 केसरी प्रमाण नयतीक्ष्णनखरदंष्ट्राविदारित-प्रवादिकुनयमदविह-
 लकुंभिकुंभस्थलपाटनपटुरिदमाह—”

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं, एक तो यह कि यह पद्य वसु-
 नन्दि आचार्यका नहीं है, दूसरे यह कि वसुनन्दिने इसे समन्तभद्रका
 ही, ग्रंथके अन्त मगलस्वरूप, पद्य समझा है और वैसा समझ कर ही
 इसे वृत्ति तथा प्रस्तावनासहित दिया है । परतु यह पद्य, वास्तवमें,
 मूल ग्रंथका अन्तिम पद्य है या नहीं यह बात अवश्य ही विचारणीय
 है और उसीका यहाँ पर विचार किया जाता है—

इस ग्रंथपर भट्टाकलकदेवने एक भाष्य लिखा है जिसे ‘अष्टशती’
 कहते हैं और श्रीविद्यानदाचार्यने ‘अष्टसहस्री’ नामकी एक बड़ी
 टीका लिखी है जिसे ‘आप्तमीमांसालंकृति’ तथा ‘देवागमालंकृति’
 भी कहते हैं । इन दोनों प्रधान तथा प्राचीन टीकाग्रंथोंमें इस पद्यको
 मूल ग्रंथका कोई अंग स्वीकार नहीं किया गया और न कोई

म्यास्या ॥ की गई है । 'अष्टशती'में तो यह पद्य दिया भी नहीं ।
हो, 'अष्टसहस्रा'में टीकाकारों समाप्तिके बाद इसे निम्न वाक्यके साथ
दिया है—

‘अथ शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मंगलवचनमनुमन्वते ।’

उक्त पद्यका देनेके बाद ‘भीमदकलंकव्याः पुनरिदं वदन्ति’
इस वाक्यके साथ ‘अष्टशती का अन्तिम मंगलपद्य उद्धृत किया है
और फिर निम्न वाक्यके साथ, श्रीविद्यानंदाचार्यने अपना अन्तिम मंगल-
पद्य दिया है—

‘इति परापरगुरुप्रवाहगुणगणसंस्तवस्य मंगलस्य प्रसिद्धवय
तु स्वमक्तिवशादयं निबध्याम ।’

अष्टसहस्रांक इन वाक्योंसे यह स्पष्ट ज्ञानि निश्चयती है कि ‘अष्ट-
शती और अष्टसहस्रा’ के अन्तिम मंगल वचनोंकी तरह यह पद्य
भी किसी दूसरी पुरानी टीकाकार मंगल वचन है, जिससे शास्त्र विद्या-
नंदाचार्य परिचित नहीं थे अथवा परिचित भी होंगे वा उन्हें उसका
स्मरणनाम टीकाकार नहीं हुआ । इसीलिये उन्होंने, अकलंक-
व्यास कहकर उनका नाम में दूसरे ‘कचिन्’ शब्दके द्वारा ही उनका
उद्धृत किया है । इसीसे स्पष्ट भी यह बात टीकाकारों की है । प्रत्यक्ष
प्रमाण भी उक्त पद्यका नहीं चाहती । मादम हुआ है समुद्रदि आचार्य
पद्य ११व्याम की फोटो ऐसी ही मूल प्रति उपलब्ध हुई है जो साध्वन्
अथवा परम्पराका उक्त टीका परस उतारी गई होगी और जिसमें टीकाकार
उक्त मंगल पद्य भी गजतीस उतार दिया गया होगा । संग्रहकर्त्री नासमर्थीने
ऐसा बहुत प्रयत्नपूर्वक दस्ता दिया है । ‘सनातनप्रणयादा’ में प्रसि-
द्ध ‘मृदस्वभूस्वयं’क अन्तमें भी टीकाकार ‘यो नि उपजिनोक्त’

नामका पद्य मूलरूपसे दिया हुआ है और उसपर नवर भी क्रमशः १४४ डाला है । परन्तु वह मूलग्रन्थका पद्य कदापि नहीं है ।

‘आप्तमीमासा’की जिन चार टीकाओंका ऊपर उल्लेख किया गया है उनके सिवाय ‘देवागम-पद्यवार्तिकालंकार’ नामकी एक पँचवीं टीका भी जान पड़ती है जिसका उल्लेख युक्त्यनुशासन-टीकामें निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

‘इति देवागमपद्यवार्तिकालंकारे निरूपितप्रायम्’ ।

इससे मात्तम होता है कि यह टीका प्रायः पद्यात्मक है । मात्तम नहीं इसके रचयिता कौन आचार्य हुए हैं । संभव है कि ‘तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिकालंकार’की तरह इस ‘देवागमपद्यवार्तिकालंकार’के कर्ता भी श्री-विद्यानन्द आचार्य ही हों और इस तरहपर उन्होंने इस ग्रन्थकी एक गद्यात्मक (अष्टसहस्री) और दूसरी यह पद्यात्मक ऐसी दो टीकाएँ लिखी हों परन्तु यह बात अभी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती । अस्तु, इन टीकाओंमें ‘अष्टसहस्री’ पर ‘अष्टसहस्री-विषमपदतात्पर्यटीका’ नामकी एक टिप्पणी लघुसमतभद्राचार्यने लिखी है और दूसरी टिप्पणी श्वेताम्बरसम्प्रदायके महान् आचार्य तथा नैय्यायिक विद्वान् उपाध्याय श्रीयशोविजयजीकी लिखी हुई है । प्रत्येक टिप्पणी परिमाणमें अष्टसहस्री जितनी ही है—अर्थात् दोनों आठ आठ हजार श्लोकोंवाली हैं । परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी—ऐसी ऐसी विशालकाय तथा समर्थ टीकाटिप्पणियोंकी उपस्थितिमें भी—‘देवागम’ अभीतक विद्वानोंके लिये दुरूह और दुर्बोधसा बना हुआ

है * । इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि इस ग्रंथके ११४ श्लोक मिलने अधिक महत्त्व, गोमयी तथा गूढार्थके लिये हुए हैं; और इस लिये, श्रीवीरनरदि आचार्योंने ' निमग्नवृत्तमौक्तिक्य हारपट्टि ' की तरह और नैट्रसनाचार्योंने ' मनुष्मत् ' के समान समतमग्रकी भारतीयों को ' दुष्प्रभ ' बतलाया है उसमें जरा भी अशुक्ति नहीं है। वास्तवमें इस ग्रंथकी प्रत्येक स्वरिसूत्र प्रत्येक पद ' सूत्र ' है और वह बहुत ही जीवित और रचना गया है—उसका एक भी अक्षर व्यर्थ नहीं है। यही बड़ा है कि समतमग्र इस छोटेसे कृत्रिम संग्रह में मत्तमतास्तरेके रहस्य रूपी समुद्रको भर सके हैं और इस लिये उसको अभिगत करनेके लिए गहरे अध्ययन, गहरे मनन और विस्तीर्ण हृदयकी खास जरूरत है।

हिन्दीमें भी इस ग्रंथपर पंडित जयचंद्राष्टवसीरी बनाई हुई एक टीका मिलती है जो प्रायः साधारण है। सबसे पहले यही टीका हमें उपलब्ध हुई थी और इसी परसे हमने इस ग्रंथका कुछ प्राथमिक परिचय प्राप्त किया था। उस वक्त तक यह ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ था और इसलिये हमने बड़े प्रसंगे साथ, एक टीकासहित, इस ग्रंथकी प्रतिलिपि स्वयं अपने हाथसे उद्योग की। वह प्रतिलिपि अभी तक हमारे पुस्तकालयमें सुरक्षित है। उस वक्तसे बरस हम इस मूल ग्रंथका देखते आ रहे हैं और हमें यह बड़ा ही प्रिय मातृम स्मृत्य है।

इस ग्रंथपर कमजो, ताम्रिष्ठाणि भाषाओंमें भी किन ही टीका-टिप्पण, रिशरण और भाष्य ग्रंथ होंगे परंतु उनका कोई हास हमें

* [॥ निचयमें शैलान्वर कापु मुनिजिबमिजबजी जी लिखत है—

यह वगैरें ११४ श्लोकों का एक छोटासा ग्रन्थ आहत हुआ है, पर एतद्व्यतिरीक्य एतना है कि इस पर सिकहो-हजायें शार्दूलपाके बने बने भाष्य-विवरण भारी लिख जाने पर भी मिश्रलोच यह दुष्प्रभ का दिखाई देता है।—

अर्वादिदेवी माय १४ अक्ष ६ ।

मालूम नहीं है, इसी लिये यहाँपर उनका कुछ भी परिचय नहीं दिया जा सका ।

२ युक्त्यनुशामन ।

समन्तभद्रका यह ग्रन्थ भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण तथा अपूर्व है और इसका भी प्रत्येक पद बहुत ही अर्थगौरवको लिये हुए है । इसमें, स्तोत्रप्रणालीसे, कुल ६४ * पद्यों द्वारा, स्वमत और परमतोंके गुणदोषोंका, सूत्ररूपसे, बड़ा ही मार्मिक वर्णन दिया है, और प्रत्येक विषयका निरूपण, बड़ी ही खूबीके साथ, प्रबल युक्तियोंद्वारा किया गया है । यह ग्रन्थ जिज्ञासुओंके लिये हितान्वेषणके उपायस्वरूप है और इसी मुख्य उद्देश्यको लेकर लिखा गया है, जैसा कि ऊपर समतभद्रके परिचयमें इसीके एक पद्यपरसे, जाहिर किया जा चुका है । श्रीजिनसेनाचार्यने इसे महावीर भगवानके वचनोंके तुल्य लिखा है । इस ग्रन्थपर अभीतक श्रीविद्यानदाचार्यकी बनाई हुई एक ही सुन्दर सस्कृतटीका उपलब्ध हुई है और वह 'माणिकचन्द-ग्रन्थमाला'में प्रकाशित भी हो चुकी है । इस टीकाके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ 'आप्तमीमासा'के वादका बना हुआ है—

“श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदादव्यवस्थापितेन भगवता श्रीमताहृतान्त्यतीर्थकरपरमदेवेन मापरीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्त इति ते पृष्टा इव ग्राह्य —”

* सन् १९०५ में प्रकाशित 'सनातनजैनग्रन्थमाला'के प्रथम गुच्छकमें इस ग्रन्थके पद्योंकी संख्या ६५ दी है, परन्तु यह भूल है । उसमें ४० वें नम्बर पर जो 'स्तोत्रे युक्त्यनुशासने' नामका पद्य दिया है वह टीकाकारका पद्य है, मूलग्रन्थका नहीं । और मा० ग्रन्थमालामें प्रकाशित इस ग्रन्थके पद्यों पर गलत नम्बर पढ़ जानेसे ६५ संख्या मालूम होती है ।

३ 'स्वयंभू'स्तोत्र ।

इसे 'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र' और 'समन्तभद्रस्तोत्र' भी कहते हैं । 'स्वयंभूवा' पदस प्रारंभ होनेके कारण यह 'स्वयंभूस्तोत्र', समाजमें दूसरा छोट्टा 'स्वयंभूस्तोत्र' भी प्रचलित होनेसे यह 'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र' और समन्तभद्रद्वारा विरचित होनेसे यह 'समन्त भद्रस्तोत्र' कहा जाता है । इसके सिवाय इसमें चतुर्विंशति स्वयंभुवोक्ती—तीर्थंकरों अथवा जिनदेवोंकी—स्तुति है इससे भी इस स्तोत्रका सार्थक नाम 'स्वयंभू-स्तोत्र' है । इस ग्रंथमें अर नेमि और महावीरको छोड़कर शेष २१ तीर्थंकरोंकी स्तुति पाँच पाँच पद्यामें की गई है और उक्त तीन तीर्थंकरोंकी स्तुतिक पद्य क्रमशः २०, १० और ८ दिए हैं । इस तरहपर इस ग्रंथकी कुल पद्यसंख्या १४३ है । यह ग्रंथ भी बड़ा ही महत्त्वशाली है, निर्मल सृक्तियोंको छिपे हुए है, प्रसन्न तथा स्वस्थ पदोंसे विभूषित है और चतुर्विंशति विन्दवोंके धर्मको प्रतिपादन करना ही इसका एक विषय है । इसमें कहीं कहीं पर—किसी किसी तीर्थंकरके सम्बन्धमें—कुछ पौराणिक तथा ऐतिहासिक बातोंका भी उल्लेख किया गया है जो बड़ा ही रोचक मात्स्य होता है । उस उल्लेखको छोड़कर शेष संपूर्ण ग्रंथ स्थान स्थान पर, वार्षिक कर्णों और धार्मिक शिक्षाओंसे परिपूर्ण है । यह ग्रंथ अच्छी तरहसे समझकर निम्न पाठ किम आनन्द के योग्य है ।

इस ग्रंथ पर क्रियाकलापोंके टीकाकार प्रभाकर आचार्यकी बनाई हुई अभी तक एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध हुई है । टीका

१ त्रैलोक्यमन्त्र ध्यान आतामि इव प्रबली भवन्ती ॥ ऐसी प्रतिवाँ कबरी महर्षिमें मोहर है किम पर प्रबली नाम 'स्वयंभूस्तोत्र' लिखा है ।

यहाँपर हम सिर्फ इतना ही बतला देना चाहते हैं कि इस ग्रंथपर अभी-तक केवल एक ही सस्कृतटीका उपलब्ध हुई है, जो प्रभाचद्राचार्यकी बनाई हुई है और वह प्रायः साधारण है। हाँ, 'रत्नकरडकविषम-पदव्याख्यान' नामका एक सस्कृत टिप्पण भी इस ग्रंथपर मिलता है, जिसके कर्त्ताका नाम उस परसे माद्धम नहीं हो सका। यह टिप्पण आराके जैनसिद्धान्तभवनमें मौजूद है। कनड़ी भाषामें भी इस ग्रंथकी कुछ टीकाएँ उपलब्ध हैं परन्तु उनके रचयिताओं आदिका भी कुछ पता नहीं चल सका। तामिल भाषाका 'अरुगलछेप्पु' (रत्नकरडक) ग्रंथ, जिसकी पद्य-संख्या १८० है, इस ग्रंथको सामने रखकर बनाया गया माद्धम होता है और कुछ अपवादोंको छोड़कर इसीका प्रायः भावानुवाद अथवा साराश जान पड़ता है *। परन्तु वह कब बना और किसने बनाया, इसका कोई पता नहीं चलता और न उसे तामिल भाषाकी टीका ही कह सकते हैं।

६ जीवसिद्धि ।

इस ग्रंथका पता श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत 'हरिवशपुराण' के उस पद्यसे चलता है जो 'गुणादिपरिचय' में उद्धृत किया जा चुका है। ग्रंथका विषय उसके नामसे ही प्रकट है और वह बड़ा ही उपयोगी विषय है। श्रीजिनसेनाचार्यने समतभद्रके इस प्रवचनको

१ ग्रन्थपरिचय, २ ग्रन्थपर सदेह, ३ ग्रंथके पद्योंकी जाँच, ४ सदिग्ध पद्य, ५ अधिक पद्योंवाली प्रतियाँ, ६ जाँचका साराश, ७ टीका और टीकाकार प्रभाचन्द्र ।

* यह राय हमने इस ग्रंथके उस अंग्रेजी अनुवादपरसे कायम की है जो गत वर्ष १९२३-२४ के अंग्रेजी जैनगजटके कई अकोंमें the Casket of Gems नामसे प्रकाशित हुआ है।

भी महावीर भगवान्‌के बचनेके तुल्य बतलाया है । इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह ग्रंथ कितने अधिक महत्त्वका होगा । दुर्भाग्यसे यह ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ । माखम नहीं किस्त मेंदारमें बंद पड़ा हुआ अपना जीवन शेष कर रहा है अपना शेष कर चुका है । इसके शीघ्र अनुसंधानकी कमी जरूरत है ।

७ उत्थानुशासन ।

दिगम्बरजैनग्रंथकर्त्ता और उनके ग्रंथ 'नामकी सूची' में दिये हुए समस्तग्रन्थके ग्रंथोंमें 'उत्थानुशासन' का भी एक नाम है । जेष्ठान्तर कल्पद्रोसद्वारा प्रकाशित 'जैनग्रंथाली' में भी उत्थानुशासन को समस्तग्रन्थका बताया हुआ लिखा है, और साथ ही यह भी प्रकट किया है कि उसका व्युत्पत्ति सूरतके उन सेठ भगवान्‌-दास कल्याणदासजीकी प्रब्लेड रिपोर्टमें है जो पिठर्सनसाहकरी मीकरीम थे । और भी कुछ विद्वानोंने, समस्तग्रन्थ परिचय होते हुए, उनके ग्रंथोंमें 'उत्थानुशासन'का भी नाम दिया है । इस तरह पर प्रायः प्रत्येक अस्तित्वका कुछ पता चलता है । परंतु यह ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ । जमेक प्रसिद्ध मंडलमेंकी सूचियाँ देखने-पर भी हमें यह मालूम नहीं हो सका कि यह ग्रंथ किस्त जगह मौजूद है और न इसके विषयमें हम अभी तक किसी शास्त्रज्ञयाविपरसे यह ही पूरी तौरपर निश्चय कर सके हैं कि समस्तग्रन्थ, वास्तवमें, इस नामका कोई ग्रंथ बताया है, फिर भी यह सप्रमाण जरूर होता है कि समस्तग्रन्थ ऐसा कोई ग्रंथ होना चाहिये । खोज करनेसे इतना पता जरूर चलता है कि रामसेनके उस 'उत्थानुशासन से भिन्न, जो माणिकचंद्रग्रंथमालामें नागसेन'के नामसे सुचित हुआ है, कोई

१ याकबेव नाम कभीसे दिया गया है । वास्तवमें यह ग्रन्थ याकबेवके लिखे रामसेव का बताया हुआ है, और यह बात हमने एक केन्द्रीय शिखर को भी जो हुआ है वर १९९ के वैदिकीपीमें प्रकाशित हुआ है ।

दूसरा 'तत्त्वानुशासन' ग्रंथ भी बना है, जिसका एक पद्य 'नियम-सारकी 'पद्मप्रभ' मलधारिदेव-विरचित टीकामें, 'तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने' इस वाक्यके साथ, पाया जाता है और वह पद्य इस प्रकार है—

“ उत्सर्ज्य कायकर्माणि भाव च भवकारणं ।

स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥ ”

यह पद्य 'माणिकचन्द्रग्रंथमाला'में प्रकाशित उक्त तत्त्वानुशासनमें नहीं है, और इस लिये यह किसी दूसरे हो 'तत्त्वानुशासन'का पद्य है, ऐसा कहनेमें कुछ भी सकोच नहीं होता । पद्य परसे ग्रंथ भी कुछ कम महत्त्वका मालूम नहीं होता । बहुत संभव है कि जिस 'तत्त्वानुशासन'का उक्त पद्य है वह स्वामी समन्तभद्रका ही बनाया हुआ हो ।

इसके सिवाय, श्वेताम्बरसम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीहरिभद्र-सूरिने, अपने 'अनेकान्तजयपताका'में 'वादिमुख्य समन्तभद्र'के नामसे नीचे लिखे दो श्लोक उद्धृत किये हैं, और ये श्लोक शान्त्याचार्याविरचित 'प्रमाणकलिका' तथा वादि देवसूरिविरचित 'स्याद्वादरत्नाकर'में भी समन्तभद्रके नामसे उद्धृत पाये जाते हैं*—

बोधोऽत्मा चेच्छब्दस्य न स्यादन्यत्र तच्छ्रुतिः ।

यद्बोद्धार परित्यज्य न बोधोऽन्यत्र गच्छति ॥

न च स्यात्प्रत्ययो लोके यः श्रोत्रा न प्रतीयते ।

शब्दामेदेन सत्येवं सर्वः स्यात्परचित्तवत् ॥

* देखो जैनहितैषी भाग १४, अंक ६ (पृ० १६१) तथा 'जैनसाहित्य-संशोधक' अंक प्रथममें मुनि जिनविजयजीका लेख ।

और 'सम्यक्सार' की व्यवसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' में भी, समस्त-मन्त्रके नामसे कुछ श्लोकोंको उद्धृत करते हुए एक श्लोक निम्न प्रकारसे दिया है—

धर्मिणोऽनन्तरूपत्वं धर्माणां न कर्षयन् ।

अनेकान्तोप्यनेकान्त इति जैनमतं ततः ॥

ये तीनों श्लोक समस्तमन्त्रके उपलब्ध ग्रंथों (नं १ से ५ तक) में नहीं पाये जाते और इस लिये यह स्पष्ट है कि ये समस्तमन्त्रके किसी दूसरे ही ग्रंथ अथवा ग्रंथोंके पद्य हैं जो अभी तक ज्ञात अथवा अप्राप्त है । आश्चर्य नहीं जो ये भी इस 'तत्त्वानुशासन' ग्रंथके ही पद्य हों । यदि ऐसा हो और यह ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो उसे जैन-योग्य महाभाष्य समझना चाहिये । ऐसी हालतमें इस ग्रंथकी भी उचित उपास होनेकी वही अस्मरत है ।

८ प्राकृत व्याकरण ।

'जैनग्रंथावली' से मालूम होता है कि समस्तमन्त्रका सम्प्रदाय मुख्य एक प्राकृतव्याकरण' भी है जिसकी श्लोकसंख्या १२० है । उक्त ग्रंथावलीमें इस ग्रंथका उल्लेख 'उपलब्ध ऐतिहासिक सोसाइटी की रिपोर्ट'के आधार पर किया गया है और उक्त सोसाइटीमें ही उसका अस्तित्व कथ्यमाना गया है । परन्तु हमारे देखनेमें अभीतक यह ग्रंथ नहीं आया और न उक्त सोसाइटीकी वह रिपोर्ट ही देखनेको मिल सकी है * इस लिये इस विषयमें हम अधिक

* रिपोर्ट आधिक्य हैकर आगस्तसक सुनवाई देनेके लिये कई बार धनू कीड़े करण्डी कैच मेन्वर समक एकिनादिक जेसाकरी कककता की किन्ना पना और प्रायवाई की गर् पण्णु बन्धोने ऊपर कीड़े ज्वाब नहीं दिया जबना ऐसे कर्मोंके लिए परिभ्रम करना उचित नहीं समझा ।

कुछ भी कहना नहीं चाहते। हाँ, इतना जरूर कह सकते हैं कि स्वामी समन्तभद्रका बनाया हुआ यदि कोई व्याकरण ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो वह जैनियोंके लिये एक बड़े ही गौरवकी चीज होगी। श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने 'जैनैद्र व्याकरण'में 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' इस सूत्रके द्वारा समन्तभद्रके मतका उल्लेख भी किया है, इससे समन्तभद्रके किसी व्याकरणका उपलब्ध होना कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है।

९ प्रमाणपदार्थ ।

मूढविद्रीके 'पडुवस्तिभट्टार' की सूचीसे मालूम होता है कि वहाँपर 'प्रमाणपदार्थ' नामका एक संस्कृत ग्रंथ समन्तभद्राचार्यका बनाया हुआ मौजूद है और उसकी श्लोकसंख्या १००० है। साथ ही, उसके विषयमें यह भी लिखा है कि वह अधूरा है। मालूम नहीं, ग्रंथकी यह श्लोकसंख्या उसकी किसी टीकाको साथ लेकर है या मूलका ही इतना परिमाण है। यदि अपूर्ण मूलका ही इतना परिमाण है तब तो यह कहना चाहिये कि समन्तभद्रके उपलब्ध मूलग्रंथोंमें यह सबसे बड़ा ग्रंथ है, और न्यायविषयक होनेसे बड़ा ही महत्त्व रखता है। यह भी मालूम नहीं कि यह ग्रंथ किस प्रकारका अधूरा है—इसके कुछ पत्र नष्ट हो गये हैं या ग्रंथकार इसे पूरा ही नहीं कर सके हैं। बिना देखे इन सब बातोंके विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता * । हाँ, इतना जरूर हम कहना चाहते हैं कि यदि

१ यह सूची आराके 'जैनसिद्धान्त भवन'में मौजूद है।

* इस ग्रंथके विषयमें आवश्यक बातोंको मालूम करनेके लिये मूढविद्रीके प० लोकनाथजी शास्त्रीको दो पत्र दिये गये। एक पत्रके उत्तरमें उन्होंने ग्रंथको निकलवाकर देखने और उसके सम्बन्धमें यथेष्ट सूचनाएँ देनेका वादा भी किया था, परंतु नहीं मालूम क्या वजह हुई जिससे वे हमें फिर कोई सूचना नहीं दे सके। यदि शास्त्रीजीसे हमारे प्रश्नोंका उत्तर मिल जाता तो हम पाठकोंको इस ग्रंथका अच्छा परिचय देनेके लिये समर्थ हो सकते थे।

यह प्रथम, वास्तवमें, इन्हीं समस्तमन्त्राचार्यका बनाया हुआ है तो इसका बहुत ही प्र उद्धार करने और उसे प्रकाशमें आनेकी बड़ी ही आवश्यकता है ।

१० कर्मप्राप्तुत टीका ।

प्राकृत भाषामें श्रीपुष्पदन्त-भूतवस्याचार्यनिरचित 'कर्मप्राप्तुत' अथवा 'कर्मप्रकृतिप्राप्तुत' नामका एक सिद्धान्त ग्रंथ है । यह ग्रंथ १ जीवस्थान, २ सुष्ठुसूक्तम्, ३ कथत्वादिम्, ४ मानोपदेशा, ५ वर्णणा और ६ महात्म्य नामके छह खंडोंमें विभक्त है, और इस खिमे इसे 'पटुसंखडागम' भी कहते हैं । समस्तमन्त्रने इस ग्रंथके प्रथम पांच खंडोंकी यह टीका बड़ी ही सुन्दर तथा सूक्ष्म संस्कृत भाषामें लिखी है और इसकी संख्या अकतालीस हजार श्लोकपरिमाण्य है; ऐसा अधिकमन्त्राचार्यकृत 'प्रुत्तराचार' ग्रंथके निम्नशक्त्योंसे पाया जाता है । साथ ही, यह भी मान्य होता है कि समस्तमन्त्र कथम्प्राप्तुत नामके द्वितीय सिद्धान्त ग्रंथकी भी व्याख्या लिखना चाहते थे; परंतु द्रव्यादि-शुद्धिकरण-प्रयत्नोक्ति समग्र-वसे उनके एक सभर्मी साधुने (गुह्यभाषिने) उन्हें वैसा करनेसे रोका दिया था—

कालान्तरे तदा पुनरासन्ध्यां पसरि (?) तार्किकार्कौमुत् १६७
भीमान्समेतमद्रस्वामीत्यथ सोऽप्यपीत्य तं द्विविध ।
(सिद्धान्तमत्त पटुसंखडागमगतसंखडपकस्य पुन ॥ १६८ ॥
अष्टौ चत्वारिंशस्सहस्रसङ्गं भरणनया पुक्ता ।
विरचितवानसि सुन्दरमूढसंस्कृतगायया टीकाम् ॥ १६९ ॥
विनिश्चिन् द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्यां सभर्मगा स्वेन ।
द्रव्यादिशुद्धिकरणप्रयत्नविरहाद्यतिनिषिद्धः ॥ १७० ॥

इस परिचयमें उस स्थानविशेष अथवा ग्रामका नाम भी दिया हुआ है जहाँ तार्किकसूर्य स्वामी समन्तभद्रने उदय होकर अपनी टीका किरणोंसे कर्मप्राभृत सिद्धान्तके अर्थको विकसित किया है । परन्तु पाठकी कुछ अशुद्धिके कारण वह नाम स्पष्ट नहीं हो सका । ‘ आसन्ध्या पलरि ’ की जगह ‘आसीद्यः पलरि’ पाठ देकर प० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने उसका अर्थ ‘ आनन्द नावाच्या गावात ’—आनन्द नामके गाँवमें—दिया है । परन्तु इस दूसरे पाठका यह अर्थ कैसे हो सकता है, यह बात कुछ समझमें नहीं आती । पूछने पर पंडितजी लिखते हैं “ श्रुतपचमीक्रिया इस पुस्तकके मराठी अनुवादमें समन्तभद्राचार्यका जन्म आनन्दमें होना लिखा है, ” वस इतने परसे ही आपने ‘ पलरि ’ का अर्थ ‘ आनन्द गाँवमें ’ कर दिया है, जो ठीक मालूम नहीं होता, और न आपका ‘आसीद्य’ पाठ ही हमें ठीक जँचता है, क्योंकि ‘अभूत्’ क्रियापदके होनेसे ‘आसीत्’ क्रियापद व्यर्थ पड़ता है । हमारी रायमें, यदि कर्णाटक प्रान्तमें ‘पहड़ी’ शब्दके अर्थमें ‘पलर’ या इसीसे मिलता जुलता कोई दूसरा शब्द व्यवहृत होता हो और सप्तमी विभक्तिमें उसका ‘पलरि’ रूप बनता हो तो यह कहा जा सकता है कि ‘आसन्ध्या’ की जगह ‘आनन्ध्या’ पाठ होगा, और तब ऐसा आशय निकल सकेगा कि समन्तभद्रने ‘आनन्दी पहड़ी’ में अथवा ‘आनन्दमठ’ में ठहरकर इस टीकाकी रचना की है ।

११ गन्धहस्ति महाभाष्य ।

कहा जाता है कि स्वामी समन्तभद्रने उमास्वातिके ‘तत्त्वार्थसूत्र’ पर ‘गन्धहस्ति’ नामका एक महाभाष्य भी लिखा है जिसकी श्लोक-

१ ‘गन्धहस्ति’ एक वृक्षाद्दी महत्त्वसूचक विशेषण है—गन्धेम, गन्धगज और गन्धद्विप भी इसीके पर्याय नाम हैं । जिस हाथीकी गन्धको—

संख्या ८४ हमार है, और उक्त 'देवागम' स्तम्भ ॥ जिसका संग्रह-
करण है । इस ग्रंथकी बर्णना तबका ॥ रही है । बम्बई सुप्रसिद्ध-
दानार्थ सेठ माणिकराम हीराचंदजी ने० पी ने इसके दर्शन मात्र करा देने-
वालेके लिये पौंचसी रुपये नकदका परिचयिक भी निकाला था, और
हमने भी, 'देवागम' पर मोहित होकर, उस समय यह संकल्प लिया
था कि यदि यह ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो हम इसके अध्ययन मनन
और प्रचारमें अपना शेष जीवन व्यतीत करेंगे—परन्तु आज तक
किसी भी मण्डारसे इस ग्रंथका कोई पता नहीं चला । एक बार बल
बारेमें ऐसी खबर उड़ी थी कि यह ग्रंथ आस्ट्रेलिया देशके एक प्रसिद्ध
नगर (बिपना) की लायब्रेरीमें मौजूद है । और इस पर दो एक
विद्वानोंको वहाँ भेजकर ग्रंथकी कापी मँगानेके लिये कुछ पैसे वीरह
की योजना भी हुई थी, परन्तु बादमें मासूम हुआ कि वह खबर गलत
थी—उसके मूलमें ही मूल हुई है—और इस लिये दर्शनके लिये
मनताके हृदयमें उस समाचारसे जो कुछ संशयका आशा बैठी थी
वह फिरसे निराश्रयमें परिणत हो गई ।

हम जैनसाहित्य परसे भी इस ग्रंथके अस्तित्वकी खबर खोज करते

वहीं खरते—सावधानी अवका मिली और निश्चय हो पाये है—उसे 'वंशहस्ती'
कहते हैं । इसी ग्रंथके कारण कुछ काय काय विद्वान भी इस पक्षमें अभिप्रेत रहे
हैं । समस्तभारके छात्र प्रतियोगी वहीं खरते थे वह बात पहले निस्तारके
समय 'गुण्यविपरिचय' में कतमाई का चुकी है, इससे 'वंशहस्ती' अवश्य ही सम-
स्तभारका विश्व अवका विवेचन रहा होगा और इसीसे उनके महाभाष्यमें यह
इति महाभाष्य कहते होंगे । अवका वंशहस्ति—ग्रन्थ सेपेछे ही वह वंशहस्ति
महाभाष्य कहा जाता होगा और इससे वह समझना चाहिये कि वह सर्वोत्तम
ग्रन्थ है—इससे भाष्य उसके सामने कीकी भीड़ और निश्चय मान पसन्द है ।

आ रहे हैं । अबतकके मिले हुए उल्लेखों द्वारा प्राचीन जैनसाहित्य परसे इस ग्रंथका जो कुछ पता चलता है उसका सार इस प्रकार है—

(१) कवि हस्तिमल्लके 'विक्रान्त कौरव' नाटककी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगंधहस्तिप्रवर्तकः ।

स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः ॥

यही पद्य 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' ग्रंथकी प्रशस्तिमें भी दिया हुआ है, जिसे प० अव्यपार्यने शक स० १२४१ में बना कर समाप्त किया था, और उसकी किसी किसी प्रतिमें 'प्रवर्तकः' की जगह 'विधायकः' और 'निदेशकः' की जगह 'कवीश्वरः' पाठ भी पाया जाता है, परन्तु उससे कोई अर्थभेद नहीं होता अथवा यों कहिये कि पद्यके प्रतिपाद्य विषयमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि "स्वामी समन्तभद्र 'तत्त्वार्थसूत्र' के 'गंधहस्ति' नामक व्याख्यान (भाष्य) के प्रवर्तक—अथवा विधायक—हुए हैं और साथ ही वे 'देवागम' के निदेशक—अथवा कवीश्वर—भी थे ।"

इस उल्लेखसे इतना तो स्पष्ट मालूम होता है कि समन्तभद्रने 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'गंधहस्ति' नामका कोई भाष्य अथवा महाभाष्य लिखा है परन्तु यह मालूम नहीं होता कि 'देवागम' (आत्ममीमासा) उस भाष्यका मंगलाचरण है । 'देवागम' यदि मंगलाचरण रूपसे उस भाष्यका ही एक अंश होता तो उसका पृथक् रूपसे नामोल्लेख करनेकी यहाँ कोई जरूरत नहीं थी, इस पद्यमें उसके पृथक् नामनिर्देशसे यह स्पष्ट ध्वनि

निराकृती है कि वह समस्तमार्गका एक स्वतंत्र और प्रधान भेद है ।
 देवनाग (अष्टमीमांसा) की अन्तिम कारिका भी इसी भावको पुष्ट
 करती हुई नजर आती है और वह निम्न प्रकार है—

इतीयमाप्तमीमांसा निहिता हितमिच्छता ।

सम्प्रगमिष्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥

समुच्चिन्नाचार्यने अपनी टीकामें इस कारिकाको 'सांख्योपसं-
 हार-कारिका' किया है, और इसकी टीकाके अन्तमें समस्तमार्गका
 कर्तृकृत्याः निर्भूतत्वप्रतिज्ञाः' इत्यादि विशेषणोंके साथ चर्चेका
 किया है । विद्यानंदाचार्यने अष्टमीमांसा में, इस कारिकाके द्वारा प्रारम्भवि-
 र्वाहण—प्रारंभ किये हुए कार्यकी परिसमाप्ति—आदिको सूचित करते हुए,
 'देवनाग' को 'स्वोक्तपरिच्छेद आह' कहकरा है—अर्थात्,
 यह प्रतिपादन किया है कि इस शास्त्रमें जो दश परिच्छेदोंका विमर्श
 पाया जाता है वह स्वयं स्वामी समस्तमार्गका किया हुआ है । अकारण-
 रहने की, ऐसों ही प्रतिपादन किया है । और इस सब कथनसे

१ जो छेप अपना हित चाहत है उन्हें कथन करते वह आत्मीयता
 सम्यक् और सिद्धा उपदेशके अर्थविशेषकी प्रतिपत्तिके लिये करी गई है ।

२ आहके विवरण उपर्युक्त करनेवाली अथवा उसकी समझिकी सूक्त
 कारिका ।

३ वे दोनों विशेषण समस्तमार्गके द्वारा प्रारंभ किये हुए भेदको परिचय
 दिके सूचित करत है ।

४ इति देवनागको स्वोक्तपरिच्छेदे आह (स्वोक्ताः परिच्छेदा इव
 अस्मिन्स्वोक्तपरिच्छेदमिति आह तत्र) निहितेवमाप्तमीमांसा सर्वज्ञ-
 विशेष-परीक्षा—
 —अष्टमी ।

५ "इति स्वोक्तपरिच्छेदनिहितेवमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा ।"

—अष्टमी ।

‘देवागम’का एक स्वतंत्र शास्त्र होना पाया जाता है, जिसकी समाप्ति उक्त कारिकाके साथ हो जाती है, और यह प्रतीत नहीं होता कि वह किसी टीका अथवा भाष्यका आदिम मंगलाचरण है, क्योंकि किसी ग्रंथपर टीका अथवा भाष्य लिखते हुए नमस्कारादि रूपसे मंगलाचरण करनेकी जो पद्धति पाई जाती है वह इससे विभिन्न मालूम होती है और उसमें इस प्रकारसे परिच्छेदभेद नहीं देखा जाता । इसके सिवाय उक्त कारिकासे भी यह सूचित नहीं होता कि यहाँ तक मंगलाचरण किया गया है और न ग्रंथके तीनों टीकाकारों—अकलक, विद्या-नंद तथा वसुनन्दी नामके आचार्यों—मेंसे हा किसीने अपनी टीकामें इसे ‘गधहस्ति महाभाष्यका मंगलाचरण’ सूचित किया है, बल्कि गध-हस्ति महाभाष्यका कहीं नाम तक भी नहीं दिया । और भी कितने ही उल्लेखोंसे देवागम (आत्ममीमांसा) एक स्वतंत्र ग्रंथके रूपमें उल्लेखित मिलता है * । और इस लिये कवि हस्तिमल्लादिकके उक्त पद्य परसे

* यथा—

१—गोविन्दमह इत्यासीद्विद्वान्मिथ्यात्ववर्जित ।

देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सहर्शनान्वित ॥

—विक्रान्तकौरव प्र० ।

२—स्वामिनश्चरित तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।

देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्शयते ॥

—वादिराजसूरि (पा० च०)

३—जीयात् समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिन ।

स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलको महर्द्धिकः ॥

अल चकार यस्सार्वाभासमीमांसित मत ।

स्वामिषिष्यादिनदाय नमस्तस्मै महात्मने ॥

—नगरताल्लकेका शि० लेख न० ४६ (E C, VIII)

देवागमकी स्वतंत्रतादि-विषयक जो मनीषा निरूपणा गया है उसका बहुत कुछ समर्थन होता है ।

कवि हस्तिमच्छादिकके उक्त पद्यसे यह भी ग्राह्य नहीं होता कि जिस तत्त्वार्थसूत्र पर समन्तभद्रने गंधहस्ति नामका भाष्य लिखा है वह उमास्वातिक 'तत्त्वार्थसूत्र' अथवा 'तत्त्वार्थशास्त्र' है या कोई दूसरा तत्त्वार्थसूत्र । हो सकता है कि वह उमास्वातिक ही तत्त्वार्थसूत्र हो, परन्तु यह भी हो सकता है कि वह उससे भिन्न कोई दूसरा ही तत्त्वार्थसूत्र अथवा तत्त्वार्थशास्त्र हो, जिसकी रचना किसी दूसरे सिद्धान्तवायके द्वारा हुई हो क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता अकेले उमास्वाति ही नहीं हुए हैं—दूसरे आचार्य भी हुए हैं—और न सूत्रका अर्थ केवल गण-मय संक्षिप्त सूचनावाक्य या वाक्यसमूह ही है बल्कि वह शास्त्र 'का पर्याय नाम भी है और पद्यरम्य शास्त्र भी उससे अभिप्रेत होते हैं । क्या—

कल्पस्वपद्यनामेन रचितः पूर्वसूत्रतः ।—पञ्चोपरपत्रि ।

तयोद्दिष्टं मयात्रापि ज्ञात्वा भीजिनसूत्रतः ।—मध्यखण्डपत्रि ।

मथियं पदमणसारं पंचस्थियसंगमं सुचं ।—पञ्चास्तिकपद्य ।

इवाममनसूत्रस्य भुत्वा सार्धं नान्वितः ।—वि० कौरव प्र ।

एतच्च मूलराधनाङ्गीकायां संस्थितसूत्रं विस्तरतः
समर्थितं द्रष्टव्यं ।—अन्तारपद्ममृतटीका ।

अतएव तत्त्वार्थसूत्रका अर्थ 'तत्त्वार्थविषयक शास्त्र' होता है और इसीसे उमास्वातिक तत्त्वार्थसूत्र 'तत्त्वार्थशास्त्र' और तत्त्वार्थविगम-मोक्षशास्त्र' कहलाता है । सिद्धान्तशास्त्र' और 'राज्ञान्तसूत्र' भी

१ वह वाक्यसमूह "मनवती आराधना" शास्त्रके एक अधिकारका नाम है ।

तत्त्वार्थशास्त्र अथवा तत्त्वार्थसूत्रके नामान्तर हैं । इसीसे आर्यदेवको एक जगह 'तत्त्वार्थसूत्र' का और दूसरी जगह 'राद्धान्त' का कर्त्ता लिखा है * और पुष्पदन्त, भूतबल्यादि आचार्यों द्वारा विरचित सिद्धान्त-शास्त्रोंको भी तत्त्वार्थशास्त्र या तत्त्वार्थमहाशास्त्र कहा जाता है । इन सिद्धान्त शास्त्रोंपर तुम्बुद्धराचार्यने कनड़ी भाषामें 'चूडामणि' नामकी एक बड़ी टीका लिखी है जिसका परिमाण इन्द्रनन्दि—'श्रुताव-तार' में ८४ हजार और 'कर्णाटकशब्दानुशासन' में ९६ हजार श्लोकोंका बतलाया है । भट्टकलकदेवने, अपने 'कर्णाटक शब्दानु-शासन' में कनड़ी भाषाकी उपयोगिताको जतलाते हुए, इस टीका का निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

“न चैष (कर्णाटक) भाषा शास्त्रानुपयोगिनी । तत्त्वार्थ-महाशास्त्रव्याख्यानस्य षण्णवतिसहस्रप्रमितग्रंथसंदर्भरूपस्य चू-डामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्यान्येषां च शब्दागम-युक्तागम-परमागम-विषयाणां तथा काव्य-नाटक-कलाशास्त्र-विषयाणां च बहूनां ग्रंथानामपि भाषाकृतानामुपलब्धमानत्वात् ।”

* यथा—(१) “ अवरिं तत्त्वार्थसूत्रकर्तुंगल् एनिसिद् आर्यदेवर. .”

—नगरताल्लुकेका शि० लेख न० ३५० ।

(२) “आचार्यवर्यो यतिराख्यदेवो राद्धान्तकर्त्ता धियतां स मूर्ध्नि ।”

श्र० बे० शिलालेख न० ५४ (६७) ।

१ ये 'अष्टशती' आदि ग्रंथोंके कर्त्तासे भिन्न दूसरे भट्टकलक हैं, जो विक्र-मकी १७ वीं शताब्दीमें हुए हैं । इन्होंने कर्णाटकशब्दानुशासनको ई० सन् १६०४ (शक १५२६) में बनाकर समाप्त किया है ।

२ देखो, राइस साहबकी 'इस्क्रिप्शंस ऐट अवणबेलगोल' नामकी पुस्तक, सन् १८८९ की छपी हुई ।

इस दृष्टेयसे स्पष्ट है कि 'ब्रह्ममणि' जिन दोनों (कर्मप्राभृत और कर्मप्राभृत) सिद्धान्त शास्त्रोंकी टीका कइलाती है, उन्हें यहाँ 'तत्त्वार्थमाहात्म्य' के नामसे उल्लेखित किया गया है । इससे 'सिद्धान्तशास्त्र' और 'तत्त्वार्थशास्त्र' दोनोंकी, एकार्थताका समर्थन होता है और साथ ही यह पाया जाता है कि कर्मप्राभृत तथा कर्मप्राभृत ग्रंथ 'तत्त्वार्थशास्त्र' कहलाते थे । तत्त्वार्थविषयक होनेसे उन्हें 'तत्त्वार्थशास्त्र' या 'तत्त्वार्थसूत्र' कहना कोई अनुचित भी प्रतीत नहीं होता ।

इन्हीं तत्त्वार्थशास्त्रोंमेंसे 'कर्मप्राभृत' सिद्धान्तपर समस्तमन्त्रमें भी एक विस्तृत संस्कृतटीका लिखी है जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है और जिसकी संख्या 'इन्द्रनि-मुत्तावतार' के अनुसार १८ हजार और 'त्रिबुवन्नीधर-विरचित मुत्तावतार' के मतसे ६८ हजार श्लोक परिमाण है । ऐसी दृष्टिमें, आश्चर्य नहीं कि कवि हस्तिनापुरीके अपने उक्त पद्यमें समस्तमन्त्रको तत्त्वार्थसूत्रके जिस गंध-हस्ति नामक व्याख्यानका कर्ता सूचित किया है वह यही टीका कर्त्ता भाव्य हो । जब तक किसी प्रकृत और समर्थ प्रमाणके द्वारा, बिना किसी संदेहके, यह मान्य न हो जाय कि समस्तमन्त्रने उमा-स्वात्मिक तत्त्वार्थसूत्रपर ही गंधहस्ति नामक व्याख्याकी रचना की थी तब तक उनके उक्त सिद्धान्तभाष्यको भी गंधहस्तिमहा-भाष्य माना जा सकता है और उसमें यह पद्य कोई बाधक प्रतीत नहीं होता ।

(२) आराके जैनसिद्धान्त मन्त्रमें तादृश्यों पर लिखा हुआ, कमकी भाषाका एक आर्य्य ग्रंथ है, जिसका तथा जिसके कर्त्ताका नाम मान्य नहीं हो सका, और जिसका विषय उमास्वात्मिके तत्त्वार्थविषय

सूत्रके तीसरे अध्यायसे सम्बन्ध रखता है । इस ग्रन्थके प्रारम्भमें नीचे लिखा वाक्य मंगलाचरणके तोर पर माँटे अक्षरोंमें दिया हुआ है—

“ तत्त्वार्थव्याख्यानपण्णवतिसहस्रगन्धहस्तिमहाभाष्यविधायत (५) देवागमकवीश्वरस्याद्वादविद्याधिपतिसमन्तभद्रान्वयपेनुगोण्डेयलक्ष्मीसेनाचार्यर दिव्यश्रीपादपद्मगलिगे नमोस्तु । ”

इस वाक्यमें ‘पेनुगोण्डे’ के रहनेवाले लक्ष्मीसेनाचार्यके चरण कमलोंको नमस्कार किया गया है और साथ ही यह बतलाया गया है कि वे उन समन्तभद्राचार्यके पशमें हुए हैं जिन्होंने तत्त्वार्थके व्याख्यान स्वरूप ९६ हजार ग्रन्थपरिमाणको लिये हुए गन्धहस्ति नामक महाभाष्यकी रचना की है और जो ‘देवागम’के कवीश्वर तथा स्याद्वादविद्याके अधीश्वर (अधिपति) थे ।

यहाँ समन्तभद्रके जो तीन विशेषण दिये गये हैं उनमेंसे पहले दो विशेषण प्राय वे ही हैं जो ‘विक्रान्तकौरव’ नाटक और ‘जिनेन्द्रकल्याणाम्युदय’ के उक्त पद्यमें—खासकर उसकी पाठान्तरित शकलमें—पाये जाते हैं । विशेषता सिर्फ इतनी है कि इसमें ‘तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यान’ की जगह ‘तत्त्वार्थव्याख्यान’ और ‘गन्धहस्ति’ की जगह ‘गन्धहस्तिमहाभाष्य’ ऐसा स्पष्टोल्लेख किया है । साथ ही, गन्धहस्तिमहाभाष्यका परिमाण भी ९६ हजार दिया है, जो उसके प्रचलित परिमाण (८४ हजार) से १२ हजार अधिक है ।

१ लक्ष्मीसेनाचार्यके एक शिष्य मल्लिपेणदेवकी निषद्याका उल्लेख भ्रवण-बेल्लोलके १६८ वे शिलालेखमें पाया जाता है और वह शि० लेख ई० स० १४०० के करीबका बतलाया गया है । संभव है कि इन्हीं लक्ष्मीसेनके शिष्यकी निषद्याका वह लेख हो और इससे लक्ष्मीसेन १४ वीं शताब्दीके लगभगके विद्वान् हों । लक्ष्मीसेन नामके दो विद्वानोंका और भी पता चला है परन्तु वे १६ वीं और १८ वीं शताब्दीके आचार्य हैं ।

इस अनुच्छेदसे भी 'देवागम' के एक स्वतंत्र तथा प्रधान ग्रंथ होनेका पता चलता है, और यह माह्यम नहीं होता कि गण्डहस्तिमहाभाष्य जिस 'तत्त्वार्थ' ग्रंथका व्याख्यान है वह उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थसूत्र' है या कोई दूसरा तत्त्वार्थशास्त्र और इसलिये, इस विषयमें जो कुछ कल्पना और विवेचना ऊपर की गई है उसे यथा-संभव यहाँ भी समझ लेना चाहिये । रही ग्रंथसंख्याकी बात, वह बेशक उसका प्रचलित परिमाणसे भिन्न है और कर्माग्रामुच्छटीकाके उस परिमाणसे भी भिन्न है जिसका उल्लेख इन्द्रगिरी तथा विष्णुच द्वापरके 'सुतावतार' नामक ग्रंथमें पाया जाता है । ऐसी हालतमें यह सोचनेकी जरूरत है—ग्रंथकी संख्या ठीक है । उपर्युक्त वेदसाहित्यमें किसी भी आचार्यके ग्रंथ अथवा प्राचीन शिखारम्भ परसे प्रचलित संख्याका कोई समर्थन नहीं होता—अर्थात्, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे गण्डहस्ति महाभाष्यकी श्लोकसंख्या ८४ हजार पढ़ी जाती हो—बल्कि ऐसा भी कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आता जिससे यह माह्यम होता हो कि समस्तग्रन्थने ८४ हजार श्लोक-संख्याका कोई ग्रंथ निर्माण किया है, जिसका संबंध गण्डहस्ति महाभाष्यके साथ मित्रा किया जाता, और इसलिये महाभाष्यकी प्रचलित संख्याका मूल माह्यम न होनेसे उस पर सन्देह किया जा सकता है । सुतावतारमें 'बृहामणि' नामके कलकी भाष्यकी संख्या ८४ हजार दी है परंतु कर्माटक शम्भुदानुशासनमें महाभाष्यका उसकी संख्या ९६ हजार लिखते हैं और यह संख्या स्वयं ग्रंथको देखकर किसी हुए माह्यम होती है, क्योंकि उन्हींमें ग्रंथको 'उपक्रम्यमान' कहाया है । इससे सुतावतारमें समस्तग्रन्थके सिद्धान्तागम-भाष्यकी जो संख्या ४८ हजार दी है उस पर भी सन्देहको बक्सर मिल सकता है, खासकर

ऐसी हालतमें जब कि विबुध श्रीरके 'श्रुतावतार'ने उनकी सख्या ६८ हजार दी १। समझ है कि वह सख्या ८४ हजार हो—अर्कोंके आगे पीछे लिखे जानेसे कहीं पर ४८ हजार लिखी गई हो और उर्मीके आधारपर ४८ हजारका गलत उल्लेख कर दिया गया हो—या ९६ हजार हो अथवा ६८ हजार गौरह कुल और ही हो, और यह भी समझ है कि उक्त ग्रन्थमें जो सख्या दी गई है वही ठीक न हो—यह किसी गलतीसे ८४ हजार या ४८ हजार आदिकी जगह लिखी गई हो। परन्तु इन सब बातोंके लिये विशेष अनुसंधान तथा खोजनी जरूरत है और तभी कोई निश्चित बात कही जा सकती है। हाँ, उक्त ग्रन्थमें दी हुई महाभाष्यकी सख्या और किसी एक श्रुतावतारमें दी हुई समन्तभद्रके सिद्धान्तागम भाष्यकी सख्या दोनों यदि सत्य साधित हों तो यह जरूर कहा जा सकता है कि समन्तभद्रका 'गंधहस्तिमहाभाष्य' उनके सिद्धान्तागम-भाष्य (कर्मप्राभृत-टीका) से भिन्न है, और वह उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका भाष्य हो सकता है।

(३) उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'राजवार्तिक' और 'श्लोक-वार्तिक' नामके दो भाष्य उपलब्ध हैं जो क्रमशः अकलकंदेय तथा

१ अर्कोंका आगे पीछे लिखा जाना कोई अस्वाभाविक नहीं है, वह कभी कभी जल्दीमें हो जाया करता है। उदाहरणके लिये डा० सतीशचंद्रकी 'हिस्ट्री आफ इंडियन लाजिक'को लीजिये, उसमें उमास्वातिकी आयुका उल्लेख करते हुए ८४ की जगह ४८ वर्ष, इसी अर्कोंके आगे पीछेके कारण, लिखे गये हैं। अन्यथा, डाक्टर साहबने उमास्वातिका समय ईसवी सन् १ से ८५ तक दिया है। वे यदि इसे न देते तो वहाँ आयुके विषयमें और भी ज्यादा भ्रम होना सम्भव था।

विधानदशार्थके कनाय हुए हैं । ये वार्तिकके ढंगसे लिखे गये हैं और 'वार्तिक' ही कहलाते हैं । वार्तिकमें उक्त, अनुक्त और दुस्त—कहे हुए, बिना कहे हुए और आश्रया कहे हुए—तीनों प्रकारके अर्थोंकी विन्ता, विचारणा अपना अभिव्यक्ति हुआ करता है । जैसा कि श्रीहेमचन्द्रचार्य—प्रतिपादित 'वार्तिक'के निम्न अक्षरोंसे प्रकट है,—

‘उक्तानुक्तदुस्तकार्यविन्ताकारि तु वार्तिकम् ।’

इससे वार्तिक भाष्योंका परिमाण पहले भाष्योंसे प्रायः कुछ कम जाता है । जैसे सर्वार्थसिद्धिसे राजवार्तिकका और राजवार्तिकसे श्लोक-वार्तिकका परिमाण कम हुआ है । ऐसी दृष्टिमें उक्त उत्तरार्थसूत्र पर समस्तमन्त्रका ८७ या ९६ हजार श्लोक संख्यावाला भाष्य यदि पहले केसे मौखिक था तो अक्षरोंकेबारे और विधानदशके वार्तिक भाष्यका अक्षरों अक्षरों परिमाण उससे जकर कुछ कम जाना चाहिये था, परंतु कहना तो दूर रहा वह उल्टा उससे कई गुणा कम है । इससे यह नतीजा निकलता है कि या तो समस्तमन्त्रने उमास्वामिके उत्तरार्थसूत्र पर वैसा कोई भाष्य नहीं लिखा—उन्होंने सिद्धान्तार्थ पर जो भाष्य लिखा है वही गंधर्वसि महाभाष्य कहलाता होगा—और या लिखा है तो वह अक्षरोंकेबारे तथा विधानदशसे पहले ही नष्ट हो चुका था, उन्हें संप्रकाश नहीं हुआ ।

१ A rule which explains what is said or but imperfectly said and supplies omissions.

—V S. Apte's dictionary

२ वार्तिकवाच्योक्ति मिल चुकने प्रकारके भाष्यों अपना दोषपूर्ण परिमाण भी कम जाता है, ऐसा अभिप्राय नहीं है । वह चाहे कितना कम भी हो सकता है ।

(४) शाकटायन व्याकरणके 'उपज्ञाते' सूत्रकी टीकामें टीकाकार श्रीअभयचन्द्रसूरि लिखते हैं—

“वृत्तीयान्तादुपज्ञाते प्रथमतो ज्ञाते यथायोगं अणादयं भवन्ति ॥ अर्हता प्रथमतो ज्ञातं आर्हतं प्रवचनं । सामन्तभः महाभाष्यमित्यादि ॥”

१ यह तीसरे अध्यायके प्रथम पादका १८२ वां सूत्र है और अभयचन्द्रसूरि सुद्धित 'प्रक्रियासंग्रह'में इसका क्रमिक न० ७६६ दिया है । देखो, छोट्टापुर के 'जैनेन्द्रमुद्रणालय'में छपा हुआ सन् १९०७ का संस्करण ।

० ये अभयचन्द्रसूरि वे ही अभयचन्द्र विद्वान्तचक्रवर्ती मालूम होते हैं जो केशववर्णिके गुरु तथा 'गोम्मटसार'की 'मन्दप्रबोधिना' टीकाके कर्ता थे; और 'लघोयस्त्रय'के टीकाकार भी वे ही जान पड़ते हैं । 'लघोयस्त्रय'की टीकामें टीकाकारने अपनेको मुनिचद्रका शिष्य प्रकट किया है और मगलाचरणमें मुनिचद्रको भी नमस्कार किया है, 'मन्दप्रबोधिना' टीकामें भी 'मुनि'को नमस्कार किया गया है और शाकटायन व्याकरणकी इस 'प्रक्रियासंग्रह' टीकामें भी 'मुनीन्द्र'को नमस्कार पाया जाता है और वह 'मुनीन्दु' (=मुनिचद्र) का पाठान्तर भी हो सकता है । साथ ही, इन तीनों टीकाओंके मगलाचरणोंकी शैली भी एक पाई जाती है—प्रत्येकमें अपने गुरुके सिवाय, मूलग्रन्थकर्ता तथा जिनेश्वर (जिनाधीश) को भी नमस्कार किया गया है और टीका करनेकी प्रतिज्ञाके साथ टीकाका नाम भी दिया है । इससे ये तीनों टीकाकार एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं और मुनिचद्रके शिष्य जान पड़ते हैं । केशववर्णाने गोम्मटसारको कनडी टीका, शक सं० १२८१ (वि० सं० १४१६) में बनाकर समाप्त की है, और मुनिचद्र विक्रमकी १३ वीं १४ वीं शताब्दीके विद्वान् थे । उनके अस्तित्व समयका एक उल्लेख सौदत्तिके शिलालेखमें शक सं० ११५१ (वि० सं० १२८६) का और दूसरा श्रवणवेलगोलके १३७ (३४७) नवरके शिलालेखमें शक सं० १२०० (वि० सं० १३३५) का पाया जाता है । इस लिये ये अभयचन्द्रसूरि विक्रमकी प्राय १४ वीं शताब्दीके विद्वान् मालूम होते हैं । बहुत संभव है कि वे अभयसूरि सैद्धान्तिक भी थे ही अभयचन्द्र हों जो 'श्रुतमुनि'के शास्त्रगुरु थे

यहाँ तृतीयान्तसे उपज्ञात अर्थमें अणादि प्रत्ययोंके होनेसे जो रूप होते हैं उनके दो उदाहरण दिये गये हैं—एक ‘आईत-प्रवचन’ और दूसरा ‘सामन्तमद्र-महामाध्य’ । साथ ही, ‘उपज्ञात’का अर्थ ‘प्रथम-ये ज्ञात’—बिना उपदेशके प्रथम ज्ञाना हुआ—किया है । भ्रमकोछमें जो ‘आप ज्ञान’को ‘उपज्ञा’ जिया है । इस अर्थकी दृष्टिसे आईतके द्वारा प्रथम जाने हुए प्रवचनको जिस प्रकार ‘आईत प्रवचन’ कहते हैं वसी प्रकार (सामन्तमद्रण प्रथमतो विनोपदेशेन—ज्ञातं सामन्तमद्र) सामन्तमद्रके द्वारा बिना उपदेशके प्रथम जाने हुए महामाध्यको ‘सामन्तमद्र महामाध्य’ कहते हैं । ऐसा समझना चाहिये और इससे यह ध्वनि निकलती है कि सामन्तमद्रका महामाध्य उनका स्वोपज्ञ भाष्य है—उन्हींके किसी ग्रंथ पर रचा हुआ भाष्य है । अन्यथा इसका उल्लेख ‘टैः प्रोक्ते’ सूत्रकी टीकामें किया जाता जहाँ ‘प्रोक्त’ तथा ‘व्याख्यात’ अर्थमें इन्हीं प्रत्ययोंसे बनेहुए रूपोंके उदाहरण दिये हैं और उनमें ‘सामन्तमद्र’ भी एक उदाहरण है परन्तु उसका साथमें ‘महामाध्य’ पद और जिन्हें भुवभुनिके भगवत्सम्राट्की प्रकृतिमें सम्भाषण परम्परा आरम्भमेंके पूर्ण कारणार (सिद्धान्त) लिखा है । उनका समय भी वही पता जाता है; क्योंकि भुवभुनिके अनुगतपुरुष और गुरुसाई बाळवंत मुनिने छत्र सं ११५५ (वि. सं. १३३) में भगवत्सम्राट्सूत्र पर एक टीका लिखी है (देखो कर्णाटककविवरिवं) । परन्तु भुवभुनिके शोकागुरु भगवत्सम्राट्के निकट इस भगवत्सम्राट्के मित्र जान पड़ते हैं; क्योंकि भगवत्सम्राट्के छि. कै. ४१ और १५ में उन्हें साधनदीक्षा दिव्य लिखा है । केवल समय उनका भी निकटकी १३ वीं १४ वीं छाताण्वी है । भगवत्सम्राट् नामके चतुरे कुछ विद्या बोध अस्तित्व निकटकी १९ वीं और १० वीं छाताधिराजोंमें पाता जाता है । परन्तु ये सब प्रक्रियाक्रमके कहीं साक्ष्य नहीं होते ।

१ यह वही तीसरे अन्वयके प्रथम पादका १९५ वीं सूत्र है और प्रक्रियाक्रममें इसका क्रमिक नं. ७४३ दिया है ।

नहीं है। क्योंकि दूसरेके ग्रंथ पर रहे हुए कि उस ग्रंथके अर्थका प्रथम ज्ञान ग्रंथकारको होता है। परन्तु यहाँ पर हमें इस जरूरत नहीं है। हम इस उल्लेख परसे सिर्फ़ है कि इसमें समन्तभद्रके महाभाष्यका उल्लेख है और नाम न देकर 'सामन्तभद्र महाभाष्य' के नामसे ही परन्तु इस उल्लेखसे यह मादूम नहीं होता कि वह पर लिखा गया है। उमास्वामिके तत्कार्यसूत्रकी तरह सिद्धान्तपर या अपने ही किसी ग्रंथपर लिखा हुआ सकता है। ऐसी हालतमें, महाभाष्यके निर्माणका कुछ सिवाय, इस उल्लेखसे और किसी विशेषताकी उपलब्धि (५) स्यादादमञ्जरी नामके श्वेताम्बर ग्रंथमें एक हस्ति' आदि ग्रंथोंके हवालेसे अक्यव और प्रदेशके से उल्लेख किया है —

“यद्यप्यवयवप्रदेशयोग्यवहस्त्यादिषु मेदोऽस्ति सूक्ष्मेधिका चिन्त्या ।”

इस उल्लेखसे सिर्फ़ 'गंधहस्ति' नामके एक ग्रंथका पता परन्तु यह मादूम नहीं होता कि वह मूल ग्रंथ है या टीका, है या श्वेताम्बर और उसके कर्त्ताका क्या नाम है। हो सकता है इसमें 'गंधहस्ति' से समन्तभद्रके गंधहस्तिमहाभाष्यका ही जैसा कि पं० जवाहरलाल शास्त्रीने ग्रंथकी भाषाटीकामें

१ यह हेमचन्द्राचार्य-विरचित अन्ययोग्यवहस्त्यादिषु मेदोऽस्ति सूक्ष्मेधिका' की जिसे मल्लिषेणसूरिने शक सं० १२१४ (वि० सं०) १२४९ में बजाया किया है।

है; परन्तु वह श्रेष्ठामूर्खोंका कोई ग्रंथ भी हो सकता है जिसकी इस प्रकारके उद्धृष्ट-अवसरपर अधिक सम्यक्त्व पाई जाती है। क्योंकि दोनों ही सम्प्रदायोंमें एक नामके अनेक ग्रंथ होते रहे हैं,—और नामोंकी यह परस्पर समानता हिन्दुओं तथा बौद्धोंके पाई जाती है। अतः इस नाममात्रके उद्धृष्टसे किसी विशेषताकी उपलब्धि नहीं होती।

(९) 'श्रौतदीपिका' में आचार्य धर्मभूषणने अनेक स्थानों पर 'आप्तमीमांसा' के कई पणोंको उद्धृत किया है परन्तु एक जगह सर्वश्रेष्ठ सिद्धि करते हुए, वे उसके 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' नामक पणको निम्न वाक्यके साथ उद्धृत करते हैं—

“तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे—”

इस वाक्यसे इतना पता चलता है कि महाभाष्यकी आदिमें 'आप्तमीमांसा' नामका भी एक प्रस्ताव है—प्रकरण है—और ऐसा होना कोई अस्वाभाविक नहीं है एक ग्रंथकार, अपनी किसी कृतिको उपयोगी समझकर अनेक ग्रंथोंमें भी उद्धृत कर सकता है। परन्तु इससे यह मान्य नहीं होता कि वह महाभाष्य उपासकत्विके तत्त्वार्थ सूत्रका ही भाष्य है। वह कर्मप्राभव नामके सिद्धान्तशास्त्रका भी भाष्य हो सकता है और उसमें भी आप्तमीमांसा नामके एक प्रकरणका होना कोई असंभव नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय 'आप्तमीमांसाप्रस्तावे' पन्में आए हुए आप्तमीमांसा शब्दोंका वाक्य यदि समन्तभद्रका संपूर्ण आप्तमीमांसा नामका देशपरिच्छे-

दात्मक ग्रंथ माना जाय तो उक्त पदसे यह भी मालूम नहीं होता कि वह आत्ममीमासा ग्रन्थ उस भाष्यका मगलाचरण है, बल्कि वह उसका एक प्रकरण जान पड़ता है । प्रस्तापनाप्रकरण होना और बात है और मगलाचरण होना दूसरी बात । एक प्रकरण मगलात्मक होते हुए भी टीकाकारोंके मगलाचरणकी भाषामें मगलाचरण नहीं कहलाता । टीकाकारोंका मगलाचरण, अपने इष्टदेवादिककी स्तुतिको लिये हुए, या तो नमस्कारात्मक होता है या आशीर्वादात्मक, और कभी कभी उसमें टीका करनेकी प्रतिज्ञा भी शामिल रहती है, अथवा इष्टकी स्तुति-ध्यानादिपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको ही लिये हुए होता है, परन्तु वह एक ग्रंथके रूपमें अनेक परिच्छेदोंमें बँटा हुआ नहीं देखा जाता । आत्ममीमासामें ऐसा एक भी पद्य नहीं है जो नमस्कारात्मक या आशीर्वादात्मक हो अथवा इष्टकी स्तुतिध्यानादिपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए हो, उसके अन्तिम पद्यसे भी यह मालूम नहीं होता कि वह किसी ग्रंथका मगलाचरण है, और यह बात पहले जाहिर की जा चुकी है कि उसमें दशपरिच्छेदोंका जो विभाग है वह स्वयसमन्तभद्राचार्यका किया हुआ है । ऐसी हालतमें यह प्रतीत नहीं होता कि, आत्ममीमासा गंधर्वास्तिमहाभाष्यका आदिम मगलाचरण है—अर्थात्, वह भाष्य 'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि-दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान् ॥' इस पद्यसे ही आरम्भ होता है और इससे पहले उसमें कोई दूसरा मगल पद्य अथवा वाक्य नहीं है । हो सकता है कि समन्तभद्रने महाभाष्यकी आदिमें आत्मके गुणोंका कोई खास स्तवन किया हो और फिर उन गुणोंकी परीक्षा करने अथवा उनके विषयमें अपनी श्रद्धा और गुणज्ञताको ससूचित करने आदिके लिये 'आत्ममीमासा' नामके प्रकरणकी रचना की हो अथवा पहलेसे रचे

इस अपने इस प्रेमको वही उद्युत किया हो । और यह भी हो सकता है कि मूळग्रन्थके मंगलाचरणको ही उन्होंने महामाध्यम मंगलाचरण स्वीकार किया हो; जैसे कि पूज्यपादकी वाक्य कुछ विद्वानोंका कहना है कि उन्होंने उत्तारार्थसूत्रके मंगलाचरणको ही अपनी 'सुवर्णसिद्धि' टीकाका मंगलाचरण बनाया है और उससे मिल टीकामें किसी नये मंगलाचरणका विधान नहीं किया* । दोनों ही हाज्जतमें 'अष्टमीमांसा' प्रकरणसे पहले दूसरे मंगलाचरणका—आश्वस्तवनका—होना ठहरता है, और इसीकी अधिक संभावना पार्ह जाती है ।

(७) आश्वस्तवीमांसा (वैशाख) की 'आश्वस्तवी' टीका पर कर्तुं सम्पत्तमग्रन विषमपदवत्तत्पर्यटीका ' ग्रामकी एक टिप्पणी लिखी है, जिसकी प्रस्तावनाका प्रथम वाक्य इस प्रकार है —

*) * परंतु किसी ही विद्वान् इस जगहें शिरोर मी रखते हैं जिसका हाक अपने कलकर ग्राह्य होय ।

१ का उपाधचन्द्रने अपनी 'हिस्सरी भाषा इतिहास अंशिक'में अनुसमत् मन्त्रों है सं. १ (१४ वीं १५०)के कर्तव्य विद्वान् किया है । परंतु बिना किसी हेतुके कदाच नह किया ठीक प्रतीय नहीं होता । क्योंकि आश्वस्तवीके अन्तमें केचित् कम्पपर टिप्पणी हैतें हुए, अनुसमत्तमग्र उसमें वसुधन्वि आचार्य और उनकी वैशाखवृत्तिक कलेख करते हैं । वचा— " वसुधन्विआचार्य केचित्कलेख प्राज्ञाः वत्ससिरेष त्वत्त वृत्तान्ते किञ्चित्तोर्न शोच " इत्यादि । और वसुधन्वि आचार्य निम्नकी १२ वीं कटाब्दीके अन्तमें हुए हैं, इसलिये अनुसमत्तमग्र निम्नकी १२ वीं कटाब्दीसे पहले नहीं हुए, वह स्पष्ट है । उपर्युक्त आचार्यआचार्य प्रस्तावनाके छंद १ पर 'विश्व (कर्तु) समन्तमग्रके निदयमें भी कुछ उल्लेख किया गया है उक्त आचार्य रखते हुए है निम्नकी प्रवाः १४ वीं कटाब्दीके विद्वान् ग्राह्य होय हैं और वरि 'माध-वन्दी' माधन्तरको लिखे हुए तथा अमरवीरिंके लिख व हो तो आचार्य आचार्य निम्नकी १२ वीं कटाब्दीके विद्वान् हो सकते हैं ।

“इहं हि लघु पुरा

गणधर-प्रत्येकबुद्ध

तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गणहस्त्यात्म्यं

वर्णतः स्याद्वादविद्यात्रगुरवः

मंगलपुरस्मर

वन्तो देवागमामिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य

इस वाक्य द्वारा, आचार्योंके विशेषणोंको छोड़कर, यह लघु पर सूचित किया गया है कि स्वामी समन्ताभद्रने उमास्वामिके ‘र्याधिगम-मोक्षशास्त्र’ पर ‘गणहस्ति’ नामका एक महामाध्य किया और उसकी रचना करते हुए उन्होंने उसमें परम आत्मेके गुणातिशायन परीक्षाके अवसरपर ‘देवागम’ नामके प्रवचनतीर्थकी सृष्टि की है ।

यद्यपि इस उल्लेखसे गणहस्तिमहामाध्यकी लोकसंख्याका कोई एक मालूम नहीं होता और न यही पाया जाता है कि देवागम (वास्तवी-मांसा) उसका मंगलाचरण है, परंतु यह बात किन्तुल स्पष्ट कहनी होती है कि समन्ताभद्रका गणहस्ति महामाध्य उमास्वामिके ‘तत्त्वार्थपुरा’ पर लिखा गया है और ‘देवागम’ भी उसका एक प्रकरण है । जहाँ तक हम समझते हैं यही इस विषयका पहला स्पष्ट उल्लेख है जो अभीतक उपलब्ध हुआ है । परंतु यह उल्लेख कि

१ यह प्रस्तावनावाक्य मुनिजिनविजयजीने पूनाके ‘मन्दारकर’ टाकी उस प्रब प्रतिपरसे उद्धृत करके मेला वा विज्ञापन संकर १२० है ।

२ “मंगलपुरस्सरस्तबोहि काष्ठावतार-रक्षित-स्तुतिवन्तः ।

मत्सेति मंगलपुरस्सरः साक्षात्तारकंकरतय रक्षितः स्वकी इति व्याख्यायात् ।”

आधरपर अवलम्बित है ऐसा कुछ माध्यम नहीं होता । विष्णुम्हरी ते
राही शताब्दीसे पहलेके जैनसाहित्यमें तो गंधर्वस्तिमहाभाष्यका कोई
नाम भी अभी तक हमारे देखनेमें नहीं आया और न जिस 'अष्टसहस्री'
टीका पर यह टिप्पणी लिखी गई है उसमें ही इस विषयका कोई
स्पष्ट विधान पाया जाता है । अष्टसहस्रीकी प्रस्तुतवनासे सिर्फ इतना
माध्यम होता है कि किसी निःशेषस शास्त्रके आदिमें किये हुए आश्रमके
स्तवनको लेकर उसके आशयका समर्पण या स्वीकृति करनेके लिये—
यह आश्रमीमांसा लिखी गई है * । वह नि शेषसशास्त्र जैनसा आर
उसका वह स्तवन क्या है इस बातकी परीक्षा करना करने पर अष्टसह
स्रीके अन्तिम भागसे इतना पता चलता है कि जिस शास्त्रके आरम्भमें
आश्रम स्तवन मोक्षमार्गप्रणता, कर्मभूमिप्रेक्षा और विश्वतत्त्वानां
ज्ञाता रूपसे किया गया है उसी शास्त्रसे 'नि शेषस शास्त्र' का अ-
निर्वाण है † । इन विशेषणोंको लिये हुए आश्रमके स्तवनका प्रसिद्ध
श्लोक निम्न प्रकार है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं मेचारं कर्मभूमिप्रेक्षाम् ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां बन्धं तद्गुणलम्बये ॥

आश्रमके इस स्तोकको लेकर, अष्टसहस्रीके कर्ता श्रीविद्यानन्दचार्यने
इसपर 'आश्रमपरीक्षा' नामका एक ग्रन्थ लिखा है और स्वयं उसकी

* "तदेवैवं निःशेषसशास्त्रस्यासौ लक्षितव्यवस्थायां मंगलार्चनया च मुनिभि
र्लक्ष्यते च विरचितकालेन यमकालेन शेषोपमार्गमात्मदितमिच्छतां सम्मतिम
प्योपदेष्टार्यविशेषकालिपञ्चमाश्रमीमांसां विद्वद्वाचाः अष्टागुण्यताम्नां प्रयुक्त
मयसः कर्मभूम् इत्यममादिनिश्चित्योऽहं महात्माभिहित इति स्तुतं हृदा इव
स्वामिप्रमत्तयज्ञाचार्यं प्राहुः—

† आश्रमपरीक्षेतुल्यप्रत्यय मोक्षमार्गप्रेक्षायां कर्मभूमिप्रेक्षायां निश्च
तत्त्वानां ज्ञातृत्वा च यमकालेन तत्प्रेक्षायां यमकालेन च यमकालेन
परीक्षेतं विदित्वा ।"

टीका भी की है । इस ग्रंथमें परीक्षाद्वारा अर्हतादेयका ही ज्ञानोंसे विशिष्ट और बंदनीय ठहराते हुए, १२० वें नम्रके पद्यमें, 'संक्षेपतोन्वयः' यह वाक्य दिया है और इसकी टीकामें लिखा

“इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य विधीयमानस्यान्वयः संप्रदायाभ्यवच्छेदलक्षणः क्षणो वा लघ्वणीयः प्रपञ्चतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्स्वामीसमन्तभद्रदेवागमाख्यातमीमांसायां

इस सब कथनसे इतना तो प्राय स्पष्ट हो जाता है कि समन्तभद्रका देवागम नामक आतमीमासा ग्रंथ 'मोक्षमार्गस्व नेतारं' पद्यमें कहे हुए आतके स्वरूपको लेकर लिखा गया है; परंतु यह कब कौनसे निश्रेयस (मोक्ष) शास्त्रका पद्य है और उसका कर्ता कौन है, यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हुई । विद्यानंदाचार्य, आतपरीक्षाको समाप्त करते हुए, इस विषयमें लिखते हैं—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिघेरिद्वरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारभकाले सकलमलमिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानंदैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धये १२३
जहाँ हम सिर्फ इतना पता चलता है कि उक्त तीर्थोपमान स्तोत्र, है जो अभी तक समन्तभद्रने मीमासा और विद्यानंदने परीक्षा की, तत्त्वार्थके प्रोत्थानका—उसे ऊँचा उठाने या बढ़ानेका—

“द्वारा रचा गया है । परन्तु वे शास्त्रकार

मादृम नहीं होता । विद्यानन्दने आत

किया है और उन्हीं

लिखा है परन्तु उनका

नाम नहीं दिया । हो सकता है कि आपका अभिप्राय 'सूत्रकार' से 'उमास्वाति' महाराजका ही हो क्योंकि वह स्थानों पर आपने उमास्वातिके बचनों में सूत्रकारक नामसे उद्धृत किया है परंतु कदा सूत्रकार या शास्त्रकार शब्दों परसे ही—जैसे दानों एक ही अधिक वाचक है—उमास्वातिक नाम नहीं निकलता क्योंकि दूसरे भी स्थितन ही आपका सूत्रकार अथवा शास्त्रकार हो गए हैं; सम्भवतः भी शास्त्रकार थे, और उनके श्रवणमादि ग्रन्थ सूत्रग्रन्थ कहलाते हैं । इससे सिद्ध यह बात अभी निराप्रसक्त बात रही है कि उक्त 'मोक्ष मायस्य नेतारं' नामका सुनिषय उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है । किन्तु ही विद्वान् इस उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानते हैं और बाह्यार्थ, पातञ्जल तथा ध्रुवसागर नामके सिद्धों टीकाकारोंने भी अपनी अपना टीका में ऐसा ही प्रतिपादन किया है । परन्तु दूसरे स्थितन ही विद्वान् ऐसा नहीं मानते, वे इसे तत्त्वार्थसूत्रका प्राचीन टीका समर्थसिद्धि का मंगलाचरण स्वीकार करते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि यदि यह पद्य तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण होता तो सर्वार्थसिद्धि टीकाक कदा धीरूयपादाचार्य इसकी जरूर व्याख्या करते, वरिष्ठ उन्होंने इसका कोई व्याख्या न करके इसे अपनी टीका के मंगलाचरणक तार पर दिया है और इस छिपे यह ध्रुवसागर ही मान्य होता है । सर्वार्थसिद्धि टीकाक में, पं० कदाप्या भ्रमप्या निटवे भी, ध्रुवसागरके कथनका विरोध करते हुए अपना ऐसा ही मत प्रकट करते हैं और साथ ही, एक हेतु यह भी देते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचना हैपापकके

१ देवदामनसूत्रस्य सुत्वाः सङ्घर्षवर्जित —विक्रान्तदीप ।

१ ध्रुवसागरी टीकाकी एक प्रतियें ईसाक नाम दिया है, और बाह्यार्थ सुनिषी टीका में सिद्धय एक नाम कहा जाता है । देखो बनवरी पन् १११ का वैयर्थिपी, पृ ४ ४१ ।

प्रश्नपर हुई है और प्रश्नका उत्तर देते हुए बीचमें अप्रस्तुत जान पड़ता है, दूसरे वस्तुनिर्देशको भी मंगल जिसका उत्तरद्वारा स्वतः विधान हो जाता है और इस स्थितिमें पृथक् रूपसे मंगलाचरणका किया जाना कुछ नहीं होता । भूमिकाके वे वाक्य इस प्रकार हैं—

“ सर्वार्थसिद्धिग्रंथारंभे ‘मोक्षमार्गस्यनेतारमिति’
वर्तते स तु सूत्रकृता भगवदुमास्वातिनैव विरचित इति
गराचार्यस्याभिमतमिति तत्प्रणीतभूतसागर्याख्यवृत्तितः ।
मवगम्यते । तथापि
श्लोकनिर्माणं न सूत्रकृतः किंतु सर्वार्थसिद्धिकृत एवेति
वादम् । तथा एतेषां सूत्राणां द्वैपायक प्रभोपर्युत्तरत्वेन
चनं तैरेवाङ्गीक्रियते तथा च उत्तरे वक्तव्ये मध्ये मंगलस्य
स्तुतत्वाद्बस्तुनिर्देशस्यापि मंगलत्वेनाङ्गीकृतत्वाद्योपरिस्थित
सिद्धान्त एव दार्ढ्यमाप्नोतीत्युक्तं सुधीभिः ॥”

प० वशीधरजी, अष्टसहस्रीके स्वसंपादित संस्करणमें,
परिचय देते हुए, लिखते हैं कि समन्तभद्रने गन्धहस्तिमहाभाष्यकी रचना
करते हुए उसकी आदिमें इस पद्यके द्वारा आप्तका स्तवन किया है और
फिर उसकी परीक्षाके लिये ‘आप्तमीमांसा’ ग्रंथकी रचना की है । यथा—

“ भगवता समन्तभद्रेण गन्धहस्तिमहाभाष्यनामानं तत्त्वा-
र्थोपरि टीकाग्रन्थं चतुरशीतिसहस्रानुद्ध्रमाश्रं विरचयत
तदादौ ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ .. पद्येनाप्तः स्तुतः ।

कुछ विद्वानोंका कहना है कि 'राजवास्तिक' टीकामें लक्ष्मणदेवने इस पद्यको नहीं दिया—इसमें निचे हुए आश्रितके विशेषणोंको चर्चा तक भी नहीं की—और न विद्यामंदने ही अपनी 'श्लोकवार्तिक' टीकामें इसे उद्धृत किया है ये ही सर्वार्थसिद्धिके बावजूद दो प्राचीन टीकारैं उपलब्ध हैं जिसमें यह पद्य नहीं पाया जाता, और इससे यह मान्य होता है कि इन प्राचीन टीकाकारोंने इस पद्यको मूलग्रन्थ (तत्त्वार्थसूत्र) का अंग नहीं माना। अथवा ऐसे महत्त्वशाली पद्यको अनवरत सम्बन्धमें ग्रन्थके उपस्थित करनेकी कोई बजह नहीं थी जिस पर 'आत्ममीमांसा' जैसे महान् ग्रंथोंकी रचना हुई हो।

सनातनधर्मग्रन्थमालाके प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रमें भी जो कि एक प्राचीन गुटक परसे प्रकाशित हुआ है, कोई संग्रहण नहीं है, और भी कर्ण—कन्नरस भाषामें प्रकाशित हुए मूल (तत्त्वार्थसूत्रके किन्तुने ही संस्करणोंमें यह नहीं पाया जाता, अधिकारण इत्यादि स्थित प्रतियोंमें भी यह नहीं देखा जाता और कुछ इत्यादि स्थित प्रतियोंमें यह पद्य 'वैकात्म्यं ब्रह्मचर्यं, 'उत्प्लवणमुज्ज्वलं' इन दोनों अथवा इनमेंसे किसी एक पद्यके साथ उपलब्ध होता है और इससे यह मान्य नहीं होता कि यह मूल ग्रन्थकरीय पद्य है बल्कि दूसरे पद्योंकी तरह ग्रन्थके दुरुक्त संग्रहणधरणके तौरपर संग्रहित किया हुआ जान पड़ता है। साथ ही श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो कुछ तत्त्वार्थसूत्र प्रकाशित है उसमें भी यह अथवा दूसरा कोई संग्रहण नहीं पाया जाता।

ऐसी हालतमें बहुसम्मतमालाके उक्त कथनका अद्वयहस्त्री ग्रन्थ भी कोई स्पष्ट आधार प्रतीत नहीं होता। और यदि यह मान भी लिया जाय कि विद्यामंदने सूत्रकार या टीकाकारसे 'उद्गाथाति का भार

तत्त्वार्थशास्त्रसे उनके 'तत्त्वार्थाधिगममोक्षसाधन' का
 इस लिये उक्त पद्यको तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका मंगलाचरण
 इससे अष्टसहस्री और आप्तपरीक्षाके उक्त वचनोंका सिर्फ
 नतीजा निकलता है कि समन्तभद्रने उमास्वामिके उक्त
 उसपर उसी तरहसे 'आप्तमीमांसा' ग्रंथकी रचना की है
 तरहसे कि विद्यानदने उसपर 'आप्तपरीक्षा' लिखी
 यों कहिये कि जिस प्रकार 'आप्तपरीक्षा'की सृष्टि
 भाष्यको लिखते हुए नहीं की गई और न वह
 कोई अंग है उसी प्रकारकी स्थिति गणहस्ति महाभाष्यके सम्बंधमें
 मीमांसा' की भी हो सकती है, उसमें अष्टसहस्री या
 उक्त वचनोंसे कोई बाधा नहीं आती, * और न उनसे यह
 आता है कि समूचे तत्त्वार्थसूत्रपर महाभाष्यकी रचना करते हुए '.....
 मीमांसा' की सृष्टि की गई है और इस लिये वह उसीका एक अंग है।
 हाँ, यदि किसी तरह पर यह माना जा सके कि 'आप्तपरीक्षा' के
 उक्त १२३ वें पद्यमें 'शास्त्रकार'से समन्तभद्रका अभिप्राय है और इस
 लिये मंगलाचरणका यह पद्य (स्तोत्र) उन्हींका रचा हुआ है तो
 'तत्त्वार्थशास्त्र' का
 पद्यके '.....
 सकता है,

हुए भी उक्त

निकाला

या कहना

१३

यदि ग्रन्थ उस 'तत्त्वानिष्ठ' से किया जाय जा कर्मा कर्मों प्रपक्षी स्वभाव सम्प्रदायिक बतलानेके लिये शुरूमें लिखी जाती है, तो उससे भी उक्त भाष्यमें कोई बाधा नहीं आती; बल्कि 'मध्यम' को 'शास्त्रकार' कहा गया है यह और स्पष्ट हो जाता है क्योंकि मूल तत्त्व-सूत्रमें बैसी कोई तत्त्वानिष्ठ नहीं है वह या तो मंगलाचरणके बाद 'सर्वार्थसिद्धि' में पाई जाती है और या महाभाष्यमें इानी । सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता भी कथित उस 'शास्त्रकार' शब्दके बाध्य हो सकते हैं । यही भाष्यकारको शास्त्रकार कहनेकी बात तो इसमें कोई विरोध मुख्य नहीं होता—तत्त्वार्थशास्त्रका अर्थ होनेसे अब उसका बार्तिक भाष्य या व्याख्यानको भी 'शास्त्र' कहा जाता * है तब उन बार्तिक-भाष्यादिके रचयिता स्वयं शास्त्रकार सिद्ध होते हैं, उसमें कोई आपत्ति नहीं की जा सकती ।

और यदि समाप्ताधिके तत्त्वार्थसूत्रग्रन्थ तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रमय प्रोत्थान होनेसे प्रोत्थान शब्दका बाध्य नहीं उक्त तत्त्वार्थसूत्र ही मान लिये तो फिर उससे पहले 'तत्त्वार्थशास्त्रादुत्पत्तिनिधि' का वह बाध्य नहीं रहेगा, उसका बाध्य कोई प्रथम विशेष न होकर सामान्य रूपसे तत्त्वार्थमहोदधि द्वाराशामयुत या कोई अंग-पूर्व व्यरेगा, और तब अद्वैतहस्ता तथा भाष्यपरिभाषाके कथनोंका वही नतीजा निकलेगा जो ऊपर निकला गया है—गणहस्ता महाभाष्यकी रचनाका कानिभी नतीजा उनसे नहीं निकल सकेगा ।

* कहा कि श्लोकबार्तिकमें विद्यावाक्यार्थके विप्र वाक्योंसे भी प्रसूत है—

“प्रसिद्धे च तत्त्वार्थस्य आकाशे तद्वार्तिकस्य आकाशं विद्यमानं तदर्थवत् ।

.. .. तद्वैत तद्व्याख्यास्य आकाशं विवेचितम् ॥

इसके सिवाय, आत्ममीमांसाके साहित्य अपन प्रकार उक्त पद्यके अनुसरणकी या उसे अपना कोई खास ध्वनि नहीं निकलती उसी प्रकार प्रस्तावना या उत्थानिकासे भी यह माह्रम नहीं होता कि उक्त मंगल पद्य (मोक्षमार्गस्य नेतारमिमादि) को लेकर है, वह इस विषयमें अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनासे कुछ भिन्न पार्श्व और उससे यह स्पष्ट माह्रम होता है कि समस्तभद्र स्वयं सर्वज्ञानकी स्तुति करनेके लिये बैठे हैं—किंसीकी स्तुतिको समर्पण स्पष्टीकरण करनेके लिये नहीं—उन्होंने अपने सर्वज्ञको साक्षात् करके उनसे यह निवेदन किया है कि ' हे माहात्म्यके आधिक्य-कथनको स्तवन कहते हैं और आपका अतीन्द्रिय होनेसे मेरे प्रत्यक्षका विषय नहीं है, इस लिये मैं किछ कर-हसे आपकी स्तुति करूँ ' उत्तरमें भगवान्‌की ओरसे यह कहे गये-पर कि ' हे वत्स, जिस प्रकार दूसरे विद्वान्‌ देवोंके आगमन और आकाशमें गमनादिक हेतुसे मेरे माहात्म्यको समझकर स्तुति करते हैं उस प्रकार तुम क्यों नहीं करते ' समस्तभद्रने फिर कहा कि ' भगवन्‌, इस हेतुप्रयोगसे आप मेरे प्रति महान्‌ नहीं ठहरते—मैं देवोंके आगमन और आकाशमें गमनादिकके कारण आपको पूज्य मानता—क्यों कि यह हेतु व्यभिचारी है, ' और यह कह कर उन्होंने

१ अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनाके जो शब्द पीछे कुटनोटमें उद्धृत किये गये हैं उनसे यह पाया जाता है कि नि भेयससाधकी आदिमें दिये हुए मंगल आत्मका स्तवन निरतिशय गुणोंके द्वारा किया गया है, इसपर मानने बानने समस्तभद्रसे यह पूछा है कि मैं देवतामादिभिभूतिके कारण लिये इस प्रकारके गुणातिशयको सिद्ध करते हुए निःश्रेयस साधने-स्तुति क्यों नहीं की ? उत्तरमें समस्तभद्रने आत्ममीमांसाके प्रथम पद्य

आत्ममीमांसाने प्रथम पण द्वारा उसके व्यभिचारको दिसाया है, आगे भी इसी प्रत्ययके अनेक हेतुप्रयोगों तथा विकल्पोंको उठाकर आपने अपने प्रथम अध्याय रचना की है और उसके द्वारा सभी आत्मिकी सीक्षा कर गयी है । वसुमन्दि-वृत्ति की प्रस्तावनाक व आत्म्य इस प्रकार है—

“ स्वमक्तिसंसारप्रधापूर्वकारित्वतद्धृष्यप्रयोजनवद्गुण
स्त्वं कर्तुंकाम भीमत्समन्तभ्रातार्यं सर्वज्ञं प्रत्यधीकृत्यव-
माचष्ट—इ महारक्त संस्तवो नाम माहात्म्यस्याविनयकथन ।
त्वदीय च माहात्म्यमतीन्द्रिय मम प्रत्यधामोचरं । अतः कथं
मया स्तूयस ॥ अत आह भगवान् ननु मो वत्स यथान्य दवाग
मादिहोर्मम माहात्म्यमवबुध्य स्तव कुर्वन्ति तथा त्वं किमिति
न कुर्वस ॥ अत आह—अस्मादतो न महान् भवान् मां प्रति ।
व्यभिचारित्वादस्य हतो । इति व्यभिचारं दर्शयति—”

इस तरह पण अयुमम-तमद्रक्त उक्त स्पष्ट कथनका प्राचीन साहि
त्यपरस कई समर्थन द्वारा हुआ सादृश नहीं है। बहुत समय है
कि उन्होंने अष्टमहर्षा और आत्मपरीक्षाक उक्त वचनोंपरसे ही परम्परा
कथनक सहास यह नहीं जाना निश्चय हो, और यह भी संभव है कि
किसी दूसरे प्रथमक स्पष्टाङ्गुलके आधारपर जो अभी तक उपलब्ध नहीं
है, व गुरुहस्ति महाभाष्यके नियमों केमा उद्धृत करने अथवा
नवीन निरूपणक निमित्त हुए हो। जेन्ने ही हास्यतामें प्राचीन साहित्य
परस उक्त कथनक समर्थन और यथार्थ निष्पत्ति के सिद्धे विचार अनुसं-
धानकी उत्कृष्ट मापी रहती है इसका श्रिय विद्वानोंके प्रथम फलना
आदि ।

ये ही सब उल्लेख हैं जो अभी तक इस ग्रंथ में हुए हैं । और प्रत्येक उल्लेख परसे जो बात मिलती है उसपर यथाशक्ति ऊपर विचार किया जा चुका है । इन सब उल्लेखोंपरसे इतना जरूर मालूम होता है कि भाष्य नामका कोई ग्रंथ जरूर लिखा गया है, उसे भाष्य भी कहते थे और चाण्डिस 'गंधहस्ति' नामसे भी उल्लेखित होना संभव है । परन्तु वह किस ग्रंथपर लिखा उसके भाष्यसे भिन्न है या अभिन्न—यह अभी सुनिश्चितरूपसे नहीं जा सकता । हाँ, उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर उसके लिखे अधिक सभावना जरूर है परन्तु ऐसी हालतमें, वह अष्टशती वार्तिकके कर्ता अकलंकदेवसे पहले ही नष्ट हो गया जान पड़ता । पिछले लेखकोंके ग्रंथोंमें महाभाष्यके जो कुछ स्पष्ट या उल्लेख मिलते हैं वे स्वयं महाभाष्यको देखकर किये हुए मालूम नहीं होते—बल्कि परंपरा कथनोंके आधारपर या उन प्राचीन ग्रंथोंके उल्लेखोंपरसे किये हुए जान पड़ते हैं जो तक उपलब्ध नहीं हुए । उनमें एक भी ऐसा उल्लेख जिसमें, 'देवागम' जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थके पद्योंको छोड़कर, नामके साथ उसके किसी वाक्यको उद्धृत किया हो । इसके 'देवागम' उक्त महाभाष्यका आदिम मंगलाचरण है यह बात उल्लेखोंसे नहीं पाई जाती । हाँ, वह उसका एक प्रकरण जरूर हो सकता है, परन्तु उसकी रचना 'गंधहस्ति'की रचनाके

१ समन्तभद्रका 'कर्मप्राभृत' सिद्धान्तपर लिखा हुआ भाष्य भी उपलब्ध है । यदि वह सामने होता तो गंधहस्ति महाभाष्यके विशेष निर्णयमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती थी ।

या वह पहले ही रखा जा चुका था और बादमें महाभाष्यमें सम्मिलित किया गया इसका अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका । फिर भी इतना तो स्पष्ट है और इस कहनेमें कोई आपत्ति माझम नहीं होती कि 'देवागम (आप्तमीमांसा)' एक निष्कण्टक ही स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें इतना अधिक प्रसिद्ध रहा है कि महाभाष्यको समस्तभारतीय कृति प्रकट करते हुए भी उसके साथमें कभी कभी देवागमका भी नाम एक पृथक् कृतिके रूपमें देना जरूरी समझा गया है और इस तरह पर 'देवागम' की प्रधानता और स्वतंत्रताको उद्घोषित करनेके साथ साथ यह सूचित किया गया है कि देवागमके परिचयके लिये गणहस्ति महाभाष्यका नन्दोल्लेख पर्याप्त नहीं है—उसके नाम परसे ही देवागमका बोध नहीं होता । साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि यदि 'देवागम' गणहस्ति महाभाष्यका एक प्रकरण है तो युक्त्यनुशासन ग्रंथ भी उसके अनन्तरका एक प्रकरण होना चाहिये क्योंकि युक्त्यनुशासन-टीकाके प्रथम प्रस्तावनाबालम्बारा श्रीविद्यानन्द आचार्य ऐसा सूचित करते हैं कि आप्तमीमांसा-द्वारा आप्तकी परीक्षा हो जानेके अनन्तर यह ग्रंथ रचा गया है और ग्रंथके प्रथम पद्यमें आये हुए 'अर्थ' शब्द

१ टीकाका प्रथम प्रस्तावनाबालम्ब इस प्रकार है—

" श्रीमन्मन्त्रमन्त्रात्मिमिराप्तमीमांसाबालम्बयोग्यबलवत्त्वाद् अथवा सिद्धेय भवत्वा श्रीमत्ताद्वैतान्त्यतीर्णपरमहंसैवेण स्यात्परिचय किं विधीयते यत्कृता इति ते पूजा इव आहुः— ।"

२ युक्त्यनुशासनका प्रथम पद्य इस प्रकार है—

" अर्थो महत्त्वा मुनि कर्तव्यं त्वां कर्तव्यं लुप्तिगोचरम् ।

विधीयतः स्मां यत्तमस्य वीर विधीयतेऽसौक्यस्यप्राप्त्यर्थम् ॥

३ अथ अस्मिन्काके परीक्षावशात्कथमर्थे (—इति विद्यावत् ।)

अर्थ—इस समय—यतीश्वरी समाप्तिके अवसरपर—इस आशयसे—और ब्रह्मज्ञानके—अपनी लुप्तिव निषेध करनेका चाहते हैं—आपकी लुप्ति करवा चाहते हैं ।

परसे भी यह ध्वनि निकलती है कि उसने पहले निश्चि-
 अथवा प्रकरणकी रचना हुई है। ऐसी हालतमें, जब
 'गधहस्ति' कहना कुछ भी अनुचित प्रतीत नहीं
 'देवागम' और 'युक्त्यनुशासन' जैसे
 ग्रन्थरत्न भी प्रकरण हों। नहीं मासूम तब, उस महाभाष्यमें
 ग्रंथरत्नोंका समावेश होगा। उसका छुट हो जाना निःसन्देह।
 समाजका बड़ा ही दुर्भाग्य है।

रही महाभाष्यके मंगलाचरणकी बात, इस विषयमें, यद्यपि,
 कोई निश्चित राय नहीं दी जा सकती, फिर भी 'मोक्षमार्गस्व'
 नामक पद्यके मंगलाचरण होनेकी संभावना जरूर पाई जाती
 साथ ही इस बातकी भी अधिक संभावना है कि वह
 है। परंतु यह भी हो सकता है—यद्यपि उसकी संभावना कम है—
 कि उक्त पद्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण हो और
 देने उसे ही महाभाष्यका आदिम मंगलाचरण स्वीकार किया हो।
 हालतमें उन सब आक्षेपोंके योग्य सम्मानकी जरूरत रहती है जो
 पद्यको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानने पर किये जाते हैं और जिसका
 दिग्दर्शन ऊपर कराया चुका है। हमारी रायमें, इन सब बातोंको ध्यान
 और सबका अच्छा निर्णय प्राप्त करनेके लिये, महाभाष्यके सम्बन्धमें
 प्राचीन जैनसाहित्यको टटोलनेकी अभी और जरूरत जान पड़ती है,
 और वह जरूरत और भी बढ़ जाती है जब हम यह देखते हैं कि
 ऊपर जितने भी उल्लेख मिले हैं वे सब विक्रमकी प्राय. १४
 वीं, १४ वीं और १५ वीं शताब्दियोंके उल्लेख हैं, उनसे पहले

१ देखो उन उल्लेखोंके वे फुटनोट जिनमें उनके कर्ताओंका समय दिया
 हुआ है।

हजार वर्षोंके भीतरका एक भी उल्लेख नहीं है और यह समय इतना लम्बा नहीं हो सकता जिसकी कुछ पर्चा न की जाय बल्कि महा-
माय्यके अस्तित्व प्रचार और उल्लेखकी इस समयमें ही अधिक संमा-
न पाई जाती है और यही उनके लिये ज्यादा उपयुक्त जान पड़ता
है । मत. पहले उल्लेखोंके साथ पिछले उल्लेखोंकी शृंखला और संगति
ठीक मिलानेके लिये इस बातकी खास जरूरत है कि १२ वीं शता-
ब्दीसे ३ वीं शताब्दी तकके प्राचीन जैनसाहित्यको खूब टटका जाय—
उस समयका कोई भी प्रथम अथवा शिष्यात्मक देखनेसे बाकी न रख
जाय—ऐसा होनेपर इन पिछले उल्लेखोंकी शृंखला और संगति ठीक
कैल सकती और तब वे और भी ज्यादा बलवान् हो आयेंगे । साथ ही,
इस ईद-खानसे समस्तमयके दूसरे भी कुछ ऐसे प्रयोग तथा जीवन-
इतिहास पता चलनेकी आशा की जाती है जो इस इतिहासमें निकल
नहीं हो सके और जिनके माध्यम होनेपर समस्तमयके इतिहासका और
भी ज्यादा उद्धार होना संभव है । आशा है पुरातत्वके प्रेमी और सम-
स्तमयके इतिहासका उद्धार करनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वान् जरूर इस
ईदखानेके लिये अच्छा फल करेंगे और इस तरहपर सीधे ही कुछ
विशदप्रसन्न ८-ओंको हल करनेमें समर्थ हो सकेंगे । जो विद्वान् अपने
इस विषय परीक्षण तथा तुलनासे हमें कोई नई बात सुझाएंगे अथवा
इतिहासमें निकल किसी बातपर सुनिश्चित कोई खास प्रकाश डालनेका
का उठाएंगे वे हमारे विशेष धन्यवादके पात्र होंगे और उनकी उस
बातको जगह संस्मरणमें योग्य स्थान दिये जानेका प्रयत्न किया
जायगा ।

इति मद्रम् ।

परधना वि. पण्डितपुर
वैद्यनाथ २ स १९८२ }

सुगन्धकिशोर, मुन्धार ।

गया था कि इन्द्रनन्दिका तब अपने 'श्रुताक्तार' में
 दुराचार्यके बादका विद्वान् बतलाना ठीक नहीं है'
 खसे कितना ही पोषण मिलता है और इन्द्रनन्दिके उक्त
 पृ० १९०) की स्थिति बहुत कुछ संदिग्ध हो जाती
 तुम्बुदुराचार्यको श्रीवर्द्धदेवसे पृथक् व्यक्ति मान लेनेपर,
 लेनेमें अभी तक कोई बाधा मादूम नहीं होती, इन्द्रनन्दिका वह
 एक मतविशेषके तौरपर स्थिर रहता है; और इस लिये इस
 खोज किये जानेकी खास जरूरत है कि वास्तवमें तुम्बुदुराचार्य
 श्रीवर्द्धदेव दोनों एक व्यक्ति थे या अलग अलग ।

विबुध श्रीधरने समन्तभद्रकी सिद्धान्तटीकाके इन्द्रनन्दिके
 (४८ हजार) से भिन्न, ६८ हजार श्लोकपरिमाण बतलाया है—
 ऊपरके उल्लेखसे—'अष्टषष्ठिसहस्रप्रमितां' पदसे—किन्तु कुछ स्पष्ट नहीं है।
 इस विषयमें कुछ कहनेकी जरूरत नहीं ।

(३) विबुध श्रीधरके 'श्रुताक्तार' से एक खास बात
 भी मादूम होती है कि भूतबलि नामा मुनि पहले 'नरबाहन'
 नामके राजा और पुष्पदन्त मुनि उनकी वसुंधरा नगरीके 'सुबुद्धि'
 नामक सेठ थे । मगधदेशके स्वामी अपने मित्रको मुनि हुआ देखकर
 नरबाहनने सेठ सुबुद्धिसहित जिन दीक्षा ली थी । ये ही दोनों
 सेनाचार्यके पास शास्त्रकी व्याख्या सुननेके लिये गये थे, और उठे
 सुन लेनेके बादसे ही इनकी 'भूतबलि' और 'पुष्पदन्त' नामसे
 प्रसिद्धि हुई । भूतबलिनने 'षट्खण्डागम' की रचना की और पुष्पदन्त
 मुनि 'विंशति प्ररूपणा'के कर्ता हुए । यथा—

१ इस प्रसिद्धिसे पहले इन दोनों आचार्योंके दीक्षासमयके क्या नाम थे,
 इस बातकी अभी तक कहींसे भी कोई उपलब्धि नहीं हुई ।

‘अथ भरतक्षेत्रे वामिदक्ष्य वमुधरा नगरी भविष्यति । सत्र
नरवाहनो राजा तस्य सुरूपा राष्ट्री । निप्रमित्र मग
घस्वामिनं मुनीन्त्रं हृष्टा वैराम्यमायनाभावितो नरवाहनोपि
भृष्टिना मुबुदिनाम्ना सह जैनीं दीक्षां धरिष्यति । .. घर
सनमहारकः कतिपयदिननरवाहनमुबुदिनाम्नो पठना-
कर्णनधितनक्रियां कुवतारापाद्वर्तकादक्षीदिने श्रास्त्रं परि
समाप्तिं यास्यति । एकस्य भूता रात्रौ बलिविधिं करिष्यन्ति,
अन्यस्य दन्तचतुष्कं सुन्दरं । भूतबलिप्रभावाद्भूतबलिनामा
नरवाहनो मुनिभविष्यति समदन्तचतुष्टयप्रभावान् सद्बुद्धिः
पुष्पदन्त नामा मुनिभविष्यति । यथा पदत्वण्डागम
रचनाक्षरका भूतबलिभहारकस्तथा पुष्पदन्तोपि विंशतिप्ररु
प्यानां कृतो ।”

इस सब कथनपर कहा विशेष विचार न करके ।।। यहाँपर सिर्फ
इतना ही बताना चाहिये है कि यद्यपि भारतीय प्राचीन इतिहासक
प्रधान ग्रंथों— आर्य विलेयरी और इतिहास आदिमें नरवाहन नाम
क राजा का कोई उल्लेख नहीं मिलता परन्तु गिम्बर सम्प्रदायक ने
प्राचीन ग्रंथों— त्रिकायप्रवृत्ति (त्रिग्रन्थ—पञ्चांग) और हरिवंश-
पुराण (विनसंनहन) में उसका उल्लेख करके पाया जाता है ।
मात्र ही भाग्य हरिवंशपुराणकी धीनगेन्द्रनाथ समुचितित प्रस्तावनासे
यह भी मात्र ही हाता है कि इसका सम्प्रदायक विष्णुगुप्तिय—पञ्चांग
और तीर्थोद्धारप्रदीप नामक ग्रंथोंमें भी नरवाहन नामक राजा का

उल्लेख मिलता है और उसे 'नरसेन' भी लिखा है । दोनों संप्रदायके प्रथोमें नरवाहनका राज्यकाल ४० वर्षका बतलाया है परन्तु उसके आरम्भ तथा समाप्तिके समयोंमें परस्पर कुछ मतभेद है । दिगम्बर प्रथोके अनुसार नरवाहनका राज्यकाल वीरनिर्वाणसे ४४५ (६० + १५५ + ४० + ३० + ६० + १००) वर्षके बाद प्रारम्भ होकर वीर नि० स० ४८५ पर समाप्त होता है, और श्वेताम्बर प्रथोके कथनसे (नगेन्द्रनाथ वसुके उल्लेखानुसार) वह वीरनिर्वाणसे ४१३ (६० + १५५ + १०८ + ३० + ६०) वर्षके बाद प्रारम्भ और वीर नि० स० ४५३ पर समाप्त होता है । इस तरह पर दोनोंमें ३२ वर्षका कुल अन्तर है । परन्तु इस अन्तरको रहने दीजिये और यह देखिये कि, यदि सचमुच ही इसी राजा नरवाहनने भूतबलि मुनि होकर 'षट्खण्डागम' नामक सिद्धान्त-प्रथकी रचना की है और उसका यह समय (दोनोंमेंसे कोई एक) ठीक है तो हमें कहना होगा कि उक्त सिद्धान्त प्रथकी रचना उस वक्त हुई है जब कि एकादशांगश्रुतके—ग्यारह अंगोंके—पाठी महामुनि मौजूद थे* और जिनकी उपस्थितिमें 'कर्मप्राभृत'श्रुतके व्युच्छेदकी कोई आशका नहीं थी । ऐसी हालतमें, उक्त आशकाको लेकर, 'षट्खण्डागम' श्रुतके अवतारकी जो कथा इन्द्रनन्दी आचार्यने अपने 'श्रुतावतार'में लिखी है वह बहुत कुछ कल्पित ठहरती है । उनके कथनानुसार भूतबलि आचार्य वीरनिर्वाण स० ६८३ से भी कितने ही वर्ष बाद हुए हैं और इन दोनों समयोंमें प्राय २०० वर्षका भारी अन्तर है । अतः विबुध श्रीधरके उक्त कथनकी खास तौरपर जाँच होनेकी जरूरत है और विद्वानोंको इस नरवा-

* इन एकादशांगपाठी महामुनियोंका अस्तित्व, त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि प्राचीन ग्रन्थोंके अनुसार, वीरनिर्वाणसे ५६५ वर्षपर्यन्त रहा है ।

इन राजाके अस्तित्वादि विषयके विशेष बातोंका पता चलाना चाहिये । विजयनगरके इस भुवनावतारमें और भी कई बातें ऐसी हैं जो इन्द्र मन्दीके भुवनावतारसे मिल हैं ।

यहोपर हम इतना और भी प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि, 'त्रिलोकप्रहसि' पर लिखे हुए अपने लेखमें वीसुत पं० नाथूरामजी प्रेमीने नरवाहनको 'नहपान' राजा सुचित किया है । परंतु उनका यह सुचित करना किस आधारपर अवलम्बित है उसे जाननेका प्रयत्न करनेपर भी हम अभी तक कुछ मसखम नहीं कर सके और न स्वयं ही दोनोंकी एकताका हमें कोई यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध हो सका है । अस्तु । इसमें सदिह नहीं कि नहपान एक इतिहासप्रसिद्ध क्षत्रप राजा ही गया है और उसके बहुतसे सिक्के भी पाये जाते हैं । किन्सेंट स्मिथ साहबने, अपनी बेंजॉ हिस्टरी ऑफ इंडिया में नहपानको करीब करीब ईसवी सन् १ और ९० के मध्यवर्ती समयका राजा बताया है और पं० किन्सेयर नाथजी 'भारतके प्राचीन राजवंश' में उसे राजाकी प्रथम शताब्दीके पूर्वार्धका राजा प्रकट करते हैं । नहपानके अमाता उपकटाठ (कप-मरुच) का भी एक छेख शक सं० ४२ का मिला है और उससे नहपानके समयपर अच्छा प्रकाश पड़ता है । हो सकता है कि नहपान और नरवाहन दोनों एक ही व्यक्ति हों परन्तु ऐसा माने जानेपर त्रिलोकप्रहसि आदिमें नरवाहनका जो समय दिया है उसे या तो कुछ गलत कहा होगा और या यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'त्रिलोक-

१ देखो बीवहिली नाथ ११ अंक १२ पृष्ठ ५३४ ।

२ देखो पुरातन संस्करण पृ १९ ।

प्रज्ञप्ति ' में शकराजाका नीरनिर्माणसे ४६१ वर्ष बाद होनेका जो प्रधान उल्लेख मिलता है वह प्रायः ठीक है और उसे सभ्यतः शक राजाके राज्यकालकी समाप्तिका समय समझना चाहिये । अस्तु, इन सब बातोंकी जाँच पड़ताल और यथार्थ निर्णयके लिये विशेष अनुसन्धानकी जरूरत है, जिसकी ओर विद्वानोंका प्रयत्न होना चाहिये ।

(४) डा० हर्मन जेम्सोवीने अपने हालके एक लेखमें, * लिखा है कि ' सिद्धसेन दिवाकर ' ईसाकी ७ वीं शताब्दीके विद्वान् थे अथवा उनका यही समय होना चाहिये—क्योंकि वे बौद्धतत्त्ववेत्ता ' धर्मकीर्ति ' के न्यायशास्त्रसे परिचित थे —

" The first Svctambira author of Sanskrit works which have come down to us was Siddhasen Divakara who must be assigned to the 7th century A. D. since he was acquainted with the logics of the Buddhist philosopher Dharmakirti "

डाक्टरसाहवने, यद्यपि, अपने प्रकृत कथनका कोई स्पष्टीकरण नहीं किया परन्तु उनके इस हेतुप्रयोगसे इतना जरूर मात्तम होता है कि उन्होंने सिद्धसेन दिवाकरके ' न्यायावतार ' ग्रन्थकी खास तौरसे जाँच की है और धर्मकीर्तिके ग्रन्थके साथ उसके साहित्यकी भीतरी जाँच परसे ही वे इस नतीजे को पहुँचे हैं । यदि सचमुच ही उनका यह नतीजा

* यह लेख भा० दि० जैन परिषद्के पाक्षिकपत्र ' वीर'के गत ' महावीर जयन्ती अंक ' (न० ११-१२) में प्रकाशित हुआ है ।

१ बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ईसाकी ७ वीं शताब्दीके विद्वान् थे, यह बात पहले (पृ० १२३) जाहिर की जा चुकी है ।

सही है × तो इस कहनेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि सिद्ध-
सेन दिव्यकेशों, विक्रमादित्यकी समाके नव रत्नोंमेंसे 'क्षपणक' नामके विद्वान् मानकर और बराहमिहिरके समकक्षकीन ठहराकर, जो ईसाकी छठी और पौनषी सताष्टीके विद्वान् बतलाया गया है, अथवा

× बमेश्वरिणिके व्यावमिन्दु आदि देवोंके नामने मीनूर व हानेसे हम इस विषयकी कोई भीष नहीं कर सकते । हो सकता है कि व्यावमिन्दुमें प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंके जो कक्ष बने गये हैं वे बमेश्वरिणिके कक्षोंके भी अन्य करके स्थित बने हों । प्रत्यक्ष कक्षयज्ञपोषमन्त्रात् बह प्रत्यक्ष का कक्ष बमेश्वरिणिके स्थित है । व्यावमिन्दुके बीचे पक्षमें प्रत्यक्ष का कक्ष अक्षयदेवकी तरह प्रत्यक्ष विद्यार्थ ज्ञान व इतर जो अपरोक्ष तत्पार्यस्य ब्राह्मण ज्ञानमीदृश प्रत्यक्ष विद्या है और अपने पक्षमें अनुमान का कक्ष बने हुए, सर्वज्ञान प्रमाणस्वात्मसम्बन्ध वाचनके द्वारा (उपे (प्रत्यक्षको) अनुमान विधेयको विधेयित भी सुचित किया है उससे ऐसी जगति उत्पन्न विकसती है अथवा इस बातकी संभावना पाई जाती है कि सिद्धसेनके सामने—उसके कक्षमें—बमेश्वरिणिके कक्ष का कक्ष भी स्थित था और कक्षोंमें अपने कक्षमें ब्राह्मण पक्षके प्रयोगद्वारा प्रत्यक्षको व्यवसायस्यक इन बराहमिहिर, बमेश्वरिणिके कक्षयज्ञपोष विधेयका निरस्य अथवा देवता किया है और, एक ही उनके अनुमान विधेयका प्रत्यक्षपरसे स्वीकार किया है । व्यावमिन्दुके बीचापर भी ब्राह्मण पक्षके द्वारा बीमों (बमेश्वरिणिके) के एक कक्ष का निरस्य होना बतलाते हैं । यथा—

“ ब्राह्मणमिति च निर्णयकं दृष्टम् । निर्णयप्रत्यक्षैर्ब्राह्मण्यब्रह्मात् । तेन मत् तत्काले प्रत्यक्षवि प्रत्यक्ष कक्षयज्ञपोषमन्त्रात्मिकमिति । तद्वशात् मन्त्रि तत्तु सुविशेषात् ।

इसी तरहपर विक्रमादित्यकी किमिहिरमनुमान बह बमेश्वरिणिके अनुमान का कक्ष है । इसमें विक्रमात् पक्षके द्वारा किमिहिर विक्रमात्तु बराहमिहिर अनुमानके साधारण कक्षको एक विधेयका विद्या म्या है । हो सकता है कि इस पर अन्य रखते हुए ही सिद्धसेन अनुमानके 'साध्याविना-



विश्वामित्र पक्षी कल्याणीके विद्वान् कहा जाता है
 है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि महाभारत
 समकालीन 'क्षपणक' नामके कवि कोई विद्वान् हुए हैं
 सेन दिवाकरसे भिन्न दूसरे ही विद्वान् हुए हैं। और इसमें
 कोई संदेह ही नहीं हो सकता कि ईसाकी चौथी कल्याणीके
 श्रीगुरुपद आचार्यने अपने 'जैनेन्द्र' व्याकरणके भिन्न सूत्रों, जिन्हें
 'द्विसेन'का उल्लेख किया है वे अवश्य ही दूसरे सिद्धसेन थे—

वेद्ये: सिद्धसेनस्य ॥ ५-१-७ ॥

आश्चर्य नहीं जो ये दूसरे सिद्धसेन हों जिनका दिगम्बर
 उल्लेख पाया जाता है और जिनका कुछ परिचय पृष्ठ १३
 पर दिया जा चुका है—दिगम्बर ग्रंथोंमें सिद्धसेनका 'सिद्धसेन
 कर' नामसे उल्लेख भी नहीं मिलता;—ऐसी हालतमें इस बातकी
 खोज लगानेकी खास जरूरत होगी कि सिद्धसेनके नामसे
 ग्रंथ इस समय उपलब्ध हैं उनमेंसे कौन ग्रंथ किस सिद्धसेनका
 हुआ है। आशा है डाक्टर महोदय अपने हेतुको स्पष्ट करनेकी
 करेंगे और दूसरे विद्वान् भी इस जरूरी विषयके अनुसन्धानकी
 अपना ध्यान देंगे।

भुनोलिगात्साध्यनिश्चायकमनुमानं' इस कथनका विधान किना हो
 इसमें लिङ्गका 'साध्याविनाभावी' ऐसा एक रूप देकर चयनीयके
 कथन करना ही उन्हें इष्ट रहा हो। कुछ भी हो, इस विषयमें अच्छी
 विना अभी हम निश्चितरूपसे कुछ कहना नहीं चाहते।



श्रीबीतरागाय नमः ।

श्रीसमन्तमद्रस्वामि विरचितो

रत्नकरण्डकश्रावकाचारः ।

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यनिर्मितटीकासंकृत ।

समन्तमद्रं निखिलात्मबोधनं
 धिनं प्रथम्याखिलकर्मबोधनम् ।
 निबन्धन रत्नकरण्डके परं
 करोमि मध्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

श्रीसमन्तमद्रस्वामी रत्नानां रत्नगोपायमूलरत्नकरण्डकप्रकरणं सम्प-
 द्दर्शनादिरत्नानां पाण्ड्यापायमूलं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुं प्रमो-

निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं

वेत्ताह,—

नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने
सालोकानां त्रिलोकानां तद्विधा दर्पणापते

‘नमो’ नमस्कारोऽस्तु । कस्मै ? ‘श्रीवर्धमानाय’
तीर्थकरसमुदायाय वा । कथं ? अथ—सम्पत्त्यष्टं
केवलज्ञानं यस्यासौ वर्धमानः । ‘अवाप्योरुग्रोपः’
श्रिया बहिरंगयाऽन्तरंगया च ॥
वर्धमान श्रीवर्धमान इति व्युत्पत्तेः, तस्मै कथंभूताय ?
‘लात्मने’ निर्धूतं स्फोटितं कलिलं ज्ञानावरणादिरूपे पापमात्मनः
वा मव्यजीवानां येनासौ निर्धूतकलिलात्मा तस्मै । यस्व
ज्ञानलक्षणा किं करोति ? ‘दर्पणापते’ दर्पण
केषां ? ‘त्रिलोकानां’ त्रिभुवनानां । कथंभूतानां ?
‘अलोकाकाशसहितानां । अयमर्थः—यथा दर्पणो
मुखादे प्रकाशकस्तथा सालोकत्रिलोकानां तथाविधानां तद्विधा
शिकेति । अत्र च पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः, उत्तरार्द्धेन
सर्वज्ञतोक्ता ॥ १ ॥

अथ तन्ममस्कारकरणानन्तरं किं कर्तुं कञ्चो

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम् ।

संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ २ ॥

‘देशयामि’ कथयामि । कः ? ‘धर्मः’ । कथंभूतः ? ‘समीचीनं’
धितं तदनुष्ठातृणामिह परलोके चोपकारकं । कथं तं तथा
भवन्त इत्याह ‘कर्मनिबर्हण’ यतो धर्मं संसारदुः

निवर्णो विनाशकस्ततो यथोक्तविशेषविशिष्टः । अमुमेवार्थं व्युत्पत्ति-
श्रेयास्य समर्थ्यमान संसारेत्याद्याह संसारे चतुर्गतिहेतुस्थानि शरी-
रमान्तादीनि तेभ्य 'सत्त्वान्' प्राणिन उद्भूत्य 'यो धरति' स्यापयति ।
॥ १ ॥ 'उत्तमे सुखे' स्वर्गापवर्गादिप्रमथ सुखं स धर्म इत्युच्यते ॥ २ ॥

अथैवंविधधर्मस्वरूपतां तानि प्रतिपाद्यन्त इत्याह—

सर्वदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः ।

यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥

एतिह तत्त्वार्थज्ञानं, ज्ञानं च तत्त्वार्थप्रतिपत्ति इत्थं चारित्रं पाप-
क्रियानिबृत्तिखण्डनं । सन्ति समीचीनानि च तानि दृष्टिज्ञानवृत्तानि च ।
'धर्म' उक्तस्वरूपं । 'विदुः' भवन्ति प्रतिपादयन्ते । के ते ? 'धर्मेश्वरा' रत्न-
त्रयसंज्ञकधर्मस्य ईश्वरा अनुग्रस्तत्वेन प्रतिपादकत्वेन च स्वामिनो विन-
न्यायः । कुतस्तान्मेव धर्मो न पुनर्मिथ्यादर्शनादीन्यपीत्याह—यदीयेत्यादि ।
येषां सर्वदृष्ट्यादीनां सम्बन्धीनि यदीयानि तानि च तानि प्रत्यनीकानि
च प्रतिकूलानि मिथ्यादर्शनादीनि 'भवन्ति' सम्पद्यन्ते । ॥ ३ ॥ 'भवपद्धतिः'
संसारमार्गः । अयमर्थः—यत्त सम्म्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षमूत्रानि मिथ्यादर्श-
नार्थानि संसारमार्गमूत्रानि । अतः सम्म्यग्दर्शनादीनि स्वर्गापवर्गसुख-
साधकत्वाद्दर्मरूपाणि सिद्धयन्तीति ॥ ३ ॥

तत्र सम्म्यग्दर्शनस्वरूपं व्याख्यातुमाह—

भद्धानं परमाशानामाप्तागमतपोभूतम् ।

त्रिभूदापोदमष्टाङ्ग सम्म्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ ४ ॥

सम्म्यग्दर्शनं यमति । किं ? 'भद्धानं' सखि । केयं ? 'आप्तागमत-
पोभूतं' बहुममाणस्वरूपाणां । न येष पद्मस्यसत्तत्त्वनवपदार्थानां भद्धान
नमस्तं गृहीतमित्यादि कर्तव्यं भौगमभद्धानादेव तत्त्वज्ञानसंप्रदायप्रसिद्धेः ।

अवाधितार्थप्रतिपादकमाप्तवचन एवम् । तच्छ्रद्धाने तेषां श्रद्धान् सिद्ध
मेव । किं विशिष्टानां तेषां ? 'परमार्थानां' परमार्थभूतानां न पुनर्त्रिद्विमत
इव कल्पितानां । कथंभूत श्रद्धान् ? 'अस्मय' न विद्यते वक्ष्यमाणो ज्ञान-
दर्पाद्यष्टप्रकार स्मयो गर्वो यस्य तत् । पुनरपि किञ्चिद्विष्ट ? 'त्रिमूढापोट'
त्रिभिर्मूढैर्वक्ष्यमाणलक्षणैरपोढ रहितं यत् । 'अष्टाग' अष्टौ वक्ष्यमाणानि
नि शक्त्यादीन्यंगानि स्वरूपाणि यस्य ॥ ४ ॥

तत्र सदृशनिविपयतयोक्तस्याप्तस्य स्वरूपं व्याचिख्यासुराह,—

आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।

भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥ ५ ॥

'आप्तेन' भवितव्यं, 'नियोगेन' निश्चयेन नियमेन वा । किञ्चिद्विष्टेन ?
'उत्सन्नदोषेण' नष्टदोषेण । तथा 'सर्वज्ञेन' सर्वत्र विषयेऽशेषविशेषत
परिस्फुटपरिज्ञानवता नियोगेन भवितव्यं । तथा 'आगमेशिना' भव्यजनानां
हेयोपादेयतत्त्वप्रतिपत्तिहेतुभूतागमप्रतिपादकेन नियमेन भवितव्यं । कुत
एतदित्याह—'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' 'हि' यस्मात् अन्यथा उक्तविपरी-
तप्रकारेण, आप्तता न भवेत् ॥ ५ ॥

अथ के पुनस्ते दोषा ये तत्रोत्सन्ना इत्याशक्याह,—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः ।

न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ ६ ॥

क्षुच्च वुभुक्षा । पिपासा च तृषा । जरा च वृद्धत्व । आतङ्कश्च
व्याधिः । जन्म च कर्मवशाच्चतुर्गतिपूत्पत्तिः । अन्तकश्च मृत्युः । भय
चेहपरलोकात्राणागुप्तिमरणवेदनाऽऽकस्मिकलक्षणः । स्मयश्च जातिकुला-

१ न विद्यते स्मया वक्ष्यमाणा यत्र इत्यादि पाठ ख पुस्तके । २ कथंभूत
ख । ३ 'च्छि' पाठान्तरं । ४ नियोगेन, ख, ग ।

विदर्पः । एतदेवमोहा प्रसिद्धा । अथवाचिन्तारतिनिवृत्तिरस्मिन्मर्दस्वे-
दखेदा गृह्यन्ते । एतेऽष्टादशदोषा यस्य न सन्ति स आप्तः 'प्रकीर्त्यते'
प्रतिपाद्यते । ननु चाप्तस्य भवत् क्षुत्, क्षुदभावे आहारदौ प्रकृत्यभावा-
देहस्थितिर्नस्यात् । अस्ति चासौ, तस्मादाहारसिद्धिः । तथा हि । भगवतो
देहस्थितिराहारपूर्विका देहस्थितित्वात्तस्माददिदेहस्थितिर्न । जैनेनोच्यते—
अत्र किमाहारमात्रं साध्यते क्वचाहृतो वा । प्रथमपक्षे सिद्धसाधनस्य
आप्तयोगकेवलिन आहारिणो जीवा इत्यङ्गमाप्त्युपगमात् । द्वितीयपक्षे
तु देवदेहस्थित्या व्यभिचारः । दवामां सर्वदा क्वचाहृतभावेऽप्यस्याः
सम्भवात् । अथ मानसाहारास्तेषां तत्रस्थितिर्तर्हि केवळिना कर्मनोकर्माहा-
रत् सत्तु । अथ मनुष्यदेहस्थितित्वात्तस्मादित्यत्र तत्पूर्विका इत्येते
तर्हि तदेव तदेव सर्वदा निःस्वेदत्वाजभावः स्यात् । अस्मादावनुप-
व्यस्यापि तदतिशयस्य तत्र संभवे भुक्त्यभावकक्षणाऽप्यतिशय किं न
स्यात् । किं च अस्मादौ दृष्टस्य धर्मस्य भगवति सम्प्रसाधने तज्ज्ञान
स्येन्द्रियजनितरूपसंग (स्यात्) तथा हि भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वात्
अस्मादिज्ञानवत् । अतो भगवत केवलज्ञानकक्षणातीन्द्रियज्ञानासम्भवात्
सर्वज्ञत्वाय दतो जलज्जलि । ज्ञानत्वाविशेषेऽपि तज्ज्ञानस्पर्शीन्द्रियत्वे
देहस्थितित्वाविशेषेऽपि तदेहस्थितेरकक्वाहृतपूर्वकत्वं किं न स्यात् ।
वेदमीपसङ्गावाप्तस्य भुम्भोरपतेर्मोचनादौ प्रकृतिरित्युक्तिरनुपपन्ना

१ अस्मत्त्वान्ते 'विपाद' इति पाठः ख घ । २ जैनेनोच्यते ख—पुस्तके नास्ति ।

३ भोक्त्र कम्महारो क्वचहारो न केप्यमाहारो ।

भोक्त्र मनो मे न कम्मसो आहारो क्वचिदौ वेसो ॥

भोक्त्रमस्तिवदरे कम्मं चारेव यावतो जमरे ।

क्वचहारो नरस्तु भोक्त्रो पक्वलीन ॥

विम्वहमावप्य केवळिणो सम्मुहवो अयोपी य ।

सिद्धा य क्वचाहृतो वेद्या आहारिणो जीवा ॥

४ तर्हि इति ख घ पुस्तकयो नास्ति ।

मोहनीयकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात् । भोक्तुमिच्छा
 बुभुक्षा सा मोहनीयकर्मकार्यत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात् ? अन्यथा
 रिरसाया अपि तत्र प्रसगात् कमनीयकामिन्यादिसेवाप्रसक्तेरीश्वरादेस्तस्या-
 विशेषाद्वीतरागता न स्यात् । विपक्षभावननावशाद्रागादीना हान्यतिशयदर्श-
 नात् केवलानि तत्परमप्रकर्षप्रसिद्धेर्वीतरागतासभवे भोजनाभावपरमप्रक-
 र्णोऽपि तत्र किं न स्यात् तद्भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्श-
 नाविशेषात् । तथा हि—एकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुक्ते, कदात
 विपक्षभावनावशात् स एव पुनरेकवारं भुक्ते । कश्चित् पुनरेकदिनाद्यन्त-
 रितभोजन, अन्य पुन पक्षमाससवत्सराद्यन्तरितभोजन इति । किं
 च—बुभुक्षापीडानिवृत्तिर्भोजनरसास्वादनाद्वेत् तदा स्वादन चास्य रसने-
 न्द्रियात् केवलज्ञानाद्वा ? रसनेन्द्रियाच्चेत् मतिज्ञानप्रसगात् केवलज्ञाना-
 भावः स्यात् । केवलज्ञानाच्चेत् किं भोजनेन ? दूरस्थस्यापि त्रैलोक्योदरव-
 र्तिनो रसस्य परिस्फुटतेनानुभवसभवात् । कथं चास्य केवलज्ञानसम्भवो
 भुजानस्य श्रेणीत पतितत्वेन प्रमत्तगुणस्थानवर्तित्वात् । अप्रेमत्तो हि
 साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नार्हन्भुजानोऽपीति महच्चित्र ।
 अस्तु तावज्ज्ञानसम्भवः तथाप्यसौ केवलज्ञानेन पिशिताद्यशुद्धद्रव्याणि
 पश्यन् कथं भुजीत अन्तरायप्रसगात् । गृहस्था अप्यल्पसत्त्वानि
 पश्यन्तोऽन्तरायं कुर्वन्ति किं पुनर्भगवाननन्तवीर्यस्तत्र कुर्यात् । तदकरणे
 वा तस्य तेभ्योऽपि हीनसत्त्वप्रसगात् । क्षुत्पीडासभवे चास्य कथमनन्त-
 सौख्यं स्यात् यतोऽनन्तचतुष्टयस्वामितास्य । न हि सान्तरायस्यानन्तता
 युक्ता ज्ञानवत् । न च बुभुक्षा पीडैव न भवतीत्यभिधातव्यं “क्षुधासमा
 नास्ति शरीरवेदना ” इत्यभिधानात् । तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्त-
 ण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चत प्ररूपणात् ॥ ६ ॥

अथोक्तदोषैर्विवर्जितस्याप्तस्य वाचिका नाममाला प्ररूपयन्नाह,—

१ अप्रेमत्तोऽपि ख । २ सत्त्वानि ख ग । ३ हीनत्व ख ।

परमेष्ठी परंभ्योतिर्विरागो विमलः कृती ।

सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्त्रोपलभ्यते ॥ ७ ॥

परमे इन्द्रादीनां बन्धे पदे तिष्ठतीति 'परमेष्ठी' । परं निराकरणं परमातिशयप्राप्तं ज्योतिर्ज्ञानं यस्यासौ । 'विरागो' विगतो रगो भावकर्मस्य । 'विमलो' विनश्योमलो ब्रह्मरूपो मूलोत्तरकर्मप्रकृतिप्रपञ्चो यस्य । 'कृती' निश्चेरहेयोपादेयतत्त्वे विवेकसम्पन्नः । 'सार्वः' यथावमिद्विद्वत्सर्वसाक्षात्कारी । 'अनादिमध्यान्तः' उक्तस्वरूपाप्तप्रवाहपेक्षया आदिमध्यान्तशून्यः । 'सार्वः' इहपरलोकपक्षरक्तमार्गप्रवर्धकत्वेन सर्वभ्योऽस्ति । 'शास्त्रा' पूर्वापरविरोधादिदोषपरिहारेणाधिकार्यानां यथावत्स्वरूपोपदेशकः । एतैः शब्दैस्तत्स्वरूपं भातं 'उपलभ्यते' प्रतिपाद्यते ॥७॥

सम्पत्स्वर्गनिषिध्यमृतातत्स्वरूपमभिधायेदानीं तद्विषयभूतानामतत्स्वरूपमभिधातुमाह—

अनात्मार्थं विना रागैः शास्त्रा शास्ति सतो हितम् ।

ध्वनन् शिष्यिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ ८ ॥

'शास्त्रा' ज्ञेयम् । 'शास्ति' शिक्षयति । अन् ? 'सत' आद्यपर्यन्तस्थितत्वेन समीचीनान् भव्यान् । किं शास्ति ? 'हितं' स्वर्गाद्विस्तृप्त्यर्थं च सम्पददर्शनादिकं । किमात्मनः किञ्चित् फलमभिधायमसीं शास्तीत्याह—'अनात्मार्थं' न विद्यते अत्रपमोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् शासनकर्मणि परापक्षसार्थमेवासीं तान् शास्ति । 'परोपक्षप्रत्य' सत्तं हि श्रेष्ठं इत्याभिधानात् । स तथा शास्तीत्येतत् कुतोऽवगतमित्याह—'विना रागैः' यतो कामरूपाख्यात्ममिहापक्षप्रणपरैः रागैर्मिना शास्ति ततो नात्मार्थं शास्तीत्यवसीयते । नस्त्येवार्थस्य समर्थनार्थमाह—ध्वनन् शिष्यिकरस्पर्शान्मुरजो मर्दको ध्वनन् किमा-

तार्थे किमिदमेवो न सांप्रतन । जयनने—यथा मुरज पथेपकारार्थे
विचित्रान् शब्दान् तथेति तथा सर्वज्ञाप्रणयनमिति ॥ ८ ॥

कीदृश तच्छब्दार्थ यत्नेन प्रणीतमित्याह—

आप्तोपपन्नमनुद्यमदृष्टेशिरोधकम् ।

तत्तपोपदेशकृत्तार्थं शास्त्रं कापथ्यवहनम् ॥ ९ ॥

‘आप्तोपपन्न’ सर्वत्रस्य प्रयोजकम् । अनुद्यमं यस्मान्नदाप्तोपपन्न
तस्मादिन्द्रादीनामनुद्यममात्म्यम् । कृत्तार्थं तदुपपत्त्येन तेषामनुद्यम
यत । ‘अदृष्टेशिरोधकम्’—दृष्ट प्रत्यक्ष, इष्टमनुमानादि, न विद्यते दृष्टे-
ष्टाभ्यां शिरोधो यस्य । तथापिधमपि कुतस्तत्तिद्वयमित्याह—‘तत्तपोपदेश-
कृत्’ यतस्तस्य नक्षत्रिधस्य जीगदिप्रस्तुतो यथाप्रस्थितम्वगन्तस्य वा
उपदेशकृत् यथाप्रतिदेशकं ततो दृष्टेशिरोधकम् । एवमपिधमपि कस्माद-
गतं यत ‘सां’ सर्वत्र-यो द्वित सांमुच्यते तत्कथं यथाप्रस्तस्वरूप-
प्ररूपणमन्तरेण घटेत । एतदप्यस्य कुतो निश्चितमित्याह—‘कापथ्यवहनम्’
यत कापथ्यस्य कुत्तितमार्गस्य मिथ्यादर्शनादर्धवहनं निराकारकं सर्वज्ञ-
प्रणीतं शास्त्रं ततस्तत्सारमिति ॥ ९ ॥

अथेदानीं श्रद्धानगोचरस्य तपोभूत स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।

ज्ञानध्यानतपोरत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥

विषयेषु सग्वनितादिष्व्यागा आकांक्षा तस्या वशमधीनता । तदतीतो
विषयाकाक्षरहितः । ‘निरारम्भः’ परित्यक्तकृप्यादिव्यापारः । ‘अप-
रिग्रहो’ बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः । ‘ज्ञानध्यानतपोरत्नः’ ज्ञानध्यान-

१ सिद्धसेन—दिवाकरस्य न्यायावतारेपि नवम एवायं श्लोकः । २ तस्मादितर-
वादिना ख । ३ प्रतिपादक ख । ४ राकरणकारण ख । ५ ‘ज्ञानध्यानतपोरत्नः’
इत्यपि प्रसिद्धम् ।

तपांस्तेष्व रत्नानि यस्य एतद्गुणविशिष्टा य स सपत्नी गुह्य 'प्रशस्यते'
स्मर्यते ॥ १० ॥

इदानीमुक्तकक्षणेबागमगुरुबधिययस्य सम्यग्दर्शनस्य निगर्श
नितत्वगुणस्वरूपं प्रकथयन्नाह—

इदमेवेष्टमेव सुखं नान्यच्च चान्यथा ।

इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया बधिः ॥ ११ ॥

अत्र 'सम्यग्दर्शनं । असंशया' नि शक्तिवत्त्वधर्मोपेता । किं

विशिष्टं सती ? 'अकम्पा' निश्चया । किं च ? 'आयसाम्भोवत्' अपसि
भवमायत्तं तच्च तद्वन्मध्य पानीयं तदिदं तद्वत् सद्भादिगतपानीयवदि
त्यर्थः । क साकन्तेत्याह— सम्भारो 'संसारसमुद्रोत्तरणार्थं सन्निर्मुच्यते
अन्वभ्यत इति सम्भारो आस्तागमगुरुप्रवाहस्तस्मिन् । केनोष्ठेकेनेत्याह—
'इदमेवेत्यादि इदमेवाप्तागमत्पस्त्रिकक्षणं तत्त्वं । ईदृशमेव' उक्त
प्रकारेणैव क्लृप्तेन छक्षितं । 'नान्यत्' एतस्माद्विभं न । 'न चान्यथा'
उक्तकक्षणादभ्यया परपरिकल्पितकक्षणेन छक्षितं, 'न च' नैव तद्वद्वदे
इत्येवमुक्तं ॥ ११ ॥

इदानीं निष्कर्षितत्वगुणं सम्यग्दर्शने वर्णयन्नाह—

कर्मपरवशे भान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।

पापबीजे सुखेऽनास्था भद्रानाकाङ्क्षणा स्मृता ॥ १२ ॥

अनाकाङ्क्षणा स्मृता निष्कर्षितव्यं निश्चितं । कास्तौ ? 'अद्या' ।

कर्मभूता ? अनास्था न विद्यते आस्था धात्वन्तबुद्धिर्यस्या । न आस्था
अनास्था । तस्यां तया वा अद्या अनास्थाअद्या सा चात्यनाकाङ्क्षणेति
स्मृता । क अनास्थाऽशब्धिः ? सुखे वैपयिके । कर्मभूते ? कर्मपर
वशे कर्मापत्ते । तथा सान्तं 'अन्तेन विनाशेन सह वर्तमाने । तथा
दुःखैरन्तरितोदये दुःखैर्मनसशासीरेत्यन्तरित उदय प्रादुर्भाषो यस्य ।
तथा 'पापबीजे' पापोत्पत्तिकारणे ॥ १२ ॥

त्मार्यं किञ्चिदपेक्षते नैवापेक्षते । अयमर्थ — यथा मुरज, परोपकारार्थमेव विचित्रान् गब्दान् करोति तथा सर्वज्ञ शास्त्रप्रणयनमिति ॥ ८ ॥

कीदृशं तच्छास्त्रं यत्तेन प्रणीतमित्याह,—

आप्तोपज्ञमनुलुब्धमदृष्टविरोधकम् ।

तत्त्वोपदेशकृत्सर्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ ९ ॥

‘आप्तोपज्ञ’ सर्वज्ञस्य प्रथमोक्तिः । अनुलुब्धं यस्मात्तदाप्तोपज्ञं तस्मादिन्द्रादीनामनुलुब्धमादेयं । कस्मात् ? तदुपज्ञत्वेन तेषामनुलुब्धं यत् । ‘अदृष्टविरोधक’—दृष्टं प्रत्यक्षं, इष्टमनुमानादि, न विद्यते दृष्टेष्टान्या विरोधो यस्य । तथाविधमपि कुतस्तत्सिद्धमित्याह—‘तत्त्वोपदेशकृत्’ यतस्तस्य सप्तविधस्य जीवादिवस्तुनो यथावत्स्थितस्वरूपस्य वा उपदेशकृत् यथावत्प्रतिदेशकं ततो दृष्टेष्टविरोधकं । एवविधमपि कस्मादवगतं ? यत् ‘सर्वं’ सर्वेभ्यो हितं सर्वमुच्यते तत्कथं यथावत्तत्स्वरूपप्ररूपणमन्तरेण घटेत् । एतदप्यस्य कुतो निश्चितमित्याह—‘कापथघट्टन’ यत् कापथस्य कुत्सितमार्गस्य मिथ्यादर्शनादेर्घट्टनं निराकारकं सर्वज्ञप्रणीतं शास्त्रं ततस्तत्सर्वमिति ॥ ९ ॥

अथेदानीं श्रद्धानगोचरस्य तपोभूतं स्वरूपं प्ररूपयन्नाह,—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।

ज्ञानध्यानतपोरत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥

विषयेषु स्वग्वानितादिष्वाशा आकाक्षा तस्या वशमधीनता । तदतीतो विषयाकाक्षारहितः । ‘निरारम्भ’ परित्यक्तकृष्यादिव्यापारः । ‘अपरिग्रहो’ बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः । ‘ज्ञानध्यानतपोरत्न’ ज्ञानध्यान-

१ सिद्धसेन—दिवाकरस्य न्यायावतारेपि नवम एवायं श्लोकः । २ तस्मादितरवादिना ख । ३ प्रतिपादक ख । ४ राकरणकारण ख । ५ ‘ज्ञानध्यानतपोरत्न’ इत्यपि प्रसिद्धम् ।

निराकुर्वन्ति प्रच्छादयन्तीत्यर्थः ।
 किं ? 'वाप्यतो' दोषः । कस्य ? 'मार्गस्य' रत्नत्रयलक्षणस्य । किं
 ? 'स्वये शुद्धस्य' स्वभावतो निर्मलस्य । कथं भूत्वा ? 'वामशक्त-
 'वामयो' बाधोऽहं, अशक्तो ज्ञातृनुगुणोऽसमर्थः स वासी जनश्च स
 'असमर्थो' यस्याः । असमर्थः — हिताहितविवेकविकलं ज्ञातृनुगुणोऽसमर्थ-
 'जनमभिस्वामतस्य' रत्नत्रये लक्षति वा दोषस्य यत् प्रच्छादनं तदुपगृह-
 'नमिति ॥ १५ ॥

अथ स्थितीकरणगुणं सम्पन्द्दर्शनस्य दर्शयन्त्याह—

दर्शनावरणाद्यापि चतुर्ता धर्मवत्सत्ते ।

प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥ १६ ॥

'स्थितीकरणं' अस्थितस्य दर्शनादेर्भक्षितस्य स्थितं करणं स्थितीकर-
 'णमुच्यते । के ? प्राज्ञैस्त्वन्निबध्ने । किं कत् ? 'प्रत्यवस्थापनं' दर्शनादौ
 'पूर्ववत् पुनरप्यवस्थापनं । केय ? 'वच्छा' । कस्मात् ? दर्शनावरणाद्यापि ।
 'कैस्तेषां प्रत्यवस्थापनं ? 'धर्मवत्सत्ते' धर्मवत्सत्स्युक्तैः ॥ १६ ॥

अथ वात्सल्यगुणस्वरूपं दर्शयन्त्याह—

स्वयूष्यान्प्रति सज्जावसनाभापेतकैतवा ।

प्रतिपत्तिर्बन्धयोग्यं वात्सल्यममिष्यते ॥ १७ ॥

वात्सल्यं ? सधर्मिणि स्नेहः । अमिष्यते प्रतिपाद्यते ।
 'कस्मात् ? प्रतिपत्तिः ? पूनाप्रसंसादिरूपा । कथं ? 'यथायोग्यं',
 'योम्यान्निबध्नेण' अङ्गविकरणाभिमुखगमनप्रसंसावचनोपकरणसम्प्रदाना-
 'दिच्छाणा । कान् प्रति ? 'स्वयूष्यान्' जैनान् प्रति । कथं भूत्वा ?
 'सज्जावसमाधा' सज्जावसनावकृतया सद्विद्या चित्तवृत्तिर्निर्लेप्य । अतः
 'एव' 'अपेतकैतवा' अपेयं विनष्टं कैतवं माया यस्याः ॥ १७ ॥

सम्प्रति निर्विचिकित्सागुण सम्यग्दर्शनस्य प्ररूपयन्नाह,—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।

निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥ १३ ॥

‘ निर्विचिकित्सता मता ’ अभ्युपगता । कासौ ? ‘ निर्जुगुप्सा ’ विचिकित्साभाव । क ? काये । किंविशिष्टे ? ‘ स्वभावतोऽशुचौ ’ स्वरूपेणापवित्रिते । इत्यभूतेऽपि काये ‘ रत्नत्रयपवित्रिते ’ रत्नत्रयेण पवित्रिते पूज्यता नीते । कुतस्तथाभूते निर्जुगुप्सा भवतीत्याह—‘ गुण-प्रीति ’ यतो गुणेन रत्नत्रयाधारभूतमुक्तिसाधकलक्षणेन प्रीतिर्मनुष्यशरीरमेवेद मोक्षसाधकं नान्यद्देवादिशरीरमित्यनुराग । ततस्तत्र निर्जुगुप्सेति ॥ १३ ॥

अधुना सदृशनस्यामूढदृष्टित्वगुण प्रकाशयन्नाह,—

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतितः ।

असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥ १४ ॥

अमूढा दृष्टिरमूढत्वगुणविशिष्ट सम्यग्दर्शन । का ? ‘ असम्मतितः ’ न विद्यते मनसा सम्मति श्रेय साधनतया सम्मनन यत्र दृष्टौ । क ? ‘ कापथे ’ कुत्सितमार्गे मिथ्यादर्शनादौ । कथंभूते ? ‘ पथि ’ मार्गे । केषा ? ‘ दुःखानां ’ । न केवल तत्रैवासम्मतिरपि तु ‘ कापथस्थेऽपि ’ मिथ्यादर्शनाद्याधारेऽपि जीवे । तथा ‘ असंपृक्ति ’ न विद्यते सम्पृक्ति कायेन नख-च्छोटिकादिना प्रशसा यत्र । ‘ अनुत्कीर्ति ’ न विद्यते उत्कीर्तिरुत्कीर्तनं वाचा सस्तवनं यत्र । मनोवाक्कायैर्मिथ्यादर्शनादीना तद्वता चाप्रशसा-करणममूढ सम्यग्दर्शनमित्यर्थ ॥ १४ ॥

अथोपगूहनगुण तस्य प्रतिपादयन्नाह,—

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् ।

वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥ १५ ॥

विष्णुश्च विष्णुमुमातो वज्रनामा च वज्रमुमात्, दोषयावत्सत्यप्रभावनयो
र्हस्यत्वं गतो मतो । गता इति बहुवचननिर्देशो दृष्टान्तमृतोत्तमभ्याक्ति-
बहुत्वापेक्षया ।

तत्र निरांकितस्यैव दृष्टान्ततां यतोऽस्य कथा ।

यथा धन्वतरि विम्वजोमौ मुकृतकर्मवशात्मितप्रभविष्णुप्रभेदौ संजातो
ऽप्योन्यस्य धर्मपरीक्षणार्थमप्रायातौ । ततो यमदमिस्ताभ्यां तपसश्चा-
क्रेत । मैगवतेन राजगृहन्मर विनदत्तधेष्टी कृतोपशस कृष्णचतुर्द-
श्यां रात्रौ स्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितो दृष्ट । ततोऽमितप्रभदेवेनोक्त दूरे
वेष्टेष्टु मदीया मुनयोऽमु गृहस्थं प्यानावास्येति ततो निष्पुट्यमददे-
नानकथा कृतापसर्गोपि न चक्षितो प्यानात् । तत प्रभात मायामुपसं-
हस्य प्रसृत्य चक्षुःशामिनीं विद्यां दत्ता । तस्मै कथितं च तत्रयं सिद्धाऽ-
प्यस्य च पञ्चनमस्काराचनाराधनविनिना सेत्स्यताति । सामदत्तपुण्यबहु-
कल वैकुण्ठा विनदत्तधेष्टी पृष्ट क भवान् प्राप्तेरवैश्याय ब्रवीतीति ।
तेनोक्तमहस्मिन्प्राप्त्यवसर्गनाभक्तिं कस्यु ब्रवामि । ममेत्यं विद्याकाश-
संजात इति कथितं तेनोक्तं मम विद्यां देहि येन स्वया सह पुण्यादिकं
गृहीत्वा वन्ताभक्तिं करोमीति । तत श्रेष्ठिना तस्योपदेशो दत्त । तेन
च कृष्णचतुर्दश्या स्मशाने बटवृक्षपूर्वशाखापत्रमधोत्तरावपानं दर्भशिरस्यं
मन्त्रमिवा तस्य तच्छे तीक्ष्णसर्षपाख्याभ्यूर्ध्वमुखाणि धुर्या गंधपुष्पा-
दिकं तस्या शिष्यमभ्यं प्रविश्य पटोपवासनं पञ्चनमस्कारानुचार्यं सूरिक-
पेक्षकं पादं छिद्यताऽथो जाग्रत्यमानप्रहरणसमूहमाशोकस्य भीतन तन-
संविधितं यदि द्यष्टिमी वचनमसत्यं भवति तदा मरणं भवतीति शक्ति-

अथ प्रभावनागुणस्वरूप दर्शनस्य निरूपयन्नाहः—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथाययम् ।

जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥ १८ ॥

‘प्रभावना’ स्यात् । कासौ ? ‘जिनशासनमाहात्म्यप्रकाश’ । * जिन-
शासनस्य माहात्म्यप्रकाशस्तु * तपोज्ञानाद्यतिगयप्रकटीकरण । कथं ?
‘यथायय’ स्तपनदानपूजाविधानतपोमन्त्रतत्रादिविषये आत्मशक्त्यनति-
क्रमेण । किं कृत्वा ? ‘अपाकृत्य’ निराकृत्य । का ? ‘अज्ञानतिमिर-
व्याप्ति’ * जिनमतात्परेषा यत्स्तपनदानादिविषयेऽज्ञानमेव तिमिरमन्धकार
तस्य व्याप्ति * प्रसरम् ॥ १८ ॥

इदानीमुक्तानि शकितत्वाद्यष्टागाना मध्ये क केन गुणेन प्रधानतया
प्रकाशित इति प्रदर्शयन् श्लोकद्वयमाह,—

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमतिः स्मृता ।

उद्वायनस्त्वृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥ १९ ॥

ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिपेणस्ततः परः ।

विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गताः ॥ २० ॥

तावच्छब्द क्रमवाची, सम्यग्दर्शनस्य हि नि शकितत्वादीन्यष्टागान्यु
क्तानि तेषु मध्ये प्रथमे नि शकितत्वेऽगस्वरूपे तावलक्ष्यता दृष्टान्तता गतो
ऽञ्जनचोर स्मृतो निश्चित । द्वितीयेऽगे निष्काशितत्वे ततोऽञ्जनचोरादन्या
नन्तमतिर्लक्ष्यता गता मता । तृतीयेऽगे निर्विचिकित्सत्वे उद्वायनो लक्ष्यत
गतो मत । तुरीये चतुर्थेऽङ्गे अमूढदृष्टित्वे रेवती लक्ष्यता गता मता ॥
ततस्तेभ्यश्चतुर्थेऽन्यो जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठी उपगूहने लक्ष्यता गतो मत ।
ततो जिनेन्द्रभक्तात् परो वारिपेण स्थितीकरणे लक्ष्यता गतो मतः ।

संक्षिप्य भार्या गृहे भूत्वा शीघ्रमागत्य विस्मयती तेन सा नीत्वा ।
 आच्छाद्ये गच्छता भार्या बद्धा भीतेन पर्णस्रपुविद्या समर्प्य महाठम्या
 मुक्त्य । तत्र च त्वं स्वन्तीमात्रेण्य भीमनाम्ना मिश्ररात्रेण निनपस्ति-
 क्ष्या नीत्वा प्रधानराष्ट्रीपदं तत्र दद्यामिमाभिच्छेति भाषित्वा रागबन्धि-
 ष्टी भोक्तुमारम्भा । इतमाहस्म्येन वन्देवत्तया तस्य चाटनापुपसर्ग-
 कृत । देवता क्षाचिदियमिति भीतेन तेनत्वसिक्तसार्यपुष्पकन्याः ।
 साधवाहस्य समर्पिता । सार्यवाहो ज्येष्ठे दर्शयित्वा परिणेतुकामा न
 तया बान्धित । तेन चानीयायोभ्यासा कामधन्यकुट्टिन्या समर्पिता,
 कस्यपि वेद्या न जात्या । तत्तस्या सिद्धयस्य रात्रौ दर्शिता
 तेन च रात्रौ इत्यत् सोषितुमारम्भा । नगरदेवतया तत्तमाहस्म्येन
 तस्योपसर्गं कृत । तेन च भीतेन गृहान्नि सारिता । स्वती सखेदं सा
 कनकध्रीक्षातिक्रिया आधिकेति भ्रवाप्रतिगौरवेण भूता । अपानंनमदीयो-
 । कविस्मरणार्थं प्रियदत्तभ्राटी बहुसहायो कननामर्कं कुर्वन्त्योभ्यासां गतो
 निनस्यास्रकविन्दत्तभेष्टिनो गृहे सप्तासमये प्रविष्टो रात्रौ पुत्रीहरणवार्त्ता
 अधितमान् । प्रमाते तस्मिन् वदनामर्कं कर्तुं गते अतिगौरवितप्राचूर्ण-
 कविनिर्मित रसवती कर्तुं गृहे चतुष्कं दातुं कुशाग्र कनकध्रीक्षातिक्रिया
 आधिक्य विन्दत्तभार्यया व्यकारिता । सा च सर्वं कृत्वा वसतिक्व
 गता । वदनामर्कं कृत्वा आगतेन प्रियदत्तभेष्टिना चतुष्कमात्रेण्यनन्त-
 मयीं स्पृष्ट्वा गद्गरितद्वयेन गद्गरितवचनेनापुपातं कुर्वता मणितं । यया
 १ गृहमन्त्रं कृतं त्वं मे दर्शयेति । तत् सा आनीत्वा तपोध मेकापके
 ज्येष्ठे विन्दत्तभेष्टिना च महोत्सव कृत । अनन्तमस्या शोकं तत् ।
 इदानीं मे तपो दापय रात्रौ तस्मिन्नेव मयं संसारैर्बिभ्रम्यमिति । तत्
 कनकध्रीक्षातिक्रियापार्थं तपो गृहीत्वा बहुना कालेन विधिना मृत्वा तदात्मा
 सहस्रारकस्ये देवो ज्यतः ॥ २ ॥

तमना वारवार चटनोत्तरण करोति । एतस्मिन् प्रस्तावे प्रजापालराज्ञं
 कनकराज्ञीहारं दृष्ट्वा जनसुदर्श्या विलासिन्या रात्रावागतो जनचोरो भणितः
 यदि मे कनकराज्ञ्या हारं ददासि तदा भर्ता त्वं नान्यथेति । ततो गत्वा
 रात्रौ हारं चोरयित्वाऽजनचोर आगच्छन् हारोद्योतेन ज्ञातोऽगरक्षैः कोट्ट-
 पालैश्च त्रियमाणो हारं त्यक्त्वा प्रणश्य गतः, घटतले वटुकं दृष्ट्वा तस्मा-
 न्मत्रं गृहीत्वा निश्चितेन तेन विधिनैकवारेण सर्वशिक्ष्यं छिन्नं शस्त्रोपरि
 पतितं सिद्धया विद्यया भणितं ममादेशं देहीति । तेनोक्तं जिनदत्तश्रे-
 णिपार्थं मा नयेति । ततः सुदर्शनमेरुचैत्यालये जिनदत्तस्याग्रे नीत्वा
 स्थितः । पूर्ववृत्तात् कथयित्वा तेन भणितं यथेयं सिद्धा भवदुपदेशेन तथा
 परलोकसिद्धावप्युपदेहीति । ततश्चरणमुनिसन्निधौ तपो गृहीत्वा कैलाशे
 केवलमुत्पाद्य मोक्षं गतः ॥ १ ॥

निःकाक्षितत्वेऽनन्तमतीदृष्टातोऽस्याः कथा ।

अगदेशे चपानगर्भ्या राजा वसुवर्धनो राज्ञी लक्ष्मीमती । श्रेष्ठी प्रिय-
 दत्तस्तद्भार्या अगवती पुत्र्यनन्तमती । नदीश्वराष्टम्या श्रेष्ठिना धर्मकीर्त्या-
 चार्यपादमूलेऽष्टदिनानि ब्रह्मचर्यं गृहीतः । क्रीडयाऽनन्तमती च
 ग्राहिता । अन्यदा सप्रदानकालेऽनन्तमत्योक्तं तात ! मम त्वया ब्रह्म-
 चर्यं दापितमतः किं विवाहेन ? श्रेष्ठिनोक्तं क्रीडया मया ते ब्रह्मचर्यं
 दापितं । ननु तात ! धर्मं व्रते का क्रीडा । ननु पुत्रि ! नदीश्वराष्टदिना-
 न्येव व्रतं तव न सर्वदा दत्तं । सोवाच ननु तथा भट्टारकैरविवक्षितत्वा-
 दिति । इह जन्मनि परिणयने मम निवृत्तिरस्तीत्युक्त्वा सकलकलाविज्ञा-
 नशिक्षां कुर्वती स्थिता यौवनभरे चैत्रे निजोद्याने आदोलयतीं
 विजयार्धदक्षिणश्रेणिकिन्नरपुरविद्याधरराजेन कुडलमडितनाम्ना सुकेशी-
 निजभार्यया सह गगनतले गच्छता दृष्टा । किमनया विना जीवितेनेति

जिह्वा कम्पन्ते" इति मणित्वा तत्रोर्ध्वं कृत्वा तृणोपरि गतः शौचसमये
कुण्डिकायां जलं मांसित तया विकृतित्वं अपि न दृश्यतेऽतोऽत्र स्वच्छ-
सरोवरे प्रशस्तपूरिकया शौचं कृतवान् । ततस्तं मिथ्यादृष्टिं हात्वा भम्प-
सेनस्यामम्पसेननाम कृतं । ततोऽप्यस्मिन् दिने पूर्वस्यां दिशि पचासनस्य
चतुर्मुखं यज्ञोपवीतापुपतं देवात्सुरबन्धमानं ब्रह्मरूपं दर्शितं । तत्र राजा-
दयो भम्पसेनद्वयश्च जना गता । रेवती तु कोऽयं ब्रह्मनाम देव इति
मणित्वा ज्येष्ठे प्रेर्मणापि न गता । एवं दक्षिणस्यां दिशि गङ्गाकूर्तं
चतुर्मुखं च गदाशङ्खादिधारकं वासुदेवरूपं । पश्चिमायां दिशि वृषभारकूर्तं
सार्वभौमवत्पद्मनाभं गङ्गापतं शंकररूपं । उत्तरस्यां दिशि समवशरण-
मध्ये प्रातिहार्याङ्गोपेतं सुरनरविद्याधरमुनिहृन्दबन्धमानं पर्यंकस्तिव
तीर्थेश्वररूपं दर्शितं । तत्र च सर्वलोका गता । रेवती तु ज्येष्ठे
प्रेर्मणापि न गता मन्त्रे वासुदेवा एकदशैव कथा, चतुर्विंशतिरेव
तीर्थेश्वरा जिनागमे कथिता । ते चातीता कोऽप्ययं नायार्वात्सुकत्वा
स्तिव । अन्ये दिने चयविद्यायां व्याधिसीमसारारकृत्स्नरूपेण रेवती-
गृहप्रवेशसमीपमार्गे मायामूर्च्छया पतितः । रेवत्या तमाकर्ण्य भक्त्यो
त्पाप्य नैत्योपचारं कृत्वा पथ्यं कारयितुमाश्रय । तेन च सर्वमाहारं
सुक्त्वा दुर्गन्धवमनं कृतं । तदपनीय ॥ । विरूपकं मयाऽप्ययं दत्त
मिति रेवत्या बन्धनमाकर्ण्य तेषां मायामुपसंख्य तं दत्तं बन्धयित्वा
गुरोरासीर्वादं पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा आक्रम्ये तु बन्धुदृष्टित्वं तस्या
वधैः प्रशस्त्य स्वस्थाने गतः । बहूनां राजा शिवकूर्तिपुत्रश्च राज्यं दत्त्वा
तपो गृहीत्वा माहेन्द्रस्वर्गे देवो जातः । रेवत्यपि तपः कृत्वा ब्रह्मस्वर्गे
देवो बभूव ।

निर्विचिकित्सिते उद्वायनो दृष्टातोऽस्य कथा ।

एकदा सौधर्मेन्द्रेण निजसभाया सम्यक्त्वगुण व्यावर्णयता भरते वत्सदेशे रौरकपुरे उद्वायनमहाराजस्य निर्विचिकित्सितगुण प्रशसितस्त परीक्षितुं वासवदेव उदुवरकुष्ठकुयित मुनिरूप विकृत्य तस्यैव हस्तेन विधिना स्थित्वा सर्वमाहार जल च मायया भक्षयित्वातिदुर्गंध बहुवमन कृतवान् । दुर्गंधभयान्त्रे परिजने प्रतीच्छतो राज्ञस्तदेव्याश्च प्रभावत्या उपरि छर्दित, हाहा । विरुद्ध आहारो दत्तो मयेत्यात्मान निन्दयतस्त च प्रक्षालयतो माया परिहृत्य प्रकटीकृत्य पूर्ववृत्तान्त कथयित्वा प्रशस्य च त, स्वर्गं गत । उद्वायनमहाराजो वर्धमानस्वामिपादमूले तपोगृहीत्वा मुक्तिं गत । प्रभावती च तपसा ब्रह्मस्वर्गं देवो बभूव ।

अमूढदृष्टित्वरेवती दृष्टान्तोऽस्य कथा ।

विजयार्धदक्षिणश्रेण्या मेघकूटे नगरे राजा चन्द्रप्रभ । चन्द्र-
शेखरपुत्राय राज्यं दत्त्वा परोपकारार्थं वन्दनाभक्त्यर्थं च कियतीर्षया
दधानो दक्षिणमथूराया गत्वा गुप्ताचार्यसमीपे क्षुल्लको जात । तेनैकदा
वन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथूराया चालितेन गुप्ताचार्य, पृष्ठं किं कस्य
कथ्यते ? भगवतोक्त सुव्रतमुनेर्वन्दना वरुणराजमहाराज्ञीरेवत्या
आशीर्वादश्च कथनीय त्रिपृष्टेनापि तेन एतावदेवोक्त । ततः क्षुल्लके-
नोक्त । भव्यसेनाचार्यस्यैकादशागधारिणोऽन्येषां नामापि भगवन्
न गृह्णाति तत्र किंचित्कारणं भविष्यतीति सम्प्रधार्य तत्र गत्वा
सुव्रतमुनेर्महाराजीया वन्दना कथयित्वा तदीयं च विशिष्टं वात्सल्यं दृष्ट्वा
भव्यसेनवसतिका गत । तत्र गतस्य च भव्यसेनेन सभाषणमपि न
कृतं कुण्डिका गृहीत्वा, भव्यसेनेन सह बहिर्भूमिं गत्वा विकुर्वणया
हरितकोमलतृणाकुरच्छन्नो मार्गोऽग्रे दर्शित । तं दृष्ट्वा “ आगमे किलैते

चोरेणोक्तं प्रिये । किमेवं स्थितासाति । तयाक्तं धीकीर्तिभ्रेष्टिभ्या इदं
 मणि मे दत्तासि तदा जीवामि त्वं च मे भर्ता नाम्यथेति ध्रुवा त्वं समुदीर्य
 भर्तृरात्रे गत्वा निबद्धश्चजेन तं द्वारं चोरयित्वा निगत । तदुपातेन
 चौराऽवमिति ज्ञात्वा गृहसंरक्षकैः कोट्टपाठेन प्रियमाणा पञ्चापितुमसमर्थो
 वारिदेण दुःस्वप्नस्यामे तं द्वारं गृह्णाऽद्वयं भूत्वा स्थित । कोट्टपाठेन तं
 तयागेन च धेणिस्तस्य कथितं येष । वारिदेण धीर इति । तं ध्रुवा तनक्तं
 मूर्धस्यस्य मस्तकं गृह्णातामिति । यत्तमेन योऽसि शिरोभङ्गणार्थं बद्धित
 स कष्टे तस्य पुण्यमात्म बभूव । तमसि गपमाकृष्य धेणिरेन गत्वा वारि
 देण खनं क्षरित । उन्मामयप्रदानेन विगुण रेण राक्षो निबद्धत्वात् कथित
 वारिदेणा गृहे नेतुमारब्ध । तेन चोक्तं मया पाणिपात्र भोक्तव्यमिति ।
 उद्योऽसौ नृत्तसेनमुनिसमीप मुनिभूत् । पक्ष्मा राजगृहसमीपे
 पञ्चासङ्गम्ये चर्याया न प्रविष्ट । तत्र धनिकस्य योऽभिभूतिर्नृत् । तपु
 म्ना पुण्यकठन स्थापिते चर्या क्षारयित्वा स सामिन्ना निब्रमायां पृष्ठा प्रमु
 पुत्र्याद्वाक्स्वस्तिराद्य स्ताकं मार्गानुव्रजेन कतु वारिदेणेन सह नि
 र्गत । आत्मनो व्याघ्रुटनार्थं क्षीरद्वारिक दण्ड्यन् मुहूर्तमुद्वन्दना
 कुर्न् इत्से गृहा नीता शिशिरवन्धवधे कृत्वा वेधाय नीया तपो
 प्रादित्योऽपि सामिन्ना न विस्मयति । तौ शत्रुपि शत्रुशर्माणि तीर्थ-
 यायां कृत्वा वर्धमानस्वामिसमभधारण गतो । तत्र वर्धमानस्वामिनः पृथि
 व्याश्च सम्बन्धिगीमे देवैर्गीयमानं पुण्यकठनं भूतं । यथा

“ महत्कृष्णं धीं दुग्धमनी मां हि पतिसिय एष ।

कदा जीयेत्तद्वा चापि यत्पर उच्यते दिव्य एष ॥ ”

एतद्वत्तमन सोमिन्द्रायाश्च संयोग्य उरुषष्ठितथस्त्रितः । स वारिदेणेन
 ज्ञात्वा स्थितेकरणार्थं निब्रनगरं गीत । चेष्टिभ्या तौ हृष्टा वारिदेण किं

उपगूहने जिनेन्द्रभक्तो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

सुराष्ट्रदेशे पाटलिपुत्रनगरे राजा यशोवरो राज्ञी मुसीमा पुत्र सुवीर. सप्तव्यसनाभिभूतस्तथाभूततस्करपुरुषसेवित । पूर्वदेशे गौडविषये ताम्रलिप्तनगर्यां जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिन सप्ततलप्रासादोपरि बहुरक्षकोपयुक्तपार्श्वनाथप्रतिमाछत्रयोपरि विगिष्टतरानर्घ्यवैडूर्यमणि पारपर्येणाकर्ण्य लोभात्तेन सुवीरेण निजपुरुषा पृष्टा त माणि किं कोऽप्यानेतुं शक्तोऽस्तीति । इन्द्रमुकुटमणिमध्यमानयामीति गलगर्जित कृत्वा सूर्यनामा चौर कपटेन क्षुल्लको भूत्वा अतिक्लायकेशेन ग्रामनगरक्षोभ कुर्वाण क्रमेण ताम्रलिप्तनगरीं गत । तमाकर्ण्य गत्याऽलोक्य वन्दित्वा सभाप्य प्रशस्य क्षुभितेन जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिना नीत्वा पार्श्वनाथदेव दर्शयित्वा मायया अनिच्छन्नपि स तत्र मणिरक्षको धृतः । एकदा क्षुल्लक पृष्ट्वा श्रेष्ठी समुद्रयात्राया चलितो नगराद्वहिर्निर्गत्य स्थित । स चौरक्षुल्लको गृहजनमुपकरणनयनव्यप्रज्ञात्वा अर्धरात्रे त मणिं गृहीत्वा चलित । मणितेजसा मार्गे कोट्टपालेर्दृष्टो धर्तुमारब्ध । तेभ्य पलायितुमसमर्थं श्रेष्ठिन एव शरणं प्रविष्टो मा रक्ष रक्षेति चोक्तवान् कोट्टपालानां कलकलमाकर्ण्य पर्यालोच्य त चौरं ज्ञात्वा दर्शनेोपहासप्रच्छादनार्थं भणित श्रेष्ठिना मद्बचनेन रत्नमनेनानीतिमिति विरूपकं भगद्वि कृत यदस्य महातपस्विनश्चौरोद्बोधोपणा कृता । ततस्ते तस्य प्रमाणं कृत्वा गता । स च श्रेष्ठिना रात्रौ निर्घाटित । एवमन्येनापि सम्यग्दृष्टिना असमर्थाज्ञानपुरुषादागतदर्शनदोषस्य प्रच्छादनं कर्तव्यम् ।

स्थितीकरणे वारिषेणो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको राज्ञी चेलिनी पुत्रो वारिषेण उत्तमश्रावक चतुर्दश्या रात्रौ कृतोपवास श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थित । तस्मिन्नेव दिने उद्यानिकाया गतया मगधसुन्दरीविलासिन्या श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्याः परिहितो दिव्यो हारो दृष्ट । ततस्तं दृष्ट्वा किमनेनालङ्कारेण विना जीवितेनेति संचिन्त्य शय्याया पतित्वा सा स्थिता । रात्रौ समागतेन तदासक्तेन विद्यु-

पर्यालोच्य तद्विचार्य युगपच्चतुर्भिः सङ्गा उद्गीर्णा । कपितनगरदेवतया
 तथैव ते स्वीकृता । प्रभाते च (त) यैश्च ते सर्वलोचैश्च ।
 त्वेन राज्ञा क्रमागता इति न मारिता गर्दमारोहणादिर्ब
 क्करोमिषा निर्घातिता । अथ कुम्भनागछदेशे इस्तिनापुरे राजा
 महापद्मो राज्ञी लक्ष्मीमती पुत्रौ पद्मो विष्णुश्च । स एकदा पद्मस्य
 राज्यं दत्त्वा महापद्मो विष्णुना सह म्रुत्सामरचन्द्राचार्यस्य समीपे मुनि-
 र्जात । ते च बलिप्रभृतय आगत्य पद्मराजस्य मन्त्रिणो जाता । कुम्भपुस्-
 दुर्गे च सिंहबलो राजा दुर्गमकात् पद्ममण्डलस्योपद्रवं करोति ।
 तद्महान्वित्तया पद्मो दुर्गममालोक्य बलिनोक्तं किं देव ! दौर्भस्ये क्लृप्त-
 मिति । कथितं च राज्ञा । तच्छ्रुत्वा आदेशं याचयित्वा तत्र गत्वा बुद्धि-
 म्महात्म्येन दुर्गं मङ्कत्वा सिंहबलं गृहीत्वा व्याधुञ्जामास । तेन पद्म-
 स्यासौ समर्पित । त्वेव ! सोऽयं सिंहबल इति । तुष्टेन तेनोक्तं वाञ्छितं
 वरं प्राप्येति । बलिनोक्तं यदा प्रार्थयिष्यामि तदा दीयतामिति । अथ
 क्वतिप्यदिनेषु विहरन्तस्तेऽकम्पनाचार्यादयः सप्तशतयुक्तमस्तत्रागत्य ।
 पुरञ्चोभाङ्गिप्रभक्तित्तान् परिह्राय राजा एतद्भक्त इति पर्यालोच्य मयात्त-
 न्मरणार्थं पद्मं पूर्व्ववरं प्रार्थित सप्तदिनाभ्यस्माकं राज्यं देहीति ।
 ततोऽसौ सप्तदिनानि राज्यं दत्त्वाऽन्तःपुरे प्रविश्य स्थित । बलिना च
 म्रुत्वापनमितौ अयोत्सर्गेण स्थितान् मुनीन् शय्यावेष्टय मण्डपं कृत्वा
 यच्च कर्तुमारब्ध । तच्छिष्टसरावच्छागाग्निजीवच्छेदवैर्धूमैश्च मुनीनां म-
 रणार्थमुपसर्गं कृत । मुनयश्च त्रिविधसंन्यासेन स्थिता । अथ मिथि-
 कानगयामर्भरात्रे बह्विर्भिर्निर्गतम्रुत्सामरचन्द्राचार्येण आचारां धवजनशूत्र
 कम्पमानमालोक्यमाभिविज्ञानेन ज्ञात्वा भणितं महामुनीनां महानुपसर्गो
 वर्तते तच्छ्रुत्वा पुण्यभरगाम्ना विद्याभरगुह्येन पूष्टं भगवन् । क केनां
 मुनीनां महानुपसर्गो वर्तते ? इस्तिनापुरे अकम्पनाचार्यादीनां सप्तशत-

चारित्राचलित. आगच्छतीति सचिन्त्य परीक्षणार्थं सरागवीतरागे द्वे आसने दत्ते । वीतरागासने वारिषेणेनोपविश्योक्त मदीयमन्त पुरमानीयता ततश्चेलिन्या महादेव्या द्वात्रिंशद्भार्या, साळङ्कारा आनीता । तत पुष्प-
डालो वारिषेणेन भणित. स्त्रियो मदीय युवराजपद च त्व गृहाण । तच्छ्रुत्वा-
पुष्पडालो अतीवलज्जित पर वैराग्य गत । परमार्थेन तपः कर्तुं लग्न इति ।

वात्सल्ये विष्णुकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

अवन्तिदेशे उज्जयिन्या श्रीवर्मा राजा तस्य बलिर्वृहस्पति प्रल्हादो नमुचिश्चेति चत्वारो मन्त्रिण तत्रैकदा समस्तश्रुतावारो दिव्यज्ञानी सप्तश तमुनिसमन्वितोऽकम्पनाचार्य आगत्योद्यानके स्थित । सम-
स्तसघश्च वारित राजादिक्लेऽप्यायते केनापि जल्पन न कर्तव्यमन्यथा समस्तसघस्य नाशो भविष्यतीति । राज्ञा च धवलगृहास्थितेन पूजाहस्त नगरीजन गच्छन्त दृष्ट्वा मन्त्रिण पृष्टा काय लोकोऽकालयात्राया गच्छ-
तीति । तैरुक्त क्षपणका बहवो बहिरुद्याने आयातास्तत्राय जनो याति । वयमपि तान् दृष्टु गच्छाम इति भणित्वा राजापि तत्र मन्त्रिसमन्वितो गत । प्रत्येके सर्वे वन्दिता । न च केनापि आशीर्वादो दत्त । दिव्या-
नुष्ठानेनातिनिस्पृहास्तिष्ठन्तीति सचिन्त्य व्याघ्रटिते राक्षि मन्त्रिभिर्दुष्टाभिप्रा-
यैरुपहास कृत बलीवर्दा एते न किञ्चिदपि जानन्ति मूर्खा दम्भमौनेन स्थिता । एव ब्रुवाणौर्गच्छद्भिरग्रे चर्या कृत्वा श्रुतसागरमुनिमागच्छन्तमा-
लोक्याक्त “अय तर्षणबलीवर्द पूर्णकुक्षिरागच्छति । एतदाकर्ण्य तेन ते राजाग्रेऽनेकान्तवादेन जिता । अकम्पनाचार्यस्य चागत्य वार्ता कथिता । तेनोक्त सर्वसघस्त्वया मारित । यदि वादस्थाने गत्वा रात्रौ त्वमेकाकी तिष्ठसि तदा सघस्य जीवितव्य तव शुद्धिश्च भवति । ततोऽसौ तत्र गत्वा कायोत्सर्गेण स्थित । मन्त्रिभिश्चातिलज्जितै क्रुद्धै रात्रौ सघ मारयितु गच्छद्भिस्तमेक मुनिमालोक्य येन परिभव कृत स एव हंतव्य. इति

दोहकच्छे जात । तत सोमदत्तन ताम्रमुपानयने अन्धपयता यत्राभहृष्टे
 सुमित्राचार्यो पाग गृहीतवास्ते नानाफले फलितं दृष्ट्वा तस्मात्ता
 म्प्रादाय पुस्त्यहस्ते प्रेषितवान् । स्वयं च धर्मं धृत्वा निर्बिण्णस्तपो गृहीत्वा
 अप्राममर्भात्य परिणता भूत्वा नामिगिरौ आतपनेन स्थित । यद्दत्ता
 च पुत्रं प्रसूता नीतं धृत्वा बंधुसमीपं गता । तस्य द्युर्दिज्ञात्वा बन्धुभि
 सह नामितगिरिं गत्वा तमातपनस्यमात्रोत्पातिच्छेषात्तत्पादोपरि बाधकं
 भूत्वा दुर्बचनानि दत्वा गृहं गत्वा । अत्र प्रस्तावे दिवाकरदेवनामा विद्या
 धरोऽन्तर्बर्तापुर्या पुरन्दरनाम्ना कञ्चुभात्रा राम्याभिर्घाटित । सकलश्रे
 मुनिं बन्दितामभ्यास । तं बाधं गृहीत्वा निजमार्ग्याया समर्थं बन्धुकुमार
 इति नाम कृत्वा गत । तं च बन्धुकुमार कनकनगरे विमलबाह
 ननिजैर्भुनिक्रस्तर्मापे सर्वविद्यापारगो भुवा च क्रमेण जात । अथ गरु
 ष्वेगाङ्गवत्यो पुत्री पवनवेगा हेमन्तपर्वते प्रकाप्ति विद्या महाधनेण
 सायक्यन्ती पवनाकम्पितवदरीवन्नकटकन काचने विद्या । ततस्तत्पीडया
 अकवित्ताया विद्या न सिद्धवति । ततो बन्धुकुमारेण च ता तया दृष्ट्वा
 विद्वानेन कटकमुद्धृत । तत स्थिरविद्यायास्तस्या विद्या सिद्धा । उक्तं च
 तया मन्त्रसारेण एया विद्या सिद्धा त्वमेव मे मर्त्येषुक्त्वा परिणीता ।
 बन्धुकुमारेणोक्तं तात । अहं कस्य पुत्र इति सत्यं कस्य तस्मिन् कथिते
 मे मौजनाक्षौ प्राप्तिरिति । ततस्तेन पूर्ववृत्तान्तं सर्वं सारं एव कथित ।
 तमाकर्ष्य निजगुरुं प्रष्टुं बन्धुमि सह मथुरायाम् अत्रियगुह्याय गतः ।
 तत्र च सोमदत्तगुरोर्दिवाकरदेवेन वंदनां कृत्वा वृत्तान्तं कथित ।
 समस्तबन्धून् महता कष्टेन विसृज्य बन्धुकुमारो मुनिर्जात अप्रान्तर
 मथुरायामभ्या कथा—राजा प्रुतिगन्धो राज्ञी रैर्विद्या । सा च सन्य
 मधिरतीव त्रिनर्धमप्रभावनायां रता । नन्दीश्वराद्यदिनानि प्रतिवर्षं त्रिन
 न्द्रपयात्रायां ब्रह्मं वातान् कारयति । तत्रैव भगव्यो भेष्टी सागरदत्त

यतीना । उपसर्गं कथं नश्यति । शणिनूपणगिरि । विष्णुकुमारमुनिर्वि-
क्रियर्द्धितम्पन्नस्तिष्ठति स नाशयति । एतद्राक्षस्य तत्त्वमीपे गत्वा बुद्ध-
केन विष्णुकुमारस्य सर्वास्मिन् वृत्तान्ते कथितं मम किं प्रिक्रिया क्रदिर-
स्तीति सचिन्त्य तत्परीक्षार्थं हस्तं प्रसारित । स गिरिं मित्वा दूरे गत ।
ततस्तां निर्णाय तत्र गत्वा पप्ररात्रो भणित । किं त्वया मुनीनामुप-
सर्गं कारित । भवत्कुले केनापीदृशं न कृत । तेनोक्तं किं करोमि
मया पूर्वमस्य वरं दत्तं इति । ततो विष्णुकुमारमुनिना रामनराक्षण
कृत्वा दिव्यध्वनिना प्राव्ययनं कृत । वलिनोक्तं किं तुभ्यं दीयते । तेनोक्तं
भूमे पादत्रयं देहि । ग्रहिलत्राक्षणं बहुतरमन्यत् प्रार्थयति वारं वारं
लोकेर्भण्यमानोऽपि तावदेव याचते । ततो हस्तोदकादिविधिना भूमि-
पादत्रये दत्ते तेनेकपादो मेरो दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरगिरो तृतीयपा-
देन देवविमानादीनां क्षोभं कृत्वा वलिपृष्ठे तं पादं दत्त्वा वलिं वदन्त्या
मुनीनामुपसर्गो निवारित । ततस्ते चत्वारोऽपि मन्त्रिण पद्मस्य भयादागत्य
विष्णुकुमारमुनेरकम्पनाचर्यादीनां च पादेषु लब्धाः । ते मन्त्रिण श्रावकाश्च
जाता इति ।

प्रभावनाया वज्रकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

हस्तिनापुरे बलराजस्य पुरोहितो गरुडस्तत्पुत्रं सोमदत्तं तेन सकलशा-
स्त्राणि पठित्वा अहिच्छत्रपुरे निजमामसुभूतिपार्श्वे गत्वा भणित । माम् । मा
दुर्मुखराजस्य दर्शयेत् । न च गर्हितेन तेन दर्शित । ततो ग्रहिलो भूत्वा
सभायां स्वयमेव तं दृष्ट्वा आशीर्वादं दत्वा सर्वशास्त्रकुशलत्वं प्रकाश्य
मन्त्रिपदं लब्धवान् । तं तथाभूतमालोक्य सुभूतिमामो यज्ञदत्ता पुत्रो परिणेतुं
दत्तवान् । एकदा तस्या ' गर्भिण्या वर्षाकाले आम्रफलभक्षणं

दोहकरो जातः । ततः सोमदत्तेन तान्मुद्यानवने अन्वेपयता यत्रामहृष्टे
 मुमित्राचार्यो योगं गृहीतवास्ते नानाफलेः फलितं दृष्ट्वा तस्मात्ता
 म्यादाय पुरुषहस्ते प्रेषितवान् । स्वयं च धर्मं श्रुत्वा निर्दिष्टस्तपो गृहीत्वा
 व्रजाममर्षाण्य परिणता भूत्वा नामिगिरौ आतपनेन स्थितः । यज्ञदत्ता
 च पुत्रं प्रसूता नीते^१ श्रुत्वा बंधुसमीपं गत्वा । तस्य श्रुत्वा श्रुत्वा बन्धुमि
 सह नामिगारि गत्वा तमातपनस्यमाश्लेष्यति कोपात्तत्पादोपरि बाणकं
 कृत्वा दुर्बचनानि दत्वा गृहं गत्वा । अत्र प्रस्तावे दिवाकरदबनात्मा विद्या-
 धरोऽमरावतीपुर्णा पुरन्दरनाम्ना लघुभात्रा राज्याभिर्घाठितः । सकलत्रो
 मुनिं वन्दितुमायात् । तं बाढं गृहीत्वा निजभार्याया समर्प्य ब्रह्मकुमार
 इति नाम कृत्वा गतः । स च ब्रह्मकुमार कनकनगरे विमलबाह
 ननिजमैधुनिकसमीपे सर्वविद्यापारगो युवा च क्रमेण जातः । कथं गत्-
 क्तेगाह्नवत्यो पुत्री पवनवेगा हेमन्तपर्वते प्रवृत्तिं विद्या महाधमेण
 साक्यन्ती पवनाकम्पितज्वरीवज्रकंटकेन काचने विद्या । ततस्तत्पीडया
 चकचित्ताया विद्या न सिद्धवति । ततो ब्रह्मकुमारेण च तया कथा दृष्ट्वा
 विद्वान्नेन कंटकमुद्धृतः । ततः स्थिरचित्तायास्तस्या विद्या सिद्धा । तर्कं च
 कथा मबध्यतस्तेन एया विद्या सिद्धा त्वमेव मे मर्त्येऽस्तुत्वा परिणीता ।
 ब्रह्मकुमारेणोक्तं जातः । अहं कस्य पुत्र इति सत्यं कस्य तस्मिन् कथिते
 मे भोजनसौ प्रवृत्तिरिति । ततस्तेन पूर्वज्ञानान्तं सर्वं सत्य एव कथितः ।
 तमाकर्ष्य निजगुरुं द्रष्टुं बन्धुमि सह ममुरायां लघ्वियगुहायां गतः ।
 तत्र च सोमदत्तगुरोर्दिवाकरदबेन बंदनं कृत्वा ज्ञानान्तं कथितः ।
 तमस्तज्जन्तुं महता कष्टेन विसृज्य ब्रह्मकुमारो मुनिर्जातः अग्रान्तर
 ममुरायां कथा—राजा प्रसिगन्धो रक्षी रक्षिणः । सा च सम्य
 मधिरक्षी च भिगधर्ममावमायां रता । नन्दीस्वराष्ट्रविमानि प्रतिर्ष्य त्रिन
 म्ररण्याव्या प्रीन् वारान् कारयति । तत्रैव नगर्यां धेष्टी सागरदत्त

श्रेष्ठिनी समुद्रदत्ता पुत्री दरिद्रा । मृते सागरदत्ते दरिद्रा एकदा परगृहे
निक्षिप्तसिक्क्यानि भक्षयन्ती चर्या प्रविष्टेन मुनिद्वयेन दृष्ट्वा ततो लघुमु-
निनोक्त हा ! वराकी महता कष्टेन जीवतीति । तदाकर्ण्य ज्येष्ठमुनिनोक्तं
अत्रैवास्य राज्ञ पट्टराज्ञी बल्लभा भविष्यतीति । भिक्षा भ्रमता ध-
र्मश्रीवदकेन तद्वचनमाकर्ण्य नान्यथा मुनिभाषितामिति सचिन्त्य स्व-
विहारे ता नीत्वा मृष्टाहारै पोषिता । एकदा यौवनभरे चैत्रमासे अन्दो-
लयन्ती ता राजा दृष्ट्वा अतीव विरहावस्था गत । ततो मन्त्रिभिस्ता तदर्थं
वदको याचित । तेनोक्त यदि मदीय धर्मं राजा गृह्णाति तदा ददामीति
तत्सर्वं कृत्वा परिणीता । पट्टमहादेवी तस्य सातिवल्लभा जाता । फाल्गु-
ननन्दीश्वरयात्रायामुर्विला रथयात्रामहारोपं दृष्ट्वा तया भणिता देव ! मदीयो
बुद्धरथोऽधुना पुर्यां प्रथम भ्रमतु । राज्ञा चोक्तमेव भवत्विति । त-
त उर्विला वदति मदीयो रथो यदि प्रथम भ्रमति तदाहारे मम प्रवृत्तिर-
न्यथा निवृत्तिरिति प्रतिज्ञा गृहीत्वा क्षत्रियगुहाया सोमदत्ताचार्यपाश्वे-
गता । तस्मिन् प्रस्तावे वज्रकुमारमुनेर्वन्दनाभक्त्यर्थमायाता दिवाकरदे-
वदयो विद्याधरास्तदीयवृत्तान्तं च श्रुत्वा वज्रकुमारमुनिना ते भणिता
उर्विलाया प्रतिज्ञारूढाया रथयात्रा कारिता तमतिशय दृष्ट्वा प्रीतिमुक्त्वा बुद्ध-
दासी अन्ये च जना जिनधर्मरता जाता इति ॥ २० ॥

ननु सम्यग्दर्शनस्याष्टभिरङ्गैः प्ररूपितै किं प्रयोजन ? तद्विकलस्या-
प्यस्य ससारोच्छेदनसामर्थ्यसंभवादित्याशक्याह —

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।

न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनां ॥ २१ ॥

‘ दर्शनं कर्तुं । जन्मसन्ततिं ’ ससारप्रबन्धं । ‘ छेत्तुं ’
उच्छेदयितुं ‘ नालं ’ न समर्थं । कथंभूतं सत्, ‘ अंगहीनं ’ अंगगौर्न

शक्तिरवादिस्वरूपैर्हीनं विकृतं । अत्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टव्यं
माह—‘ नही ’ त्वयि सर्पादिप्रसूतसुखार्थगणितवेदनस्य व्यपह-
नार्थं प्रसूतो मन्त्रोऽक्षरणापि मूना हीनो ‘नहि’ नैव ‘निहन्ति’ स्फोटयति
वैयवेदना । तत्तु सम्यग्दर्शनस्य संसारोच्छेदसाधनेऽप्राप्तोपेक्ष्यम् ।

तस्य संसारोच्छेदसाधने स्यादिति हेतुष्यते लोकदेवतापातविमूढ
भेदात् श्रीणि भवन्ति । तत्र लोकमूढं तावदर्शयन्माह —

आपगासागरस्नानमुच्यते सिक्तात्मनाम् ।

गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥

‘ लोकमूढ ’ लोकमूढत्वं । किं ? ‘ आपगासागरस्नान ’
आपगा नदी सागर समुद्र तत्र भेष साधनाभिप्रायेण यत्स्नानं न वपु
स्त्रीप्रक्षालनाभिप्रायेण । तथा उच्यते ‘ स्तूपविधानं । केषां ? सि-
क्तात्मनां सिक्ता बाहुक्य, अस्मान् पापाणां स्तेयं । तथा ‘ गिरि
पातो ’ मृगपातादि । अग्निपातश्च अग्निप्रबन्ध । एवमात्रिसर्वं
लोकमूढं निगद्यते प्रतिपाद्यते ॥ २२ ॥

दशतामूढं व्याख्यातुमाह —

बरोपतिप्सयाद्यावान् रागद्वेषमखीमसा ।

देवता बहुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

देवतामूढ ’ उच्यते बहुपासीत आराधयेत् । कः देवता ?

१ कर्ममूढः, रागद्वेषमखीमसा रागद्वेषाभ्यां मखीमसा मखिना । किं
विशिष्टः ? ‘ आद्यावान् एहिकछागमिच्छापी । कया ? ‘ बरोपति-
प्सया ’ वरस्य वाम्निष्ठतस्तस्य उपतिप्सया प्राप्तुमिच्छया । नन्वेवं
ग्राहकदीनां शासनदीयतापूर्वाविधागादिकं सम्यग्दर्शनम्वान्त्यहेतु प्राप्नो-
त्येति चेत् एवमेव यदि बरोपतिप्सया कुर्वीत । यदा तु सत्तदेवत्य-

त्वेन तासा तत्करोति तदा न तन्मन्त्रानताहेतु । तत् कुर्वतश्च दर्शनपक्ष
पाताद्वरमयाचितमपि ता. प्रयच्छत्येव । तदकरणे चेष्टेयताविशेषात्
फलप्राप्तिर्निर्भिन्नतो ज्ञाति न सिद्ध्यति । न हि चक्रवर्तिपरिवारा-
पूजने सेवकाना चक्रवर्तिन सक्ताशात् तथा फलप्राप्तिर्दृष्टा ॥ २३ ॥

इदानीं सदृशनस्वरूपे पापण्डिमूढस्वरूप दर्शयन्नाह,—

सग्रन्थारम्भहिंसाना ससारावर्त्तवर्तिनाम् ।

पापण्डिना पुरस्कारो ज्ञेय पापण्डिमोहनम् ॥ २४ ॥

पापण्डिमोहन ज्ञेय ज्ञातव्य । कोऽसौ १ 'पुरस्कार' प्रशसा ।
केपा २ 'पापण्डिना' मिथ्यादृष्टिलिङ्गिना । किं प्रशिष्टाना २ 'सग्रन्थारं-
भहिंसाना' ग्रन्थाश्च दासीदासादयः, आरमाश्च कृष्यादय हिंसाश्च
अनेकविधा प्राणिवधा सह ताभिर्वर्तन्ते इयेव ये तेषा । तथा 'ससारा-
वर्त्तवर्तिना' ससारे आवर्तो ध्रमण येभ्यो विवाहादिकर्मभ्यस्तेषु वर्तते
इत्येव शीलास्तेषा । एतैस्त्रिभिर्मूर्खैरप्योऽटत्वसम्पन्न सम्यग्दर्शन ससारो-
च्छित्तिकारण अस्मयत्वसम्पन्नम् ॥ २४ ॥

क पुनरय स्मय कतिप्रकारश्चेत्याह —

ज्ञानं पूजा कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।

अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५ ॥

'आहु'र्बुवन्ति । क २ 'स्मय' । के ते २ 'गतस्मया' नष्टमदा, जिना ।
किं तत् २ 'मानित्व' । किं कृत्वा २ 'अष्टावाश्रित्य' । तथा हि । ज्ञानमा-
श्रित्य ज्ञानमदो भवति । ननु शिल्पमदस्य नवमस्य प्रसक्तेरष्टाविति
सख्यानुत्पन्ना इत्यप्ययुक्त तस्य ज्ञाने एवान्तर्भावात्

अनेनाष्टविधमदेन चेष्टमानस्य दोष दर्शयन्नाह —

स्मयेन योऽन्यान्त्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः ।

सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ २६ ॥

स्मयेन ' उक्तप्रकारेण ' गर्भिताशयो ' दर्पितवित्त यो जीव । नर्म
स्थान् ' रत्नत्रयापेक्षानन्यान् । अत्येति ' अत्रधीरयाति अत्रह्यातिक्वामती
त्यर्थः । ' सोऽत्येति ' अत्रधीरयाति । कः ? ' धर्मः ' रत्नत्रयम् । कथंमृतम् ।
' अस्मीय ' जिनपतिप्रणीतम् । यतो धर्मो ' धार्मिकैः ' रत्नत्रयानुष्ठानिभिर्भिना
विद्यते ॥ २६ ॥

ननु कुल्यैश्वर्यादिसम्पत्तौ सम्यं कथं निष्पद्यन्त्य इत्याह —

अदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ।

अथ पापास्तबोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥ २७ ॥

पापं ज्ञानावरणान्मुमुक्षुर्म कर्म निवृत्तयेनेनासौ ' पापनिरोधो ' रत्नत्रय-
अज्ञानं च यद्यस्ति तदा ' अन्यसम्पदा ' अन्यस्य कुल्यैश्वर्यादि सम्पदा सम्प-
त्ता किमपि प्रयोजनं तन्निरोधेऽतोऽन्यविक्षया विशिष्टतरादेतत्सम्पद-
प्राप्त्यन्तर्गुणप्रधानस्य तन्निवृत्तयस्तस्यस्यानुत्पत्तिः । ' अथ पापास्त-
बोऽस्ति ' पापस्याद्युक्तकर्मण आस्तबो मिथ्यात्वाविरत्यास्ति किं
प्रयोजनं अग्रे दुर्गतिगमनादिकं अत्रमुद्रणमानस्य तत्सम्पदा प्रयोजनाना-
वस्तुसमयस्य कर्तुमनुचितत्वात् ॥ २७ ॥

अमुनेवार्थं प्रदर्शयिष्याह —

सम्यग्दर्शनसम्यग्भमपि मातृगदेहजम् ।

देवा दवं विदुर्मस्मगूढाङ्गारान्तरौघसम् ॥ २८ ॥

' देव ' आराध्यः । विदुर्मस्मन्तः । के ते ? ' देवा ' " देवा वितस्त-
ममस्ति जस्तं भग्ने सया मणो " इत्यभिधानात् । कमपि ? मातृगदेह-
जमपि ' आद्यात्मपि । कथंमृतम् ? सम्यग्दर्शनसम्यग्भम सम्यग्दर्शनेन
सम्पन्नमुक्तम् । अतएव ' भस्मगूढाङ्गारान्तरौघसम् ' भस्मना गूढः प्रच्छा-
दितः ॥ अस्तावङ्गारश्च तस्य अन्तरं गम्यं तत्रैव भोजं प्रकथयति निर्मळता
यस्य ॥ २८ ॥

एकस्य धर्मस्य विविध फल प्रकाशयेदानीमुभयोर्धर्मधर्मयोर्यथाक्रमं
फल दर्शयन्नाह —

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात् ।

कापि नाम भवेदन्या सम्पद्वर्माच्छरीरिणाम् ॥ २९ ॥

‘श्वापि’ कुक्करोऽपि ‘देवो’ जायते । ‘देवोऽपि’ देव ‘श्वा’ जायते ।
कस्मात् ? ‘धर्मकिल्बिषात्’ धर्ममाहात्म्यात् खलु श्वापि देवो भवति ।
किल्बिषात् पापोदयात् पुनर्देवोऽपि श्वा भवति । एव तत ‘कापि’ वाचाम-
गोचरा ‘नाम’ स्फुट ‘अन्या’ न पूर्वा द्वितीया वा ‘सम्पद्विभूतिविशेषो
भवेत्’ । कस्मात् ? धर्मात् । केषा ? ‘शरीरिणा’ ससारिणा । यत
एव ततो धर्मएव प्रेक्षावतानुष्ठातव्य ॥ २९ ॥

ते चानुष्ठिता दर्शनम्लानता मूलतोऽपि न कर्तव्येत्याह —

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।

प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥ ३० ॥

‘शुद्धदृष्टयो’ निर्मलसम्यक्त्वा न कुर्युः । क ? ‘प्रमाण’ उत्तमाङ्गेनोप-
नति । ‘विनय चैव’ करमुकुलप्रणसादिलक्षण । केषा ? कुदेवागमलिं-
गिना । कस्मादापि ? ‘भयाशास्नेहलोभाच्च’ भय राजादिजनित, आशा
च भाविनोऽर्थस्य प्रत्याकाक्षा, स्नेहश्च मित्रानुराग, लोभश्च वर्तमानकालेऽ-
र्थप्राप्तिगृद्धि, भयाशास्नेहलोभ तस्मादपि । चण्ड्योऽप्यर्थ ॥ ३० ॥

ननु मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयरूपत्वात् कस्मादर्शनस्यैव प्रथमतः स्वरूपा-
भिधानकृतमित्याह —

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्रुते ।

दर्शनं कर्णधार तन्मोक्षमार्गं प्रचक्ष्यते ॥ ३१ ॥

‘दर्शन’ कर्तृ ‘उपाश्रुते’ प्राप्नोति । क ? ‘साधिमानं’ साधुत्वमुत्कृष्टत्व
वा कस्मात् ? ज्ञानचारित्रात् । यतश्च साधिमान तस्मादर्शनमुपा-

श्रुते । 'तत्' तस्मात् । 'माक्षमार्गे' रत्नत्रयात्मके 'दर्शन कर्णधारं' प्रधानं प्रपश्यते । तथैव हि कर्णधारस्य नौसैबटकैर्बर्तकस्यापीना समुद्रपरतीरगमने नाव प्रवृत्ति तथा संसारसमुद्रपरत्यंतगमने सम्बन्धदर्शन कर्णधारार्थिना माक्षमार्गमाव प्रवृत्ति ॥ ३१ ॥

ननु चास्योक्तद्वये सिद्धं कर्णभारत्वं सिद्धयति तस्य च कुत सिद्ध
मित्याह —

विद्यावृक्षस्य संभृतिस्त्वितिहृदिफलोदयाः ।

न सन्त्यमत्रिसम्यक्त्वे बीजामाये तरोरिष ॥ ३२ ॥

‘सम्यक्त्वेऽसति’ अभिधमाने । ‘न सन्ति’ । के ते ! समूतिस्तिष्ठ-
द्विफलोदया । कस्य ? विद्यावृत्तस्य । अथर्म्य — विद्याया मत्त्वान्न-
दिरूपाया वृत्तस्यच सामायिक्यदिचारित्र्यस्य या समूति प्रादुर्भाव, स्थि-
तिर्यगाच्च पदार्थपरिच्छेदकत्वेन कर्मनिर्हरादिहृतत्वेन चावस्थानं, वृद्धि-
रूपस्य परस्पर उक्त्यर्थं फलोदयो देवादिपूज्यताः स्वर्गापिबर्गाश्च फल-
स्योत्पत्तिः । अस्याभावे अस्त्येव तं न स्युरित्याह—बीजामात्रे तरोरिव
बीजस्य मूलकारणस्याभावे यथा तरोस्तं न सन्ति तथा सम्यक्त्वास्यापि
मूलकारणमूलत्वाभावे विद्यावृत्तस्यापि ते न सन्तीति ॥ ३२ ॥

यच्च सम्यग्दर्शनसम्पन्नो गृहस्थोऽपि तत्सम्पन्नान्मुनेरुच्यतेऽ-
पि सम्यग्दर्शनमवबोधोक्तमिति न्याह —

गृहस्थो मोक्षमार्गस्यो निर्मोहो नैव मोहवान् ।

अनगारो गृही भेषान् निर्मोहो मोहिनो मृन ॥ ३३ ॥

‘नेमोहो’ दर्शनप्रतिबन्धकमादनीयकर्मरहित सदर्शनपरिणत इत्य-
र्थः । इत्थं मृतो गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो भवति ‘भग्नमात्रे’ यतिः पुनः

‘नय’ मोक्षमार्गस्यो भवति । किं विधिः ? ‘मोहयान्’ दर्शनमोहोपेतः ।
मिथ्यात्वपरिणत इत्यर्थः । यत एव नतो गृहस्थोऽपि निर्माह स ‘श्रेयान्’
उत्कृष्टः । क्रमात् ? मुने । कथभूतात् ? ‘मोहिनो’ दर्शनमो-
हयुक्तात् । ॥ ३४ ॥

यत एव नतः,—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्पि ।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ ३४ ॥

‘तनूभृता’ सत्सारिणा । ‘सम्यक्त्वसम’ सम्यक्त्वेन सम तुल्य ।
‘श्रेय’ श्रेष्ठमुत्तमोपकारक । ‘किञ्चित्’ अन्यत्र नस्ति । यतस्तस्मिन्
सति गृहस्थोऽपि यतेरप्युत्कृष्टता प्रतिपद्यते । कदा तन्नास्ति ? ‘त्रैकाल्ये’
अतीतानायतवर्तमानकालत्रय । तस्मिन् क तन्नास्ति ? ‘त्रिजगत्पि’
आस्ता तावन्नियतक्षेत्रादां तन्नास्ति अपितु त्रिजगत्पि त्रिभुवनेऽपि तथा
‘अश्रेयो’ अनुपकारक । मिथ्यात्वसम किञ्चिदन्यत्रास्ति । यतस्तत्सद्भावे
यतिरपि व्रतसयमसम्पन्नो गृहस्थादपि तद्विपरीतता तदपकृष्टता व्रज-
तीति ॥ ३४ ॥

इत्य (तोऽ) पि सदर्शनमेव ज्ञानचारित्राभ्यामुत्कृष्टमित्याह —

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्मनपुंसकस्त्रीत्वानि ।

दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रता च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥

‘सम्यग्दर्शनशुद्धा’ सम्यग्दर्शन शुद्ध निर्मल येषां ते । सम्यग्दर्शन-
लाभात्पूर्वं बद्धायुष्कान् विहाय अन्ये ‘न व्रजन्ति’ न प्राप्नुवन्ति । कानि ।
नारकतिर्यङ्मनपुंसकस्त्रीत्वानि त्वशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते नारकत्व-
तिर्यक्त्वं नपुंसकत्वस्त्रीत्वमिति । न केवलमेतान्येव न व्रजन्ति किन्तु
‘दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रताच’ अत्रापि ताशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते
ये निर्मलसम्यक्त्वा ते न भवान्तरे दुष्कुले उत्पत्तिं विकृतता काणकु-

अरिपुत्रपुत्रं अस्यापुष्कतामस्तर्मुहूर्तीषापुष्कोत्पत्तिः, दारिद्र्यां दारि-
द्र्योपेतकुलोपत्तिः । कथंमृता अपि पक्षसर्वं व्रजति ' अत्रासिष्य अपि '
अशुभतद्विता अपि,

यद्येते सर्वं न व्रजति तर्हि भवान्तरे कीदृशस्तु भवन्तीत्याह —

ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोबुद्धिविजयविभवसनायाः ।

महाकुला महाभां मानवसिद्धिं भवन्ति दर्शनपूर्ता ॥ ३६ ॥

दर्शनपूर्ता ' दर्शनेन पूता पवित्रिता दर्शनं वा पूतं पवित्रं यद्यं ते
भवन्ति मानवसिद्धिः ' मानवानां मनुष्याणां सिद्धिः मण्डनीमृत्यु मनु-
ष्यप्रधानाश्चर्यः । पुनरपि कथंभूता इत्याह 'ओज' इत्येति ओज उरसाह
तेन प्रताप कान्तिर्वा, विद्या सहजा अहर्षा च बुद्धिः बीर्यं विजिष्टं
सामर्थ्यं यशो विजिष्टा रूपानि बुद्धिः कछत्रपौराणिसम्पत्तिः, विजय
पविभवेनाहमनो गुणोत्कर्षः विभवा धनराज्यश्रेष्ठ्यासम्पत्तिः एते
सनाया सहिता । तथा ' महाकुला महाब कुले च तत्र भवा । ' महार्था '
महत्सोऽर्थो धर्मार्थसमनोऽप्युत्तमाणा ययाम् ॥ ३६ ॥

क्या इन्द्रपदमपि सम्पन्नं ननुत्या एव प्राप्नुवन्तीत्याह —

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविष्टिता प्रहृष्टोमानुष्टाः

अमराप्सरसां परिषाद निरं रमन्त विनेन्द्रभक्ता मयै ॥ ३७ ॥

देवदधीन्य सभायां । विरं बहुमरं पञ्च । रमन्ते ष्टीदन्ति । कथं
मृता ' अष्टगुणपुष्टितुष्टा अष्टगुणा अणिमा मद्विमा अयिमा प्राप्तिः,
प्रहृष्टमयै ईष्टिमे वशिष्टां कामरूपेणमिष्टेन, दृष्टगाल्म च पुष्टिः स्वराती
उभयगान् सरोदोपचितं च तेषां वा पुष्टिः परिपूर्णा च तेषां तुष्टा सर्वश
प्रमुदिताः । तथा प्रहृष्टगामाहृत्य इतरस्य प्रहृत्य उच्यते शोभा
तथा तुष्टा क्षरिता चेराहृत्य क्षरिता इत्या सम्पत्त्यर्थः ॥ ३७ ॥

तथा अष्टगुणपुष्टिपुष्टिः च एव प्राप्नुवन्तीत्याह —

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।

वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥ ३८ ॥

ये 'स्पष्टदृशो' निर्मलसम्यक्त्वा त एव 'चक्र' चक्रस्य रत्न 'वर्तयितुं' आत्माधीनतया तत्साध्यनिखिलकार्येषु प्रवर्तयितुं 'प्रभवन्ति' ते समर्था भवन्ति । कथभूता ? सर्वभूमिपतय सर्वा चासौ भूमिश्च पङ्खण्ड पृथ्वी तस्या पतय चक्रवर्तिन । पुनरपि कथभूता ? 'नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशा' नवनिधयश्च सप्तद्वयरत्नानि सप्ताना द्वय तेन सख्याता चतुर्दश तेषामधीशा स्वामिन । क्षत्रमौलिशेखरचरणा क्षत्रादोषात् त्रायन्ते रक्षन्ति प्राणिनो ये ते क्षत्रा राजानस्तेषा मौलयो मस्तकानि तेषु शिखराणि मुकुटानि तानि चरणेषु येषा ॥ ३८ ॥

तथा धर्मचक्रिणोऽपि सद्दर्शनमाहात्म्याद्भवन्तीत्याह —

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।

दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥ ३९ ॥

'दृष्ट्या' सम्यग्दर्शनमाहात्म्येन । 'वृषचक्रधरा भवन्ति' वृषो धर्म- तस्य चक्र वृषचक्र तद्वरन्ति ये ते वृषचक्रधरास्तैर्यकरा । किं विशिष्टाः ? 'नूतपादाम्भोजा' पादावेवाम्भोजे, नूते स्तुते पादाम्भोजे येषा । कै ? 'अमरासुरनरपतिभि' अमरपतय ऊर्ध्वलोकस्वामिन सौवर्मादयः, असुरपतयोऽधोलोकस्वामिनो धरणेन्द्रादयः, नरपतय तिर्यग्लोकस्वामिनश्चक्रवर्तिन । न केवलमेतैरेव, नूतपादाम्भोजा किन्तु 'यमधरपति- भिश्च' यमं व्रत धरन्ति ये ते यमधरा मुनयस्तेषा पतयो गणधरास्तैश्च । पुनरपि कथभूतास्ते ? सुनिश्चितार्था शोभनो निश्चित- परिसमाप्ति- गतोऽर्थो धर्मादिलक्षणो येषा । तथा 'लोकशरण्या' 'अनेकाविधदु खदा- यिभिः कर्मातिभिरुपद्रूताना लोकाना शरणे साधव ॥ ३९ ॥

तथा मोक्षप्राप्तिरपि सम्यग्दर्शनशुद्धानामेव भवतीत्याह,—

शिवममरमरुजमधुयमभ्यावार्षं विशोकमयशङ्कम् ।

काष्ठागतमुखविद्याविमर्षं विमलं मजन्ति दर्शनशरणा ॥४०॥

‘दर्शनशरणा’ दर्शनं शरणं संसारापायपरिरक्षणं येषां दर्शनस्य वा शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां दर्शनस्य वा शरणं रक्षणं यत्र ते ‘शिवं’ मोक्षं भवन्त्यनुभवन्ति । कथम् अमरं न विद्यते रुजाभ्याधिर्यत्र । अक्षयं न विद्यते कम्बान्तचतुष्टयक्षयो यत्र । ‘अभ्यावार्षं’ न विद्यते दुःखैरूपेण केनचिद्विनिवा निक्षेपण वा आवाधा यत्र । विशोकमयशङ्कं विगता शोकमयशङ्का यत्र । ‘काष्ठागतमुखविद्याविमर्षं’ काष्ठां परमप्रकर्षं गतं प्राप्तं मुखविद्याविभवो निभूतिर्यत्र । ‘विमलं’ विगतं मलं द्रव्यमावरूपकर्म यत्र ॥ ४० ॥

यथाह प्रत्येकं भोक्ते सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्दर्शनाधिकारस्य सम्यग्यो संप्राप्तेनापसङ्गत्य प्रतिपादयन्नाह —

देवेन्द्रचक्रमहिमानमभयमानम्

राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्षनीयम् ।

धर्मेन्द्रचक्रमधरीकुतसर्वलोकम्

लब्ध्वा शिवं च विनमात्कथपेति मध्यं ॥ ४१ ॥

‘शिवं’ मध्यं । उपैति प्राप्नोति । कोऽसौ ? मध्यं सम्यग्प्रति । कथंभूत ? विनमक्ति । विने मक्तिर्यस्य । किं कृत्वा ? लब्ध्वा । कं ? ‘देवेन्द्रचक्रमहिमानं’ देवानामिन्द्रा देवेन्द्रास्तथा चक्रसंघातस्तत्र तस्य वा महिमानं विभूतिमाहात्म्यं । कथंभूत ? अभयमानं अभयं अपर्यन्तं माममस्याभयमानं पूजाकार्णं (१) वा यस्य । तथा ‘राजेन्द्रचक्रं लब्ध्वा’ राजा मित्राभ्यारुहतिनस्तेषां चक्रं अक्रान्ति । किं विनिहा ? अवनीन्द्रशिरोऽ

नयनिधिनमद्वयगन्ताभीशाः सर्वभूमिपतयधरम् ।

सर्वचितुप्रभान्तिस्पष्टशः नृपमालिशेनगच्छन्माः ॥ ३८ ॥

ये 'स्पष्टशः' निवेद्यन्ते स न 'सर्वचितु' च 'सर्वभूमिपतय' च 'नयनिधु'
आत्मा सौन्दर्यात् तत्त्वार्थानिगिह्य तत्त्वार्थं प्रत्यक्षं 'प्रवर्तित' न सम्यक्
भवन्ति । कथं नृपा 'नयनिधु' इत्येव सर्वभूमिपतयधरं नृपमालिशेनगच्छन्मा
तस्या पतयः कथं नृपा । पुनरपि 'नयनिधु' 'नयनिधु' इत्येव
रत्नाभीशा' नयनिधु । नयनिधुगन्तानि नयनिधु द्वयं सौन्दर्यात्
चतुर्दश तेषामभीशा रत्नानि । नयनिधुगच्छन्मा चतुर्दश
नयनिधु रक्षति प्राणिनो य ते क्षत्रा राजानो ॥ भीमयो नम्यन्तानि
तेषु शिखाणि मुकुटानि तानि चरणेषु येषा ॥ ३८ ॥

तथा धर्मचक्रिणोऽपि सदर्शननामक्याद्वर्तित्याह—

अमरामुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिः नूतपादाम्भोजाः ।

दृष्ट्वा मुनिधितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥ ३९ ॥

'दृष्ट्वा' सम्यग्दर्शनमाहात्म्येन । 'वृषचक्रधरा' नयति । वृषो धर्मः
तस्य चक्र वृषचक्रं तद्वर्तित ये ते वृषचक्रधरास्तोत्रधरा । किं विशिष्टा
'नूतपादाम्भोजा' पादाम्भोजे, नूते स्तुते पादाम्भोजे येषा । के ?
'अमरामुरनरपतिभिः' अमरपतय ऊर्ध्वलोकस्यामिन सौम्यादयः,
अमरपतयोऽधोलोकस्यामिनो मरणेन्द्रादयः, नरपतय तिर्यग्लोकस्या-
मिनश्चक्रवर्तिन । न केवलमेतेरेव, नूतपादाम्भोजा किन्तु 'यमधरपति-
भिः' यमः तत्र वर्तते ये ते यमधरा मुनयस्तेषा पतयो गणधरास्तैश्च ।
पुनरपि कथं नृपास्ते 'मुनिधितार्था' शोभनो निधित परिसमाप्ति-
गतोऽर्थो धर्मादिलक्षणो येषा । तथा 'लोकशरण्या' 'अनेकाविधदुःखदा-
यिभिः कर्मरातिभिरुपद्रूताना लोकाना शरणे साधवः ॥ ३९ ॥

तथा मोक्षप्राप्तिरपि सम्यग्दर्शनशुद्धानामेव भवतीत्याह,—

शिवमजरमरुजमक्षयमभ्यासार्थं विशोकमयशङ्कम् ।

काष्ठायतसुखविद्याविमर्षं विमर्षं भजन्ति दर्शनसरणा ॥४०॥

‘दर्शनसरणा’ दर्शने शरणं संसारापामपरिरक्षणं येषां दर्शनस्य वा शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां दर्शनस्य वा शरणं रक्षणं यत्र ते ‘शिवं’ मोक्षं भक्त्यनुभवन्ति । कथम् ‘अक्षयं’ न विद्यते रुजाभ्याभिर्यत्र । अक्षयं न विद्यते कम्मानन्तचतुष्टयक्षयो यत्र । अभ्यासार्थं न विद्यते दुःसंस्मरणेन केनचिद्विदिषा त्रिशेषणं वा आवाचा यत्र । विशोकमयशङ्कं विगता शोकमयशङ्का यत्र । ‘काष्ठायतसुखविद्याविमर्षं’ काष्ठं परमप्रकर्षं गतं प्राप्तं सुखविषयोर्विमर्षो निमूर्तिर्यत्र । विमर्षं विगतं सर्वं द्रव्यमावहक-पदं यत्र ॥ ४० ॥

यथाह प्रत्येकं श्लोके सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्दर्शनाधिकारस्य चक्षुष्यौ संप्रहृष्टेनापतेद्वत्य प्रतिपादयन्नाह —

देवेन्द्रचक्रमहिमानमभेयमानम्
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्षनीयम् ।

धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतमर्षलोकम्

सम्भवा शिवं च जिनमात्करूपैति मय्य ॥ ४१ ॥

‘शिवं’ मूर्ध्नि । ‘तपैति’ प्राप्नोति । कोऽसौ ? मय्य ’सम्यग्दर्शिनः । कथंमृत ? जिनमक्तिः । जिने भक्तिर्यस्य । किं कृत्वा ? सम्भवा । कः ? ‘देवेन्द्रचक्रमहिमानं’ देवानामिन्द्रा देवेन्द्रास्तथा चक्रं संघातस्तत्र यस्य वा महिमानं विमूर्तिमाहात्म्यं । कथंमृत ? अभेयमानं अभेये अपर्यन्ते माममस्याभेयमानं पूजाङ्गानं (?) वा यस्य । तथा ‘राजेन्द्रचक्रं’ सम्भवा राजा मित्राचारवर्तिनस्तोषा चक्रं चाकृत्य । किं विधिः ? अवनीन्द्रशिरोऽ

र्चनीय' अवन्या निजनिजपृथिव्या इन्द्रा मुकुटवद्धा राजानस्तेषा शिरो-
भिरर्चनीय । तथा वर्मेन्द्रचक्र लब्ध्वा वर्मस्योत्तमक्षमादिलक्षणस्य वा
इन्द्रा अनुष्ठातार प्रणेतारो वा तीर्थकरादयस्तेषा चक्र सघातो धर्मिणा
वा तीर्थकृता सूचक चक्र धर्मचक्र । कथभूत ? 'अधरीकृतसर्वलोकं'
अधरीकृत भृत्यता नीतः सर्वलोकस्त्रिभुवन येन । एतत्सर्वं लब्ध्वा
पश्चाच्छिव चोपैति भव्य इति ॥ ४१ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिताया समन्तभद्रस्वामिविरचितो-
पासकाध्ययनटीकाया प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

ज्ञानाधिकारो द्वितीय ।



अथ दशन्नरूपं चतुर्न व्याख्याय ज्ञानरूपं तं व्याख्यातुमाह —

अन्यूनमनतिरिक्तं यायास्तस्य विना च विपरीतात् ।

नि सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ १ ॥

‘वेद’ वेति । ‘यदाहुर्ब्रुवन्ते’ । ‘ज्ञानं भावधुतकृतं’ । के चे ? ‘आगमिनः’
अगामिना । कथं वेद ? ‘नि सन्देहं’ नि शंसयं यथा भवति तथा ।
‘विना च विपरीतात्’ विपरीताद्विपर्ययाद्विनैव विपर्ययस्य बन्धेनेत्यर्थः ।
तथा ‘अन्यूनं’ परिपूर्णं सकलं वस्तुस्वरूपं यदेव ‘तज्ज्ञानं’ न ग्यूनं विकलं
कृत्स्नरूपं यदेव, तर्हि जीवादि वस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि सर्वथा
नित्यस्वरूपेणिकृत्वादेतादिरूपं कल्पयित्वा यदेति तदनिश्चयं निदिष्टं
ज्ञानं भविष्यतीत्यत्राह—‘अनतिरिक्तं’ वस्तुस्वरूपादनतिरिक्तमनाधिकं यदेव
तज्ज्ञानं न पुनस्तद्वस्वरूपादधिकं कल्पनादिस्मिन्नस्ति तं यदेव । एवं
चैतद्विशेषजबतुल्यसामर्थ्याद्यथाभूतार्थवेदकत्वं तस्य संभवति तदर्थं
यति—यायास्तस्य यथावस्थितवस्तुस्वरूपं यदेव तज्ज्ञानं भावधुतं । यद्
पक्षेण ज्ञानस्य जीवाद्यशेषार्थानामशेषविशेषतः केवलज्ञानवत् सात्त्व-
स्थेन स्वरूपप्रकाशनसामर्थ्यसम्भवात् । तदुक्तं —

स्याद्वैतकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने

येन साक्षादनासाद्य ज्ञायस्तस्यैव तमं भवेत् ॥ १ ॥ इति ।

अतस्तदेवानुभर्त्तन्नेनाभिप्रेयं । भवतस्यैव मुख्यतो मुख्यप्रणमूक्तया
स्वर्गापवर्गासाधनसामर्थ्यसंभवात् ॥ १ ॥

तस्य विषयभेदाद्भेदप्ररूपयनाह—

प्रथानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।

बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥ २ ॥

‘बोध समीचीन’ सत्य श्रुतज्ञान । ‘बोधति’ जानाति । क^२ प्रथमानु-
योग । किं पुनः प्रथमानुयोगशब्देनाभिधीयते इत्याह—‘चरित पुराणमपि’
एकपुरुषाश्रिता कथा चरित त्रिषष्टिशलाकापुरुषाश्रिता कथा पुराण तदुभय-
मपि प्रथमानुयोगशब्दाभिधेय । तत्प्रकल्पितत्वव्यवच्छेदार्थमर्थाख्यानमिति
विशेषणं, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यान यत्र येन वा त । तथा पुण्यं
प्रथमानुयोगं हि शृण्वता पुण्यमुत्पद्यते इति पुण्यहेतुत्वात्पुण्य तदनुयोग ।
तथा ‘बोधिसमाधिनिधान’ अप्राप्तानां हि सम्यग्दर्शनादीनां प्राप्तिर्बोधिः
प्राप्तानां तु पर्यन्तप्रापण समाधि ध्यान वा धर्मशुक्ल च समाधि
तयोर्निधान तदनुयोग हि शृण्वता दर्शनादे प्राप्यादिक धर्मध्याना-
दिक च भवति ।

तथा —

अह उद्धृतिरियलोप दिसि त्रिदिस जं पमाणिय भणिय ।

करणाणि तु सिद्ध दीवसमुद्वा जिगगेहा ॥ १ ॥

लोकालोकविभक्तैर्युगपरिवृत्तैश्चतुर्गतीनां च ।

आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥ ३ ॥

‘तथा’ तेन प्रथमानुयोगप्रकरेण । ‘मौर्तिर्मनन श्रुतज्ञान’ । अवैति
जानाति । क^२ ‘करणानुयोग’ लोकालोकविभाग पचसप्रहादिलक्षण ।
कथं भूतमिव^१ ‘आदर्शमिव’ यथा आदर्शो दर्पणो मुखादेर्यथावत्स्वरूप-
प्रकाशकस्तथा करणानुयोगोऽपि स्वविषयस्यायं प्रकाशक । ‘लोकालोक-

१ इय गाथापि ख ग पुस्तकयोर्नास्ति ।

२ मतिज्ञान नश्रुतज्ञानम् इति ग पुस्तके ।

विभक्तेऽ ज्ञेयमन्ते जीवदय पदार्था यथासा लोकजिबत्वारिदशभिकश-
 त्तयपरिमितरम्यपरिमाणः, — तद्विपरितोऽष्टोत्थेऽनन्तमानावच्छिन्नमशु-
 दाकासस्वरूप तयोर्बिभक्तिर्विभागो भदस्तस्या अदर्शमिष तथा 'युग
 परिवृत्ते' युगस्य कासस्योत्सर्पिण्यात् परिवृत्ति परावर्तनं तस्मा अदर्श
 मिष तथा 'अदुर्गतीनां च' नरकतिर्यग्मनुष्यदेवसंस्थानानामदर्शमिष ॥३॥

तथा —

तवचारित्तमुर्षीर्षं किरियाण रिशिसादियाण ।

ववसम्मां सज्जासं संचरणा विउपं पसंसंति ॥ २ ॥

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।

चरणानुयोगसमर्थं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥ ४ ॥

सम्यग्ज्ञानं' भावश्रुतकूपे । वि'पेण ज्ञानाति । के ! चरणानु-
 योगसमर्थं चारित्रप्रतिपादकं व्याख्याचाराणि । कथंभूतं ! चारित्रोत्पत्ति-
 वृद्धिरक्षाङ्गं चारित्रस्योत्पत्तिवृद्धिश्च त्वसाम्बन्धकारण भंगानि वा । चर-
 णानि प्रकल्पन्ते यत्र । केयं तदर्थं ! 'गृहमेध्यनगाराणां' गृहमेधिनः
 भावश्च अन्तारा मुनयस्तेषां ॥ ४ ॥

जीवाजीवसुतत्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।

द्रव्यानुयोगदीपः भुतविद्यालोकमातनुते ॥ ५ ॥

'द्रव्यानुयोगदीपो द्रव्यानुयोगसिद्धा-तसूत्र' त्वमार्थसूत्रादिस्वरूपो द्रव्या-
 न्गम स एव दीप स आतनुते विस्तारयति अक्षेपावक्षेपत प्रकल्पयति ।
 के ! जीवाजीवसुतत्वे' तद्विपरितोऽजीव तावेव
 सोमन बन्धमिषे तत्वे वस्तुस्वरूपे आतनुते । तथा 'पुण्यापुण्ये' सद्रोपशु-
 भासुर्नामगोत्राभि हि पुण्यं ततोऽन्यत्कर्मापुण्यमुच्यते ते च मूढोत्तरप्रद
 विभेदेनाक्षेपविशेषतो द्रव्यानुयोगदीप आतनुते । तथा बन्धमोक्षौ च

तस्य विषयभेदाद्वेदप्ररूपयन्नाह.—

प्रथानुयोगमर्याख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।

बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥ २ ॥

‘बोध समीचीन’ सत्य श्रुतज्ञान । ‘बोधति’ जानाति । क १ प्रथमानु-
योग । किं पुनः प्रथमानुयोगशब्देनाभिधीयते इत्याह—‘चरित पुराणमपि’
एकपुरुषाश्रिता कथा चरित त्रिपष्टिशलाकापुरुषाश्रिता कथा पुराण तदुभय-
मपि प्रथमानुयोगशब्दाभिधेय । तत्प्ररूपितत्वव्यग्रच्छेदार्थमर्याख्यानमिति
विशेषण, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यान यत्र येन वा त । तथा पुण्यं
प्रथमानुयोग हि शृण्वता पुण्यमुत्पद्यते इति पुण्यहेतुत्वात्पुण्य तदनुयोग ।
तथा ‘बोधिसमाधिनिधान’ अप्राप्तानां हि सम्यग्दर्शनादीनां प्राप्तिर्बोधिः
प्राप्तानां तु पर्यन्तप्रापण समाधि ध्यान वा धर्मशुक्ल च समाधिः
तयोर्निधान तदनुयोग हि शृण्वता दर्शनादे प्राप्यादिक धर्मध्याना-
दिक च भवति ।

तथा —

अह उड्ढतिरियलोप दिसि त्रिदिस जं पमाणिय भणिय ।

करणाणि तु सिद्ध दीवसमुद्वा जिग्गेहा ॥ १ ॥

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।

आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥ ३ ॥

‘तथा’ तेन प्रथमानुयोगप्रकरेण । ‘मतिर्मनन श्रुतज्ञान’ । अवैति
जानाति । क १ ‘करणानुयोग’ लोकालोकविभाग पञ्चसप्रहादिलक्षणं ।
कथं भूतमिव १ ‘आदर्शमिव’ यथा आदर्शो दर्पणो मुखादेर्यथावत्स्वरूप-
प्रकाशकस्तथा करणानुयोगोऽपि स्वविषयस्याय प्रकाशक । ‘लोकालोक-

गुणव्रताधिकारस्तृतीय ॥ ३ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

अथ चरित्ररूपे चरित्रे व्याख्यामुदाह —

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञान ।

रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते मायु ॥ १ ॥

‘चरणं’ हिसादिनिवृत्तिच्छृणं चरित्रं । प्रतिपद्यते ’ स्वीकरोति ।
 कोऽसौ ? ‘साधु’र्मय्य । कथंभूत ? अवाप्तसंज्ञान । कस्मात् ? दर्श-
 नलाभात् । तन्नामोऽपि तस्य कस्मिन् सति संज्ञात ? मोहतिमिरापह-
 रणे ’ मोहोदर्शनमोह स एव तिमिरं तस्यापहरणे यथासम्भवमुपशमे
 क्षये क्षयापशमे वा । अथवा मोहो दर्शनचरित्रमाहस्तिमिरं ज्ञानावर-
 णात् तयेरपहरणे । अथमथ — दर्शनमोहापहरणं दशनञ्जाम । तिमि-
 रपहरणं सति दर्शनलाभात्वाप्तसंज्ञानं भवत्यात्मा ज्ञानावरणापगमे हि
 ज्ञानमुत्पद्यमाने सहर्शनप्रसात्तात् सम्बन्धपदेशं कथ्यते तयामृतवात्मा
 चरित्रमाहपगमे चरणं प्रतिपद्यते । किमर्थं ? रागद्वेषनिवृत्त्यै रागद्वेष-
 निवृत्तिनिमित्तं ॥ १ ॥

तस्मिन्निवृत्तावेव हिसादिनिवृत्ते संभवादित्याह —

रागद्वेषनिवृत्तेर्हिसादिनिवृत्तना कृता भवति ।

अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुन्यः सेवते नृपतीन् ॥ २ ॥

हिसादे निवर्तना व्यावृत्तिः कृता भवति । कुत ? रागद्वेषनिवृत्ते ।
 अथमत्र तात्पर्यार्थः — प्रवृत्तरागादिष्वप्यपशमादे हिसादिनिवृत्तिच्छृणं
 चरित्रं भवति ततो भाविरागादनिवृत्तेरेव प्रकृत्यप्रकृत्यस्यदि निवर्तते
 देवसंयतादिगुणस्थाने रागादिहिसादिनिवृत्तिस्तान्दर्शयते यावन्नि-
 वे-

जनः संशये कथः

कृतानुपयोगदीप आतनुते । कर्षं .

निवा मायानुते केवाद्योकः प्रकाशो यत्र तेत् । न कर्मणि

जीवादीनि स प्रकाशयतीति ॥ ५ ॥

इति प्रकाशव्यवस्थितविवेकाणां

कृतानुपयोगदीपस्य विधीयः परिच्छेदः ॥ ५ ॥

गुणव्रताधिकारस्तृतीय ॥ ३ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

अथ चरित्ररूपे धर्मे व्याख्यासुराह—

मोहतिमिरापहरण दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।

रागद्वेषनिवृत्त्यै चरण्य प्रतिपद्यत माधु ॥ १ ॥

‘चरण’ हिमादिनिवृत्तिखण्डनं चरित्रं । ‘प्रतिपद्यत’ स्वीकरोति ।
 कोऽसौ ? ‘साधु’ भव्य । कथंभूत ? अवाप्तसंज्ञान । कस्मिन् ? दर्शन-
 लाभात् । तत्रामोऽपि तस्य कस्मिन् सति संज्ञात ? माहतिमिरापह-
 रणे । मोहोऽन्तःकामाह स एव तिमिरं तस्यापहरणं यथासम्भवमुपशमे
 क्षये क्षयोपशमे वा । अथवा मोहो दर्शनचरित्रमाहस्तिमिरं ज्ञानावर-
 णादि तयापहरणे । अथमथ—दर्शनमाहापहरणं दर्शनलाभः । तिमि-
 रापहरणे सति दर्शनलाभात्वाप्तसंज्ञानं भवत्यस्या ज्ञानावरणापगमे हि
 ज्ञानमुत्पद्यमाने सदृशनप्रसादात् सम्यग्गम्यपदेशं कथ्यते, तथामृतश्चात्र
 चरित्रमाहापगमे चरणं प्रतिपद्यते । किमर्थं ? रागद्वेषनिवृत्त्यै रागद्वेष-
 निवृत्तिनिमित्तं ॥ १ ॥

अस्मिन्निवृत्तावेव हिंसादिनिवृत्ते संभवात्स्यात् —

रागद्वेषनिवृत्तेर्हिमादिनिवृत्तना कृत्वा भवति ।

अनपेक्षितार्थवृत्तिः का पुरुषः संवत् नृपतीन् ॥ २ ॥

हिंसादे निवर्तना व्यावृत्ति-कृत्वा भवति । कुत ? रागद्वेषनिवृत्ते ।
 अयमत्र तात्पर्यार्थः—प्रवृत्तरागादिक्षयोपशमादे हिंसादिनिवृत्तिखण्डने
 चरित्रं भवति ततो माधिरागादिनिवृत्तेरेव प्रवृत्तरागप्रवृत्तमादि निवर्तते
 देशसंयतादिगुणस्याने रागादिर्हिंसादिनिवृत्तिस्तथावर्तते यावन्निःशे-

परागादिप्रक्षयः तस्माच्च नि शेषहिंसादिनिवृत्तिरक्षण परमोदासनितास्वरूप परमोत्कृष्टचारित्र भवतीति । अस्थनार्थस्य समर्पनार्थमर्थान्तरन्यासमाह—अनपेक्षितार्थगृति क पुत्र्य भयने नृपतीन् अनपेक्षिताऽनभिलपिता अर्थस्य प्रयोजनस्य फलस्य गृति प्राप्तिर्येन स तथाभिध. पुत्र्य को नकोऽपि प्रेक्षापूर्वकारी सेवत नृपतीन् ॥ २ ॥

अत्रापर प्राह—चरण प्रतिपद्यत इत्युक्त तस्य तु लक्षण नोक्त तदुच्यता १ इत्याशक्याह—

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्या च ।

पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः सज्ञस्य चारित्रम् ॥ ३ ॥

चारित्र भवति । कासां १ विरतिर्व्याप्ति । केभ्य १ हिंसानृतचौर्येभ्य हिंसादीना स्वरूपकथन स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकार करिष्यति । न केवलमेतेभ्य एव विरति —अपि तु मैथुनसेवापरिग्रहाभ्या । एतेभ्यः कथभूतेभ्य १ पापप्रणालिकाभ्य पापस्य प्रणालिका इव पापप्रणालिका आश्रवणद्वाराणि ताभ्य । कस्य तेभ्यो विरति १ सज्ञस्य ससम्भजानातीति सज्ञ तस्य हेयोपादेयतत्परिज्ञानगता ॥ ३ ॥

तच्चेत्य भूत चारित्र द्विधा भिद्यत इत्याह,—

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसगविरतानाम् ।

अनगाराणा विकलं सागाराणा ससगानाम् ॥ ४ ॥

हिंसादिविरतिलक्षण यच्चरणं प्राक्प्ररूपित तत् सकल विकल च भवति । तत्र सकल परिपूर्ण महाव्रतरूप । केपा तद्भवति १ अनगाराणा मुनीना किंविद्याना सर्वसगविरताना बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहिताना । विकलमपरिपूर्ण अणुव्रतरूप । केपा तद्भवति सागाराणा गृहस्थाना कथभूताना १ ससगाना सग्रन्थानाम् ॥ ४ ॥

एवं विकल्पमेव तावन्नतं म्यायते —

गृहिणा त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिखाप्रवात्मकं चरजम् ।

पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासङ्गमाख्यातम् ॥ ५ ॥

गृहिणा सम्यग्भिद्यत् विकल्पं चरणं तस्मिन्नेना शिप्रकारं तिष्ठति भवति ।
‘विशिष्टं सत् ? अणुगुणशिखाप्रवात्मकं सत् अणुप्रवृत्त्यं गुणप्रवृत्त्यं
शिखाप्रवृत्त्यं सत् । त्रयमेव तत्प्रत्ययकं । यथासङ्गं । पञ्चत्रिचतुर्भेदमा
ख्यातं प्रतिपादितं । तथा हि । अणुप्रवृत्तं पञ्चभेदं गुणप्रवृत्तं त्रिभेदं
शिखाप्रवृत्तं चतुर्भेदमिति ॥ ५ ॥

तत्राणुप्रवृत्तस्य तावत्पञ्चभेदान् प्रतिपादयन्नाह —

प्राणातिपातवितथम्याहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्यः ।

स्पृष्टेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुप्रवृत्तं भवति ॥ ६ ॥

‘अणुप्रवृत्तं’ विकल्पवृत्तं । किं तत् ? व्युपरमणं व्यावर्तनं यत् । हेभ्यः
इत्याह प्राणोत्पादि प्राणानामिन्द्रियादिक्रमविपातधातिपतनं विप्लवकार्यं
विनाशनं । ‘वितथम्याहारश्च’ वितथोऽस्तस्य स चासौ व्याहारश्च शब्दः ।
स्तेयं च चौर्यं । कामश्च मिथुनः । मूर्च्छा च परिमलः मूर्च्छा च ओमारोशश्च
परिगृह्यते इति मूर्च्छा इति व्युत्पत्तेः । तेभ्यः कर्षभूनेभ्यः ? स्पृष्टेभ्यः
अणुप्रवृत्तगारिणो हि सर्वसाधननिरक्षरसंभवात् स्पृष्टेभ्यः एव हिंसादिभ्यो
व्युपरमणं भवति । तर्हि अस्मिन्प्राणातिपाताभिहृतो न स्यात्प्राणातिपा
तश्च । तथा पापादिभवात् परपीडादिफलरामिति मत्वा स्पृष्टादस्त्ययश्च
भिहृतो न तद्विपरितात् । तथाप्यपीडाकृतात् राजाभिवादिना परेण
परित्यक्तश्चप्यन्तर्धात् स्पृष्टाभिहृतो न तद्विपरीतात् । तथा टपाद्या
याश्च पराङ्मनायाः पापभयादिना निहृतो नाप्यथा इति स्पृष्टकृताऽन्य

विनिर्दिष्टः । तथा

वात् परिग्रहसिद्धिः । कथंभूतेभ्यः

पापान्नवगच्छरेभ्यः ॥ ६ ॥

तत्राप्यत्रो व्याख्यातुमाह—

सङ्कल्पात्कृतकारितमननाद्योभत्रयस्य

न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमर्ष

‘चरसत्वान्’ व्रसजीवान् ‘यज हिनास्ते’ तदाहुः

मण । के ते ? निपुणा हिंसादिभिरतिप्रतविचारदक्षाः ।

संकल्पात् संकल्पं हिंसाभिसंध्यमाश्रित्य । कथंभूतात्

कारितानुमननात् कृतकारितानुमननरूपात् । कस्य

त्रयस्य मनोवाक्यत्रयस्य । अत्र कृतवचने कर्तुः

कारितानुविधाने परप्रयोगापेक्षमनुवचनं । अनुमननवचनं

मानसपीरणामप्रदर्शनार्थं । तथा हि मनसा चरसत्वहिंसा

चरसत्वान् हिनस्ती (स्मी) ति मनः संकल्पं न

चरसत्वहिंसामन्य न कारयामि चरसत्वान् हिंसय

प्रयोजको न भवामोत्यर्थं । तथा अन्यं चरसत्वहिंसा

नानुमन्ये सुन्दरमन्येन कृतमिति मनः संकल्पं न

त्यर्थः । एवं वचसा स्वयं चरसत्वहिंसां न करोमि चरसत्वान्

स्वयं वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । वचसा चरसत्वहिंसां न

त्वान् हिंसय हिंसेयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । तथा

कुर्वन्तं नानुमन्ये साधुकृतं त्वयेति वचनं

कायेन चरसत्वहिंसां न करोमि चरसत्वहिंसने

१ संकल्पात्-हिंसाभिसंध्यमाश्रित्य वा पुस्तके । २

३ अनुवचनं वा-पुस्तके । अनुवचनं —

स्वयं कथयाम्यापारं न करोमीत्यर्थः । तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न
कुर्यामि चरसत्त्वहिंसने कायमङ्गया परं नप्रेरयामीत्यर्थः । तथा चरसत्त्व
हिंसां कुर्वन्तमस्य नस्तच्छोटिकादिना कायेन नानुमन्ये । इत्युक्तमहि
च्छुप्रवृत्तम् ॥ ७ ॥

१) सुस्पेक्षानीमतीचाराणाह —

छेदनबन्धनपीडनमतिभारा रोपणं म्यतीचाराः ।

आहारवारणापि च स्पूलवधादभ्युपरतेः पञ्च ॥ ८ ॥

म्यतीचारा विविधा विरूपका वा अतीचारा दोषा । कति ?
पञ्च । कस्य ? स्पूलवधाद्युपरते । कथमस्ति ? छेदनेत्यादि कर्णनासि
कादीनामवयवानामपनयने छेदने । अमिमत्तद्वशे गतिनिरोधे तु बन्धनं
पीडा दण्डकशाद्यमिधात । अतिभारोपणं । स्याप्यभारादधिकभारा-
रोपणं । न केवलमेतत्तदुपयमेव किन्तु आहारवारणापि च आहारस्य भक्ष-
पानच्छजस्य वारणा निषेधो वारणा वा निरोधः ॥ ८ ॥

एवमहिंसाशुभ्रतं प्रतिपाद्येदानीमनृतनिरत्यशुभ्रतं प्रतिपादयन्नाह —

स्पूलमलीकं न वहति न परान् वादयति सत्त्वमपि विपदे ।

यत्तद्वदन्ति सन्तः स्पूलमूपाचाद्वैरमण्यम् ॥ ९ ॥

स्पूलव्यासीमूपाचाद्वैरमण्यं तस्माद्वैरमणं विरमणमेव वैरमणं तद्वदन्ति ।
के ते ? सन्तः सत्पुरुषा । गणधरेवास्तय । तस्मिन् सन्तो वदन्ति किं तत्
अलीकमसत्त्वं । कथमूठे ? स्पूलं परिमृष्टे स्वपरयोर्वचकम्भादिकं रात्रा-
दिभ्यो भवति । तत्सत्यं तावन्न वदति । तथा । परानभ्यान् तथाविधम-
लीकं न वादयति । न केवलमलीकं किन्तु सत्यमपि धोरोऽयमियादि
रूपं न सत्यं वदति न परान् वादयति । किं विशिष्टं पदुर्लभं सत्यं परस्य
विपदेऽप्यक्षय्य भवति ॥ ९ ॥

साम्प्रतं सत्यानुव्रतस्यातीचाराणाहः—

परिवादरहोऽभ्याख्या पैशून्यं

न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च

परिवादो मिथ्योपदेशोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थेऽ

न्यथाप्रवर्तनमित्यर्थः । रहोऽभ्याख्या रहसि एकान्ते

तस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या प्रकाशनं । पैशून्यं

पराभिप्रायं ज्ञात्वा असूयादिना तत्प्रकटनं साकारमन्नमेद

करणं च अन्येनानुक्तमननुष्ठितं यत्किञ्चिदेव तेनोक्तमनुष्ठितं

नानिमित्तं कूटञ्जकरणं कूटलेखक्रियेत्यर्थः । न्यासापहारिता

पुर्विस्मृतसख्यस्याल्पसंख्यं द्रव्यमाददानस्य

एवं परिवादयश्चत्वारो न्यासापहारिता पञ्चमीति

व्यतिक्रमा अतीचारा भवन्ति ॥ १० ॥

अधुना चौर्यविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं

न हरति यश्च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ।

अकृशचौर्यात् स्थूलचौर्यात् । उपारमणं तत् । यत्

नहरति न गृह्णाति । किं तत् ? परस्वं परद्रव्यं । कथंभूतं ?

वा धृतं । तथा पतितं वा । तथा सुविस्मृतं वा अतिशयेन

वा शब्दं सर्वत्र परस्परसमुच्चये । इत्यभूतं परस्वं अविसृष्टं

यत्स्वयं न हरति न दत्तेऽन्यस्मै तदकृशचौर्यादुपारमणं

भ्यम् ॥ ११ ॥

तस्येदानीमतिचारानाह —

चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिथ्याः ।

हीनाधिकविनिमानं पञ्चास्ते ये व्यतीपाताः ॥ १२

अस्तेये चौर्यविरमणे । व्यतीपात्ता अतीचारा पंच भवन्ति । तथा हि । चोरप्रयोग चोरयत् स्वयमेवान्येन वा प्रेरणं प्रेरितस्य वा अन्ये-
नानुमोदनं । चौरार्थादानं च अप्रेरितेनानुमतेन च चोरेणानीतस्यार्थ-
स्यग्रहणं । विद्यापक्ष उचितस्यायादनपेतप्रकारेणार्थस्यादानं विरुद्धराज्या
तिष्ठन् इत्यर्थः विरुद्धराज्ये शास्यमूल्यानि गृह्यार्थाणि द्रव्याणीति ।
सदृशसन्निभश्च प्रतिकपकम्पवहार इत्यर्थः सदृशो ठेकादिना सन्निभं
कृत्यादिकं करोति । कुत्रिमैश्च हिरण्याग्निभिर्बचनापूर्वकं व्यवहारं करोति ।
हीनाधिकविनिर्माणं विविधे मियमेन मानं विनिर्माणं मानोन्माननित्यर्थं
यमं हि प्रत्यादि, उन्मानं तुळादि तन्त्र हीनाधिकं हीनेन अन्यस्मै
ददात्त अधिकेन स्वयं गृह्यतीति ॥ १३ ॥

साम्प्रतम्ब्रह्मविरत्यनुष्ठानस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह —

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च
पापमीतेर्यत् । सा परदारनिवृत्तिं स्वदारस-
न्तोषनामापि ॥ १३ ॥

‘सा परदारनिवृत्तिं यत् परदारान् परिगृहीतानपरिगृहीतान् च स्वयं ‘न
च’ नैव गच्छति । तया परानन्यान् परदारप्रकम्पयन् न गमयति * पर-
दरेण गच्छतो यप्रयोबधति न च * । कुत ? पापमीते पापोपार्जनम
यात् न पुन नृपत्यादिमयात् । न केवलं सा परदारनिवृत्तिरेवोच्यते
किन्तु स्वदारसन्तोषनामापि स्वदारेण सन्तोष स्वदारसन्तोषस्तन्नाम-
कस्या ॥ १३ ॥

कस्यातीचारनाह —

१ परदारान् क-क-पाठः । * पुण्यध्वजो पाठः न-पुस्तके नास्ति ।
२ अपि तु क-ग-पाठः । ३ अस्व क-पाठः । ४ अस्व ग-पाठः ।

इत्वरिक्तागमनं चास्मत्स्व यत्र

‘अस्मत्स्याग्रहानित्यणुव्रतस्य’ पञ्च

अन्येत्यादि कन्यादानं विवाहोऽन्यस्य

आसमन्तात् करणं तच्च अनङ्गक्रीडाश्च अंगं किञ्च

मुखादिप्रवेशे क्रीडा अनङ्गक्रीडा । विटत्वं

विपुलतुषश्च कामतीत्राभिनिवेशः । इत्वरिक्तागमनं

गच्छतीत्येवं शीला इत्वरी पुष्पली कुत्सायां के कुटे

गमनं चेति ॥ १४ ॥

अयेदानीं परिग्रहविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं दर्शयन्नाहः—

घनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृ-

हता । परिमितपरिग्रहः स्वादिच्छापरिमाण-

नामापि ॥ १५ ॥

‘परिमितपरिग्रहो’ देशतः परिग्रहविरतिः श्रुतं स्यात् ।

‘ततोऽधिकेषु’ ‘निस्पृहता’ ततस्तेभ्य इच्छावशात् कृतपरि-

धेभ्योऽधिकेष्वर्थेषु या निस्पृहता वाञ्छान्यावृत्तिः । किं कृत्वा ?

देवगुरुपादाग्रे परिमितं कृत्वा । क ? घनधान्यादिग्रन्थं घनं

क्रीडादि । आदिशब्दादासीदास

दिसग्रहः । स चासौ ग्रन्थश्च तं परिमाय । स च

परिमाणनामापि स्यात्, इच्छाया परिमाणं यस्य स

यस्य स तथोक्तः ॥ १५ ॥

तस्यातिचारानाह —

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारबहनानि ।

परिमितपरिग्रहस्य च विधेया पञ्च लक्ष्यन्ते ॥ १

‘विष्णुपा’ मटीचार । पञ्च ‘अभ्यन्त’ निधीयन्ते । कस्य ? परिमितप
 रिग्रहस्य न केरुष्मसि, यणुव्रतस्य पञ्चासीचारा निधीयन्ते अपि तु परि
 मितपरिग्रहस्यापि । यणुव्रतेऽपि शब्दार्थे । के तस्यासीचारा
 इत्याह — अतिवाहनेत्यादि ओमातिगुह्यस्यर्थे परिग्रहपरिमाणे कृते-
 पुनर्लोमावेशशब्दादतिवाहनं करोति यावन्तं हि मार्गं बभौर्वादयः
 सुखेन गच्छन्ति ततोऽप्यतिरेकेण वाहनमतिवाहनं । अतिशब्द
 प्रत्येकं कामान्तानां सम्भव्यते । इदं धान्यादिक्रममे विशिष्टं क्रमं
 शस्यतीति ओमावेशशब्दविशेषेण तत् संप्रदं कराति । उपरिपञ्चका
 मेन विधीते तस्मिन् मूळतोऽप्यसंप्रदीते बाविकेऽर्थे तदुपायकेन
 क्रमे ओमावेशशब्दविशेषं निपादं करोति । विधिरेऽर्थे क्रमेऽप्य
 विष्णुमाकाशवाहशब्दादतिशोभं करोति । ओमावेशादधिकमाजरोपम
 तिभारवाहनं । त विष्णोपा पञ्च ॥ १५ ॥

एव प्रकृतिपदानि पञ्चाणुव्रतानि निरतिचाराणि किं कुर्वन्तीत्याह —

पञ्चाणुव्रतनिषयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोके ।

यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च उभ्यन्तं ॥ १७ ॥

फलन्ति फलं प्रयच्छन्ति । के ते ? पञ्चाणुव्रतनिषय पञ्चाणुव्रतान्येव
 निषयो निषानानि । कर्तव्यमूतानि ? निरतिक्रमणा निरतिचारा । किं
 फलन्ति ? सुरलोके । यत्र सुरलोकं अभ्यन्ते । अत्रि ? अवधिरवधि
 ज्ञान । अष्टगुणा अष्टिमाद्विमेत्यादयः । दिव्यशरीरं च सप्तपातुविष-
 तितं शरीरं । एतानि सर्वाणि यत्र उभ्यन्ते ॥ १७ ॥

इह लोके किं कस्याप्यहिंसायणुव्रतानुष्ठानफलप्राप्तिरित्य येन फलमे
 कार्यं तदनुष्ठायते इत्याशङ्क्याह —

मार्तयो धनदम्ब्य वारिपेणस्तत परः ।

नीली जयभ संप्राप्ताः पूजातिष्ठयमुचमम् ॥ १८ ॥

हिंसाविरत्यनुव्रतात् मार्तगेन कांक्षणेन

अथ कथाः

सुरम्यदेशे पोदनेपुरे राजा महाबलः ।

अष्टदिनानि जीवामारणघोषणायां कृतायां

सासक्तेन कंचिदपि पुरमपश्यन् राजीयाने

मारयित्वा संस्कार्य भक्षित । राज्ञा च

भेष्टकमारको गवेषयितुं प्रारब्धः । तदुद्यानमागच्छरेण च

तेन स तन्मारणं कुर्वाणो दृष्टः । राज्ञौ च निजभार्यायाः

प्रच्छन्नचरपुरुषेणाकर्ण्य राज्ञः कथितं । प्रभाते

तेनैव पुनः कथितं । मदीयामाज्ञां मम पुत्रः कण्ठयतीति ।

कोट्टपालो भणितो बलकुमारं न चच्छण्डं करयेति तत्तस्ते

णस्थानं नीत्वा मातङ्गमानेतुं ये गता पुरुषास्तान्

नोक्तं प्रिये ! मातङ्गो ग्रामं गत इति कथय त्वमेतेषामभिमुखत्वात्

प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः । तल्लारंश्चाकरिते मातङ्गे ! कथितं

ग्रामं गतं । भणितं च तल्लारः स पापोऽपुण्यवानथ ग्रामं

रमारणात्तस्य बहुसुवर्णरत्नादिलाभो भवेत् तेषां वचनमाकर्ण्य

या तया हस्तसंज्ञया स दर्शितो ग्रामं गत इति पुनः

ततस्तैस्तं गृहानि सार्य तस्य मारणार्थं स कुमारः समर्पितः ।

नास्य (द्य) चतुर्दशीदिने जीवघातं करोमि । ततस्तल्लारैः स

राज्ञः कथितः देव ! अयं राजकुमारं न मारयति । त्वं च राज्ञः

सर्पदष्टो मृतः श्मशाने निक्षिप्तः सर्वोषत्रिमुनिशरिरस्य वास्तुका

वितोऽहं तत्पादौ चतुर्दशीदिवसे मया जीवार्हिंसाप्रत

१ पोदनापुरे क-ग-पाठः । २ राजनीत्यायै क-ग-पाठः । ३ क-ग-
भीतया ग-पाठः ।

न मारयामि देवो यज्जानति तत्करोतु । असृष्ट्याघाण्डाकस्य व्रतमिति संमित्य रुष्टेन राज्ञा ह्यपि गाढं बन्धयित्वा सुमारेन्द्रे निक्षेपितौ । तत्र मातङ्गस्य प्राणस्ययेऽप्यर्हि साव्रतमपरित्यजतो व्रतमाहात्म्यान्मन्त्रेण तया जम्भाम्ये सिंहासनमणिमण्डपिकादुन्दभिषाबुक्तरादिप्रतिहार्यान्तिकं कृतं । महात्मन्मन्त्रेण चैतदाकर्ण्य भीतेन पूजयित्वा निजमध्यप्रदेशे स्नापयित्वा च सूक्त्यो विविधं कृतं इति प्रथमाणुव्रतस्य ।

अनृतविरत्यणुव्रताद्भनदेवश्रेष्ठिना पूजातिशयः प्राप्तः ।

अस्य कथा ।

अन्वृष्टाये पूर्वविदेहे पुष्कल्यवतीविषये पुण्डरीकिण्यां पुत्रीं वणिजौ विनदेवबन्धवौ स्वस्यद्रव्यौ । तत्र धनदेव सत्यवतीं द्रव्यस्य कामं श्रवण्यर्धमर्धं गुह्यम्याज इति नि साक्षिर्वा व्यवस्था कृत्वा दूरदेशं गतौ शुद्धद्रव्यमुपार्ज्य व्यापुत्र्य कुशलेन पुण्डरीकिण्यामात्पातौ । तत्र विनदवो कामार्थं (वं) धनदेवाय न ददाति । स्तोत्रद्रव्यमैकित्येन ददाति ततो वक्रट्टेके म्याये च सति स्वजनमहाजनराजाभ्यो निःसाक्षिकम्यबहुरव्यविनदेवो वदति न मयाऽस्य कामार्थं भणितमुचितमेव भणितं । धनदेवश्च सत्यमेव वदति ह्योरधमेव । ततो राजनियमात्तयोर्द्रव्यं दत्तं धनदेव द्रुहो मेतर ततः सच द्रव्यं धनदेवस्य समर्पितं तया सर्वं धृतं साबुकरितमेति द्वितीयाणुव्रतस्य ।

अनौर्वविरत्यणुव्रताद्वारियेणेन पूजातिशयः प्राप्तः । अस्य कथा जितिकरणगुणम्यारम्भानप्रगाहके 'कथितेह दृष्टव्येति तृतीयाणुव्रतस्य' ।

१ विष्णुस्मृत्ये पाठः य पुस्तके । २ सिंहासनमणिमण्डपिकादुन्दभिषाबुक्तरादिप्रतिहार्यान्तिकं कृतं पाठः । ३ स्वापयित्वा य च असृष्टयो विविधं कृतः इति पाठः । ४ कृतकंति पाठः । ५ तत्र इति मुहुः ।

शान्तिः ।

अथवाः अथवा ।

देवदेवे भुवःपते त्वया वसुधाः ।

पुत्री नीली कमलसूत्रेण रूपवती । तस्मात्परः मेही
 दत्ता पुनः सागरदत्तः । एकदा महापूजार्थं वसन्तौ
 सर्वाभरणविभूषिता नीलीमाळोन्मय सागरदत्तेनोक्त
 तदाकर्ण्य तन्निशेण प्रियदत्तेन मणितं—जिनदत्तमेहि
 तद्रूपाञ्जलीनादतीवासक्तो भूत्वा कथमिदं प्राप्स्यस इति
 तस्या दुर्बलो जातः । समुद्रदत्तेन वैतदाकर्ण्य
 मुक्त्वा नान्यस्य जिनदत्तो ददातीनां पुत्रिकां परिभृतं ।
 श्रावको जातो परिणीता च सा ततः पुनस्तौ बुद्धभक्तौ
 पितृगृहे गमनमपि निषिद्धं, एवं बन्धवेजाते मणितं
 न जाता कूपादौ वा पतिता यमेन वा नीला इति । नीली च
 बहुभा भिन्नगृहे जिनधर्ममनुष्ठतीति वरुणप्रद
 नादा कालेनेयं बुद्धभक्ता भविष्यतीति सर्वाञ्जोष्य
 नीली-पुत्रि । शानिना वन्दकानामस्मदर्थं भोजनं देहि ।
 कानामामंत्र्याहूय च तेषामेकैका प्राणहितातिपिष्टा
 भोक्तुं दत्ता । तैर्भोजनं मुक्त्वा गच्छन्निः प्रष्टुं-क प्राणहिताः
 भवन्त एव ज्ञानेन जानन्तु यत्र तास्तिष्ठन्ति यदि पुनर्जने
 वमनं कुर्वन्तु भवतामुदरे प्राणहितास्तिष्ठन्तीति । एवं वमनं
 प्राणहितास्त्वपि । ततो रुष्टश्च स्वशूरपक्षजनः । ततः
 गिन्वा विवर्जिता असत्यपरपुरुषदोषोद्भावना कृता । तस्मिन्

गते सा नीलै देशाग्रे संगृहीत्वा क्षयास्तर्गेण स्थिता दोषोत्तरे भोज-
नादौ प्रवृत्तिर्मम नान्यथेति । तत कुमितनगरदेवतया भागत्य
उद्यौ सा मणित्वा- हे महासति । मा प्राणस्यागमेन कुम्भं अहं
एष प्रचानान्य पुरजनस्य स्वप्नं दहामि । अग्रा यथा नगरप्रतोष्यः
क्षीयित्वा महासती वामचरणेन सशृङ्खल उद्धरिष्यन्तीति ताव प्रमाते
ममचरणं स्पृष्ट्वा एवं वा उद्धरिष्यन्तीति पार्श्वेन प्रतोष्यी स्पर्शं कुर्यात्स्व-
मिति मणित्वा राजादीनां तथा स्वप्नं दर्शयित्वा पवनप्रतोष्यी क्षीयित्वा
स्थिता सा नगरदेवता प्रमाते क्षीयित्वा प्रतोष्यीर्हृत्वा राज्यादिनिस्तं स्वप्नं
स्पृष्ट्वा नन्दरक्षीचरणत्पादनं प्रतोष्यीन्य चरितं । न वैक्यपि प्रतोष्यी क्षया-
न्विन्दुद्धरिता । सर्वासां पद्माक्षीस्यै तत्रोत्थिष्य नौता । तवरणस्यर्थात्
सर्वा अन्वुद्धरिता प्रतोष्यः, निर्देष्टा राजाविष्णुविता श्रीमै नाथ क्षतुर्पा-
शुक्तस्य ।

परिमृद्भिरत्यनुक्ताभ्यः पूजाविशयं प्राप्तः ।

अस्य कथा

कुलङ्गमाख्येहो ॥ स्तिनागपुरे कुलङ्गो राजा सोमप्रभ पुत्रो जय परिमित-
परिमृद्भो मार्यास्तुलोचनायामेव प्रवृत्तिः । एकदा पूर्वविधाभरमवकपनान्तरं
समायातदूर्जन्मर्षिषो हिरण्यधर्मप्रभाज्यी विधाभरकपमादाय च
मेर्ष्यौ बन्धनामर्षिः कृत्वा कैलासगिरी भरतप्रतिष्ठापितक्षुर्बिशतिवि-
नक्षत्रान् बन्धितुमायातौ सुलोचनाजयौ । तद्यस्तान् च सौवर्मेन्द्रेण
ज्यस्य स्वर्गे परिमृद्भपरिमाणस्तप्रसंसा कृता । तं पराक्षितु रतिप्रभदेवः
सम्प्राप्त । तत क्षीरकपमादाय भूतसुमि विष्वाक्षिनीमि सह जयस
मीपं गत्वा मणितो जयः । सुलोचनास्वर्गवरे येन त्वया सह संग्राम कृतः
तस्य ममिविधाभरपते राज्ञीं सुकृपाभिमनयोवनां सर्वविधाभारिणी

तद्विस्तृप्तिमिच्छ यदि तस्य

कर्णं जयेनोक्त हे सुन्दरि ! मैत्रं ब्रूहि पश्यति ?

ततस्तया जयस्योपसर्गे महति हृतेऽपि पितं

मुपसंहृत्य पूर्ववृत्तं कथयित्वा प्रसन्नं वञ्चादिभिः

इति पञ्चाणुव्रतस्य ॥ १८ ॥

एवं पञ्चानाम्पञ्चादिव्रतानां प्रत्येकं गुणं

तानां हिंसायुपेतानां दोषं दर्शयिमाह;—

धनश्रीसत्यधोषौ च तापसारकामपि ।

उपाख्येयास्तया स्मभ्रुनवनीतो वचनमद्व ॥

धनश्री श्रेष्ठिनी हिंसातो बहुप्रकारं दुःखफलमनुमृतं ।

हितेनामृतात् । तापसेन धौर्यात् । तारककेन कोटपाकेन

भावात् । ततोऽतप्रमवदु खानुमवने उपाख्येया इत्यन्तत्वेन

के ते । धनश्रीसत्यधोषौ च । न केवलं एता एव किन्तु

कावपि । तथा तेनैव प्रसिद्धप्रकारेण स्मभ्रुनवनीतो वचनः,

परिग्रहनिवृत्त्यभावतो बहुतरदु खमनुमृतं । यथाक्रमे

हिंसादिविरत्यभावे एते उपाख्येयाः प्रतिपाद्याः । तत्र धनश्री

बहुदु खं प्राप्ता

अस्या कथा ।

छाटदेशे भृगुककच्छपत्तने राजा लोकपाल ।

धनश्री मनागपि जीववधेऽविरता । तत्पुत्री

गुणपाल । अत्र काले धनश्रिया यः

कुण्डलो नाम बालक पोषित, धनपाले मृते तेन सह धनश्री

स्था जाता । गुणपाले च गुणदोषपरिज्ञानके जाते धनश्रिया

तया भणित प्रसरे गोधनं चारयितुमटव्या गुणपाले प्रेक्षयामि

एव मारय पेनाययोर्निरंकुशमकस्थानं भवतीति मुखाणां मस्तरमाकर्ण्य
सुन्दर्या गुणपात्रस्य कथितं—मथ राशौ गोधनं गृहीत्वा प्रसरे त्वाम्भट्म्या
प्रेषयित्वा कुण्डलहस्तेन माता मारयिष्यत्यतः सावधानो भवेत्त्वमिति ।
घनश्रिया च रात्रिपश्चिमप्रहरे गुणपात्रो भाणितो हे पुत्र कुण्डलस्य चरीरं
विरूपकं वर्तते अतः प्रसरे गोधनं गृहीत्वा त्वं ब्रजेति । स च
गोधनमष्टम्यां नीत्वा काष्ठं च बल्लेण पिबाय तिरोहितो भूत्वा स्थितः ।
कुण्डलेन चागस्त्य गुणपात्रेऽयमिति मत्वा वक्त्रप्रच्छदितकाष्ठे पात कृतो
गुणपात्रेण च स बल्लेण हत्वा मारितः । गृहे आगतो गुणपात्रो घनश्रिया
पुनः च रे कुण्डलं तेनोक्तं कुण्डलमार्तामर्यं साङ्गैऽभिजानाति । ततो
रक्षितं बाहुमात्रेण्य स तेनैव बल्लेन मारितः । तं च मारयन्ती घ-
नश्रियं च्छा सुन्दर्या मुशलेन सा हत्वा । कोक्याहले जाते कोक्याहले घनश्री
कृत्वा राशौऽप्रेनीत्वा । राशौ च गर्दभातोहणे कर्णनासिकालोचनादिनिग्रहे
क्षरिते भूत्वा दुर्गतिं गतेति प्रथमाणुक्तस्य ।

सत्यचोपोऽमृताश्चक्षुः प्राप्तः ।

इत्यस्य कथा ।

बेङ्गलीये भरल्लेने सिहपुरे राजा सिंहसेनो राज्ञी रामदेव,
पुरोहितं श्रीभूतिं स ब्रह्मसूत्रे कर्तिकं बध्ना भजति । वदति
च यथस्तथं ब्रवीमि तदाऽनया कत्रिकया निबन्दिष्याम्येदं करोति
(मि) । एवं कपटेन वर्तमानस्य तस्य सत्यधोप इति द्वितीये नाम
संज्ञातः । कोक्याश्च विष्वक्तास्तत्पार्श्वे ब्रह्मं धरन्ति च । तत्राप्ये किञ्चि-
त्तेषां समर्थं स्वयं गृह्णाति । पूर्यते च विभेति ओक्तः । न च पूर्यते
राजा शृणोति । अथैकदा पञ्चलण्डपुरादागत्य समुद्रदत्तो बणि-
पुत्रस्तत्र सत्यधोपपार्श्वेऽनर्षीणि पञ्च माणिक्यानि धृत्वा परतीरे
ब्रह्ममुपार्बभिक्षुं गतः । तत्र च तदुपार्बं व्याघ्रटितं स्फुटितप्रवाह्य

तमागत्य प्रपन्नः शक्तं यो सत्यघोषं पुरोहितः ।
 वार्जनादित्यं ब्रह्मन्वीक्षात् इति मत्वा वानि मया
 समर्पितानि राजादानीं प्रसादं कृत्वा ददहि ।
 मत्तद्वर्षं समुद्धरामि । तद्वचनमगच्छन् वपटेन
 बन्धित्वा जगत् भगिता मया प्रपन्नं यद् भगितं
 जातं । तैस्तुक्तं भवन्त एव जानन्त्यव
 सार्यतामित्युक्त्वा तैः समुद्रदत्तो गृहाभित्तो
 मण्यमानः । पत्तने पूकारं कुर्वन्
 गृहीतानि तथा राजगृहसमीपे विष्णुसङ्काशे
 कुर्वन् बष्मसान् स्थितः तां पूजति मया
 सिंहसेन — देव ! नायं पुरुषः प्रहियः । सद्यपि भगितं किं
 चौर्यं संभाव्यते ? । पुनस्तुक्तं रात्र्या देव ! संभाव्यते तस्य
 यमेतादृशमेव सर्वदा बचनं ब्रवीति । एतदाकर्ण्य भगितं
 सत्यघोषस्यैतत् संभाव्यते तदा त्वं परीक्षयेति । छत्रादेस्तथा
 सत्यघोषो राजसेवार्थमागच्छन्नाकार्यं पृष्टः—किं
 ब्राह्मणीभ्राताय प्राधूर्ण्यं समायातस्ते मोक्षयस्ते
 ज्ञेयेति । पुनरप्युक्तं तथा—क्षणमेकमत्रोपविश ममातिक्रान्तुं
 कुर्मः । राजापि तत्रैवागतस्तेनाप्येवं
 कृतोऽप्युक्ते क्रीडया संजाते रामदत्तया
 भगित्वा भगिता सत्यघोषं पुरोहितो रात्रीपत्न्ये तिष्ठति तेभ्यः

माणिक्यानि याचितुं प्रेषितं तद्वासाप्यग्रे भणित्वा तानि याचयित्वा च क्षीममागच्छेति । ततस्तथा गत्वा याचितानि । तद्वासाप्या च पूर्वं सुखी निपद्यता न दत्तानि । तद्विष्णुसिन्ध्या भागस्य देविकर्णे कथितं सा न ददातीति । ततो ब्रितमुद्रिक्च तस्य सामिद्धानं दत्ता पुन प्रेषित्वा त्वयि त्वया न दत्तानि । ततस्तस्य कर्त्रिक्च यज्ञोपवीतं ब्रितं सामिद्धानं दत्तं दर्शितं च । तया वासाप्या तदर्चनादुद्धया भीतया च तया समर्पितानि माणिक्यानि तद्विष्णुसिन्ध्या । तया च रामन्ताया समर्पितानि । तया च राज्ञो दर्शितानि । तेन च बहुमाणिक्यमप्य निक्षेप्यात्कार्यं च प्रदिक्षे भवितुं रे निष्माणिक्यानि परिहाय गृहाण । तेन च तथैव गृहीतेषु तेषु राज्ञा रामन्तया च पुत्र प्रतिपन्न । ततो राज्ञा सत्यघोषं पृष्ट—इदं कर्म त्वया कृतमिति । तमोक्तं देव । न करोमि किं ममेवमं कर्तुं शुभ्यते । ततोऽतिस्वेन तेन राज्ञा तस्य दण्डप्रत्ये कृत । गोमयमृत्तं माननत्रयं मध्यम, मृत्तमुद्रिक्चातं वा सहस्त्रं, द्रव्यं वा सर्वं दद्वि । तेन च पर्याज्जप्य गोमयं छादि शुमारब्धं । तदशक्तेन मुद्रिक्चातं सक्षिप्तमारब्धं । तदशक्तेन द्रव्यं दातु मारब्धं । तदशक्तेन गोमयमक्षयं पुनर्मुद्रिक्चात इति । एवं दण्डप्रत्यमनुमय मृत्वातिष्ठोमब्रह्माज्ञानक्रीयभागागरे भगवन्तसर्पो आतः । तदपि मृत्वा दीप्तसंसारी आत इति द्वितीयप्रत्यस्य ।

तापसधौर्याद्वह्नुं च प्राप्त ।

इत्यस्य कथा ।

तत्स्यदेसे कौशाम्बीपुरी राजा सिंहरोपो राज्ञी विजया । तत्रैकधीर कौटिल्येन तापसो भूत्वा परभूमिमसृग्दशकम्बमान शिष्यस्यो दिवसे पेषाग्निसाधनं करोति । तत्र च कौशाम्बी मुद्रिक्चा विष्ठति । एकदा महाजनान्मुष्टे मगरमाकर्ष्य राज्ञा कोटपात्रे भणितो रे

हे ब्राह्मणः प्राणसन्देहो नस्ति ।
 एतद्वचनमाकर्ण्य बृहद् ब्राह्मणेन कुतस्ते प्राणसन्देहो
 तेन । तदाचम्य पुनः पृष्ठं ब्राह्मणेन—अत्र किं
 व्यस्ति ? उक्तं तच्छारेण—अस्ति विशिष्टतपस्वी, न च
 व्यस्यते । भविष्यति ब्राह्मणेन स एव चौरो भविष्यति
 श्रूयतामत्र मदीयां कथां—मम ब्राह्मणी महासती
 तीति निजपुत्रस्याप्यतिकुक्कुटात् कर्पटेन सर्वं शरीरं
 रात्रौ तु गृहपिण्डारेण सह कुक्कुटं करोति ।
 वैरोम्याऽहं सर्वकार्यं सुवर्णशलाका वंशयष्टिमध्ये
 यात्रायां निर्गत । अग्रे गच्छतश्च ममैकमनुजो
 विश्वासं गच्छाम्यहं यष्टिरक्षां यस्ततः करोमि ।
 संगे विभर्मि । एकदा रात्रौ कुम्भकारगृहे निद्रां कृत्वा दूराद्गत्वा
 स्तके लभं कुथिततृणमालोक्यातिकुक्कुटे ममाग्रतो, हा हा मया
 णमदत्तं प्रसितमित्युक्त्वा व्याघ्रुटप तृणं तत्रैव कुम्भकारगृहे
 दिवसावसाने कृतभोजनस्य ममागत्य मिळितः । भिक्षार्थं
 तिश्चिरयमिति मत्वा विश्रसितेन मया यष्टि
 रिता । ता गृहीत्वा स गतः (२) । ततो मया महाटव्यां
 सिवृद्धपक्षिणोऽतिकुर्कुटं दृष्टं यथा एकस्मिन् महति वृक्षे
 पक्षिगणो रात्रावेकेनातिवृद्धपक्षिणा निजभाषया भणितो
 पुत्राः । अहं अतीव गन्तुं न शक्नोमि

: भक्षणं करोमि चित्चापस्यादतो म

प्रमाते बध्ना सर्वेऽपि गच्छन्तु । ऐश्वर्यं हा हा तात ! पितामहस्त्वं किं
 वत् संभाष्यते ? तेनोक्तं—“ मुमुक्षितः किं न करोति पापं ” इति ।
 ६ प्रमाते तस्य पुनर्बचनात् तन्मुखं बध्ना गता । स च बद्धो गतेषु
 राज्ञ्यां मुखाद्वचने दूरीकृत्वा तद्वाक्यान् मञ्चयित्वा तेषामागमन-
 मये पुनः शरणाभ्यां बन्धनं मुखे संयोज्याति कुकुटेन क्षीणोदरो मूत्रा-
 त्यत (३) । एतां नगरगतेन चतुर्थमतिकुर्कुटं दृष्टं मया यथा
 च नगरे एकधौरस्तपस्विस्त्वं भूत्वा बृहच्छिष्यः च मत्सकस्योपरि
 त्स्याम्यान्मुखं गृहीत्वा नगरमध्ये दिवा रात्रौ चातिकुकुटेनापसरपादं
 दामीति भजन् भ्रमति । ‘अपसरजीवेति’ चासौ मत्सकसर्वजनैर्मज्यते ।
 ३ च गर्वादिविजनस्थाने दिगबळोक्तं कृत्वा सुवर्णमूपितमेकाकिनं
 नमनन्तं तथा शिष्या मारयित्वा तदभ्यं गृह्णाति (४) । इत्यतिकुर्कु-
 टक्षुब्धमाखेक्य मया लोकोऽयं कृतः—

अवालस्पद्यका नारी ब्राह्मणस्तृप्तिस्तकः ।

बने काष्ठसुखः पक्षी पुरेऽपसरजीवकः ॥ इति

इति कथयित्वा तकारं जीरयित्वा सन्ध्यायां ब्राह्मणं शिष्यस्तपस्विसमीपं
 गत्वा तपस्विप्रतिचारकैर्नैर्भाष्यमाणोऽपि रात्र्यन्धो भूत्वा तत्र पतिवैक्येशे
 स्थितः । ते च प्रतिचारकश्च रात्र्यन्धपरीक्षणार्थं तृणकंदुकमगुत्वादिकं
 तस्याक्षिसमीपं नमन्ति । स च पश्यन्मपि ॥ पश्यति । बृहद्रात्रौ गृहा-
 याम्भक्षणे नगरद्वयं ध्रियमाणमाखेक्य तेषां खानपानप्रदिकं नाखेक्य
 प्रमाते राज्ञा भार्यमाणस्तत्परोरक्षितः तेन रात्रिदृष्टमावेद्य संशिकस्यतपस्वी
 धौरस्तेन तकारेण बहुकदर्धनादिभिः कदर्धमानो भूत्वा दुर्गतिं गतस्तृतीय-
 यजतस्य ।

अरक्षिणाऽग्राहनिदृश्यभावाद्बुद्धं प्राप्तम् ।

आहीरदेशे नाशिकनगरे राज्य

यमदण्डस्तस्य माता बहुसुन्दरी तरुणरुषा पुष्पा

समर्पिताभरणं गृहीत्वा रात्रौ संकीर्तयज्जगत्पार्श्वे ~~गच्छन्~~
सेविता चैकान्ते । तदाभरणं चानीय तेन ।

भणितं—मदीयमिदमाभरणं, मया-स्वभूहस्ते धृतं ।

चिन्तितं या मया सेविता सा मे जननी भविष्यति । ततस्तस्या

गत्वा तां सेवित्वा तस्यामासक्तो गूढवृत्त्या तया सह

तद्भार्यया असहनादिति कृष्टया रजक्या कथितं । मम मर्त्य

तिष्ठति । रजक्या च मालकारिण्या कथितं । अतिविभक्ता

च कनकमाला राज्ञीनिमित्तं पुष्पाणि गृहीत्वा मता, तया

कुतूहलेन, जानासि हे कामप्यपूर्वा भार्या । तया

राक्षस्य देवि : यमदण्डतलरो निजजनन्या सह तिष्ठति ।

च राज्ञः कथितं । राज्ञा गूढपुष्पद्वारेण तस्य कुर्मन् निमित्तं

गृहीतो दुर्गतिं गतः चतुर्यव्रतस्य ।

परिग्रहनिवृत्त्यभावात् स्मश्रुनवनीतेन बहुतरं दुःखं प्राप्तं ।

अस्य कथा ।

अस्त्ययोध्यायां श्रेष्ठी भवदत्तो भार्या घनदत्ता पुत्रो
बाणिज्येन दूरं गतः । तत्र स्वमुपाजितं तस्य चौरैर्नैतं ।

तेन मार्गे आगच्छता तत्रैकदा गौदुहः तर्कं पातु
तर्के पीते स्तोत्रं नवनीतं कूर्चेल्लग्नमालोक्य गृहीत्वा चिन्तितं तेन
यं भविष्यत्यनेन मे, एवं च तत्संचितं तत् स्वस्य स्मश्रुनवनीत-
नाम जातं । एवमेकदा प्रस्थप्रमाणे धृते जाते धृतस्य भाजनं

पूत्वा शीतकाष्ठे तृणकुटीरकक्षरे अग्निं च पादान्ते कृत्वा रात्रौ संस्तरे
पतिष्ठः संचिन्तयति अनेन धृतेन बहुतरमर्थमुभार्य सार्यबाहो मूत्वा
सामन्तमहासामन्तराब्जधिराजपदं प्राप्य क्रमेण सकलचक्रवर्धं भवि-
ष्यमि यदा तदा च मे सप्ततन्त्रप्रसादे शम्पागतस्य पादान्ते समुपनिष्टं
कीरत्नं पादौ मुञ्चन् प्रहीष्यति न जानासि पादमर्दनं कर्तुमिति स्नेहेन
माफ्मिन् कीरत्नमेवं पादेन ताडयिष्यामि एवं चिन्तयित्वा तेन चाक्रवर्त-
रुपाविष्टेन पादेन हत्वा पातितं तद्वृत्तमाश्रमं तेन च धर्तेन हरसंशुद्धि-
सोऽग्निः सुखं प्रज्वालितः । ततो हरं ज्वलिते निसर्तुमशक्तो दग्धो
धृतो दुर्गतिं गतः । इच्छाप्रमाणरहितपञ्चमव्रतस्य ॥ १८ ॥

यानि चेमानि पञ्चाशुव्रताप्युक्तानि मद्यादिप्रयत्यागसमन्वितान्यष्टौ
मूल्याना भवन्तीत्यह —

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाशुव्रतपञ्चकम् ।

अष्टौमूलगुणानाहुर्गृहिण्यां भ्रमणोत्तमा ॥ २ ॥

गृहिण्यामष्टौ मूल्यानाहुः । के ते ? भ्रमणोत्तमा जिना । किं तत् ?
अशुव्रतपञ्चकं । के सह ? 'मद्यमांसमधुत्यागैः' मद्यं च मांसं च मधु च
तेषां त्यागास्तैः ॥ २० ॥

एवं पञ्चप्रकारमशुव्रतं प्रतिपाद्येदानीं त्रिप्रकारं गुणव्रतं प्रतिपादय-
न्ताह —

दिग्व्रतमनर्घदम्भव्रतं च भोभोपभोमपरिमाणम् ।

अनुर्गृह्णामुपानामास्मान्ति गुणव्रतान्याथाः ॥ २१ ॥

"आरम्भान्ति" प्रतिपादयन्ति । कानि ? "गुणव्रतानि" । के ते ?
"भोभोपभोमपरिमाणम्" गुणैर्गुणवर्तिर्नामार्थस्ते प्राप्यन्त इत्यर्थास्तीर्थस्वरूपद्वयः । किं
तद्व्रतव्रतं ? "दिग्व्रतं" दिग्भिरस्ति । न केवलमेतदेव किन्तु "अनर्घदम्भ-

पुत्रव्रतं चानर्थदण्डविरतिं । तथा

इति भोगोऽशनयानगन्धमास्यादिः पुनः

भरणयानजपानादिस्तयोः परिमाणं

श्रीणि कस्माद्गुणव्रतान्युच्यन्ते “अनुवृत्तव्रतं”

“गुणानाम्, अष्टमूलगुणानाम्” ॥ २१ ॥

तत्र दिग्व्रतस्वरूपं प्ररूपयन्नाह,—

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽष्टं मर्दिनं

इति सङ्कल्पो

‘दिग्व्रत’ भवति । कोऽसौ ? ‘सङ्कल्पः’ । कथं भवति ?

यास्यामीत्येव रूप । किं कृत्वा ? ‘दिग्वलयं परिगणितं’

र्यादं कृत्वा । कथं ? ‘आमृति’ मरणपर्यन्तं यावत् ।

पविनिवृत्तैः सूक्ष्मस्यापि पापस्य विनिवृत्त्यर्थम् ॥ २२ ॥

तत्र दिग्वलयस्य परिगणितत्वे कानि मर्यादा इत्याह.

मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदभोजनानि

प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥ २३ ॥

प्राहुर्मर्यादा । कानीत्याह—‘मकराकरे’त्यादि मकराकरे

सारितश्च नद्यो गगाद्या, अटवी दंडकारण्यादिका,

जनपदो देशो वराट वापीतटादि, योजनानि

ने । किं विशिष्टान्येतानि ? प्रसिद्धानि

प्रसिद्धानि । कासां मर्यादाः ? दिशा ।

दशाना । कस्मिन् कर्तव्ये सति मर्यादाः ? प्रतिसंहारे

न यास्यामीति व्यावृत्तौ ॥ २३ ॥

एवं दिग्व्रतव्रतं धारयतां मर्यादातः परतः

१ स्त्रीजनोपसेवनारि ॥ २ ॥

अथैर्बहिरनुपापप्रतिविरतेर्दिग्भवतानि धारयताम् ।

पञ्चमहाव्रतपरिणतिमनुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ २४ ॥

अनुव्रतानि प्रपद्यन्ते । अत्र 'पञ्चमहाव्रतपरिणति' । केषां । धारयतां ।
अनि । दिग्भवतानि । कुतस्तत्परिणतिं प्रपद्यन्ते । अनुपापं प्रति विरते
सूक्ष्ममतिपापं प्रति विरते व्याहृते । कः बहिः । कस्मात् । अथै
कृतमर्षादाया ॥ २४ ॥

उया तेषां उत्परिणतात्परमपि हेतुमाह —

प्रत्याख्यानतनुत्वात्मन्दतरावरणमोहपरिणामाः ।

सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥ २५ ॥

'वरणमोहपरिणामा' भावरूपाश्चरित्रमोहपरिणतयः । 'कल्प्यन्ते' उप
कर्ष्यन्ते । किमर्थं । महाव्रतनिमित्तं । कथमूता सन्तः । 'सत्त्वेन' 'दुर
वधारा' अस्तित्वेन महाव्रता कष्टेनावधार्यमाणा सन्तोऽपि तेषुस्तिब्धेन
कल्पितं न दृश्यन्त इत्यर्थः । कुतस्ते दुरवधारा । 'मन्दतरा' अतिश-
येनालुलुप्य । मन्दतरात्मन्येषां कुतः । प्रत्याख्यानतनुत्वात् प्रत्याख्या
मक्षम्येन प्रत्याख्यानवरणा । द्रव्यश्लेषमानमायाछोमा गृह्यन्ते नानैक-
हेत्ते हि प्रवृत्ता शब्दा नाम्न्यपि वर्तन्ते भीमान्निबत् । प्रत्याख्यान
हिंसाविष्येन हिंसाविबिरतिच्छृण संयमस्तदाहृणन्ति ये ते प्रत्याख्याना-
वरणा द्रव्यश्लेषादयः यदुदये ह्यात्मा कात्स्न्यात्तद्विरतिं कर्तुं न शक्येति
अतो द्रव्यरूपादीनां श्लेषादीनां तनुत्वात्प्रन्देस्यत्वाद्भावरूपाणां मन्दत-
रत्वं सिद्धं

ननु कुतस्ते महाव्रताय कल्प्यन्ते ततः साध्यान्महाव्रतरूपा मयन्ती-
त्याह —

पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवच कायैः ।

कृतकारितानुमोदैस्स्यागस्तु महाव्रत महताम् ॥ २६ ॥

“त्यागस्तु” पुनर्मर्त्यं
 ना” । कथंमृतानां “प्राणानां”
 “मनोवच कथैः । तैरपि कैः कृत्वा त्यागः
 मर्थः—हिंसादीनां मनसा
 कथेन चेति । केषां तैस्त्यागो मर्त्यं
 तिनां विशिष्टमनाम् ॥ २६ ॥

इदानीं दिग्विरतिव्रतस्यातिव्यापारान्तरं
 उर्ध्वाधस्तादिर्व्यवस्थितानां
 विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः
 “दिग्विरतेरत्याशा” अतीचारा. “पञ्च
 हि । अज्ञानात् प्रमादाद्वा
 विशेषेणातिक्रमणनि श्रय । तथाऽज्ञानात् प्रमादाद्वा
 व्यावधारण । तथाऽ‘बधीनां’ दिग्विरतेः
 मिति ॥ २७ ॥

इदानीमनर्थदण्डव्रतं विरतिव्रतं गुणव्रतं
 अभ्यन्तरं दिग्वधेरपार्थिकेभ्यः
 विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतपराक्रमः ॥ २
 ‘अनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतं’ । के ते ?
 यतीनां मध्येऽग्रण्य प्रधानभूतास्तीर्थकरदेवादयः । ‘विरमणं’
 केभ्यः ? ‘सपापयोगेभ्यः’ पापेन सह योगः सम्बन्धः
 सह वर्तमानेभ्यः पापोपदेशानर्थदण्डेभ्यः किं विशिष्टेभ्यः
 केभ्यः ? निष्प्रयोजनेभ्यः । कथं तेभ्यो विरमणं ? ‘अभ्यन्तरं’
 दिग्वधेरभ्यन्तरं यथा भवत्येवं तेभ्यो विरमणं । अतएव

मेव । तद्वदेते हि मर्यादातो बहि पापोपदेशादिविरमणं अनर्थदण्डविर-
तिरते तु ततोऽप्यन्तरेतद्विरमणं अथ के ते अनर्थ दण्डा यतो विरमणं
स्यादित्याह

पापोपदेशादिसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च ।

प्राहुः प्रमादवर्ज्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥ २९ ॥

ईडा इव दण्डा अद्भुतमनोवाक्यक्या परपीडाकरत्वात्, तान् धरन्ती
स्पर्शवरा गणधरेषादप्यस्ते प्राहुः । कान् ? अनर्थदण्डान् । कति ।
पञ्च । क्यमित्याह पापेत्यादि । पापोपदेशश्च हिंसादानं च अपध्यानं
च दुःश्रुतिश्च एतावत्तल्लः प्रमादवर्ज्या चेति पञ्चमी ॥ २९ ॥

अत्र पापोपदेशस्य तावत् स्वरूपं प्रकल्पयामाह —

तिर्यक्छेदवधिष्यादिसारम्मप्रलम्भनादीनाम् ।

कथाप्रसङ्गप्रसङ्गः स्मर्यम्य पाप उपदेशः ॥ ३० ॥

स्मर्यम्यो ज्ञातव्यः । कः ? पापोपदेश पाप पापोपार्जनोत्पदेश
कर्ममूढः । कथाप्रसङ्गः कथानां तिर्यक्छेदादिबार्तानां प्रसङ्गः पुनः पुनः
प्रवृत्तिः । किं विधिः ? प्रसङ्गः प्रसृत इति प्रसङ्गः उत्पादकः ।
केनाभिधायि—तिर्यगित्यादि तिर्यक्छेदश्च इतिदमनादिः, बाणिज्या च
वपिना कर्म क्यविध्यादि, हिंसा च प्राणिबधः, आरम्भश्च कृष्यादि,

१ अनर्थदण्डः पञ्चवाक्यध्यायपापोपदेशप्रमादाविरतिहिंसाप्रदानादुःश्रुतिमे-
कम् ॥ अन्तरितवन्निष्पन्नमभ्यन्तरमन्त्रितु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः ॥
उपधा-अस्मिन् देशे राजा राज्ञः शुद्धमात्माभ्यर्तुं देशं गीत्वा निजवाङ्मते मन्त्र-
नैक्यमो मन्त्रोक्तिं क्षेत्रवधिष्या । गोमदिध्यायीन्सुप्त एतौवाङ्मन्त्रं देशे व्यवहारे
क्षते मुरितित्तम्य इति तिर्यग्विध्या । बाणुरिकसैतद्विध्यात्तु निजविध्याः सु-
प्राह-बहुन्तप्रकृतोऽभुविध्या देशे उन्तीति वचनं वचनोपदेशः । आरम्भकर्म
कृषीवधविध्याः क्लृप्तुद्वयधनपञ्चनवसप्तवारभ्योऽनेवोपादेन कर्तव्य इत्यादि-
व्यन्तरमन्त्रोपदेशः । इत्येव अन्तर पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः ।

प्रसम्भनं च वचनं तानि आदिर्येव

तेषाम् ॥ ३० ॥

अथ हिसादाने किमित्याह,—

वधहेतूनां दानं हिसादानं ब्रुवन्ति

‘हिसादानं ब्रुवन्ति’ । के ते ? ‘बुधा’

‘दानं’ । यत्केषां ? ‘वधहेतूनां’ हिसादानानां ।

स्याह—‘परशिव’त्यादि । परशुष्य कृपाण्य सगित्री

च क्षुरिकालकुटादीनि शृंगि च विष साम्भनं

येषां ते तथोक्तास्तेषाम् ॥ ३१ ॥

इदानीमपध्यानस्वरूपं व्याख्यातुमाह,—

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाद्य परकलत्रादेः

आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने

‘अपध्यानं शासति’ प्रतिपादयन्ति । के ते ? ‘विश्व’

क ? ‘जिनशासने’ । किं तत् ? ‘आध्यानं’ चिन्तनं ।

वच्छेदादेः , । कस्मात् ? ‘द्वेषात्’ । न केचन द्वेषादपि

कस्य ? ‘परकलत्रादेः’ ॥ ३२ ॥

साम्प्रतं दु श्रुतिस्वरूपं प्ररूपयन्माह,—

आरम्भसङ्गसाहसमिध्यात्वद्वेषरागमदमनैः

चेतःकलुषयतां श्रुतिवर्षीनां दुःश्रुतिर्मपति

‘हृ-भुतिर्भवति’ । कसौ ‘भुतिः’ अवर्णः । केयं ‘अवर्णीनां’ शास्त्राणां किं कुर्वन् ‘कलुषयत्ता’ मञ्जिनयत्ता । किं तत् ‘चेत’ कोपमानमायाको-
मायाविहं चित्तं कुर्वतामित्यर्थः । कैः कलुषेत्याह—‘आरभेत्यादि आर-
भश्च कलुषादिः संगश्च परिग्रहः क्त्वा प्रतिपादनं वार्ता मीतौ विधीयते
‘कृषिः पशुपालनं वाणिज्यं च वार्ता’ इत्यभिधानात्, साहसं चात्पशुतं
हर्षं वीरकथायां प्रतिपाद्यते, मिथ्यात्वं चाद्वैतमिथ्यादिप्रमाणविरु-
द्धार्थप्रतिपादकशब्देन क्रियत इत्येव विद्वेषीकरणादिशब्देनाभिधीयते-
तामश्च वशीकरणादिशब्देन विधीयते, मदश्च वर्णानां शास्त्रजो गुह्यरित्या-
दिप्रमाणाभावे, मदमश्च रसिगुणविकासपक्षक्यादिशास्त्रावुक्तयो भवति तैः
एतैः कृत्वा चेत् कलुषयत्तां शास्त्राणां भुतिर्दुःभुति र्भवति ॥ ३३ ॥

अनुन्य प्रमादचर्यास्वरूपं निरूपयन्त्याह,—

सितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदः ।

सरणं सारणमपि च प्रमेदचर्या प्रमापन्ते ॥ ३४ ॥

‘प्रमापन्ते’ प्रतिपादयन्ति । कां ? ‘प्रमादचर्या’ । किं तदित्याह ‘सि-
तित्यादि । सितित्वं सलिलं च दहनश्च तेषामरम्भं सितिसन्ननसलिलप्र-
क्षेपण-दहनप्रमाद-पवनकरणच्छेदः । किं विसिद्धे ? ‘विफलं’ निष्प्र-
योजनं । क्त्वा वनस्पतिच्छेदं विफलं । न केवळमेतदेव किन्तु, ‘सरणं’
‘सारणमपि’ सरणं स्वयं निष्प्रयोजनं पर्यटने सारणमन्यं निष्प्रयो-
जनं गमनप्रेरणं ॥ ३४ ॥

एवमनर्पदण्डविरतिव्रतं प्रतिपादयामी तस्यातीचारान्ताह,—

कन्दर्पं कौतुक्यं मौख्यमतिप्रसाधनं पश्य ।

असमीक्ष्य चापिकरणं व्यतीतयोजन्यदण्डकुदिरतेः ॥ ३५ ॥

१ प्रयोजनमन्तरेणपि कृत्वाविच्छेदन-गुणिकुहन-सलिलच्छेदनपवनप्रमे-
वैरतिव्रतं कथ्यते ॥

व्यतीतयोऽतीतारा भवन्ति । निष्प्रयोजनं दण्डं दोषं कुर्वन्निष्प्रयोजनं दण्डं
 र्यस्य तस्य । कति २ पंच ।
 भण्डिमाप्रधानो वचनप्रयोगः कंदर्पः, प्रह्लादः,
 तत्तायव्यापारप्रयुक्तं कौतुक्यं, बाह्यप्रार्थ
 तार्थेनोपभोगोपरिभोगौ भवतस्ततोऽधिकस्य
 चत्वारि, असमीक्ष्याधिकरणं पंचमं असमीक्ष्य
 क्येन कार्यस्य करणमसमीक्ष्याधिकरणं ॥ ३५ ॥

साम्प्रतं भोगोपभोगपरिमाणलक्षणं

अक्षार्यानां परिसंख्यानं

अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥ ३६ ॥

‘भोगोपभोगपरिमाणं’ भवति । किं तत् २ ‘अपरिसंख्यानं’
 केषां २ ‘अक्षार्यानां’ मिन्द्रियविषयाणां । कथं भूतानामपि तेषां
 तामपि सुखादिलक्षणप्रयोजनसंपादकानामपि अथवा अर्थवतां
 मपि श्रावकाणां । तेषां परिसंख्यानं किमर्थं २ ‘तनूकृतये’
 णार्थं । कासां २ ‘रागरतीनां’ रागेण विषयेषु रागोद्वेगेण
 कथ्यस्तासां । कस्मिन् सति २ अवधौ विषयपरिमाणे ॥ ३६ ॥

अथ को भोग कश्चोपभोगो यत्परिमाणं क्रियते

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च

उपभोगोऽश्ननवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः

१ भोगसंख्यानं पंचविधं

मनुष्यासं सदा परिहर्तव्यं त्रसणात् प्रति निवृत्तचेतसा । १

कार्यविवेकसंमोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहाच्च अनुष्ठेयं ।

‘पंचेन्द्रियाणामयं’ पंचेन्द्रियाणां विषय । ‘मुक्त्वा’ परिहातव्य, स्थाप्यः स
योगोऽद्यनुष्णमंधविच्छेदनप्रभृतिः । य पूर्व मुक्त्वा पुनश्च मोक्तव्यः स
उपयोगो वसनाभरणप्रभृति वसनं वस्त्रम् ॥ ३७ ॥

‘मदाग्निमोमरूपोऽपि असञ्जनबुधहेतुत्वाद्यनुभवधारिभिस्त्याज्य इत्याह —

असहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिष्टितं प्रमादपरिहृतये ।

मयं च वर्जनीयं जिनचरणौ धरणमुपपातैः ॥ ३८

वर्जनीयं । किं तत् ? ‘क्षौद्रं’ मधु । तथा ‘पिष्टितं’ । किमर्थः ?
‘असहतिपरिहरणार्थं’ असानां क्षीम्रियादीनां हृतिर्बध्नस्तत्परिहरणार्थं । तथा
‘मयं च वर्जनीयं’ । किमर्थः ? ‘प्रमादपरिहृतये’ मात्सा भार्येति विवेक-
मात्रा प्रत्यक्षस्य परिहृतये परिहारार्थं । हेतुत्ववर्जनीयः । धरणमुपपातैः
धरणमुपपातैः । को ? जिनचरणौ ब्रह्मकेतस्त्याज्यमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

तथैतदपि तैस्त्याज्यमित्याह,—

अल्पफलबहुविधास्तान्पूज्यमाह्वयि भङ्गवेराणि ।

नवनीतनिम्बकुसुमं केतकमित्येवमबहेबम् ॥ ३९ ॥

‘अबहेय’ त्याज्य । किं तत् ? ‘पूज्यं’ । तथा ‘भङ्गवेराणि’ भार्ये
काणि । किं विधिष्ठानि ? ‘आह्वयि’ अपह्वयि । तथा नवनीतनिम्ब
कुसुमित्युपलब्धान् सफलकुसुमविशेषाणां तेषां केतकं केतक्या इदं केतकं
गुबरा इत्येवं, इत्यादि सर्वमबहेयं कस्मात् ‘अल्पफलबहुविधास्तान्’
‘अल्पं फलं’ फल्पास्तावत्फलं बहूना असञ्जीवानां विधातो विनाशो बहु
‘विधातः’ अल्पफलभासो विधातश्च तस्मात् ॥ ३९ ॥

प्राप्तुकमपि यदेवंविधं तस्याज्यमित्याह,—

१ केतकवर्जितपुष्पादीनि बहुबन्धुबोनिस्त्याज्यानि भङ्गवेरयूज्यमपि तान्पूज्य
माहोत्थनन्तकवन्धवदद्यादपि एतेऽमुपपद्यन्ते बहुपातीत्यन्तकमिति तत्परिहार
भेदात् ।

यदेनिष्ट तदव्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जज्ञात् ।

अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रत भवति ॥ ४० ॥

‘यदेनिष्ट’ उदरशूलादिहेतुतया प्रकृतिसात्म्यक यन्न भवति ‘तद्व्रतयेत्’
व्रत निवृत्तिं कुर्यात् त्यजेदित्यर्थः । न केवलमेतदेव व्रतयेदपितु ‘यच्चानु-
पसेव्यमेतदपि जज्ञात्’ यच्च यदपि गोमूत्र करमृदुग्ध गव्यचूर्ण ताम्बूलोद्व-
लाला-मूत्र-पुरीष-लेष्मादिकमनुपसेव्य प्रामुक्तमपि शिष्टलोकानां
स्वादनायोग्य एतदपि जज्ञात् व्रत कुर्यात् । कुत एतदित्याह—अभिसन्धि-
त्यादि अनिष्टया अनुपसेव्यतया च व्यावृत्तेर्योग्याद्विषयादभिसन्धिकृताऽ-
भिप्रायपूर्विका या विरति सा यतो व्रत भवति ॥ ४० ॥

तच्च द्विधा भिद्यत इति —

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे ।

नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ ४१ ॥

भोगोपभोगसंहारात् भोगोपभोगयोः सहारात् परिमाणात् तमात्रित्वे ।
द्वेधा विहितौ द्वाभ्या प्रकाराभ्या द्वेधा व्यवस्थापितौ । कोऽनियमो
यमश्चेत्येतौ । तत्र को नियम कश्च यम इत्याह—नियम परिमितकालो
वक्ष्यमाण परिमित कालो यस्य भोगोपभोगसंहारस्य स नियम । यमश्च
यावज्जीवं ध्रियते ।

तत्सहारलक्षणनियम दर्शयन्नाह —

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु ।

ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसगीतगीतेषु ॥ ४२ ॥

१ शातवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यम् ।
२ न ह्यसति अभिसन्धिनियमे व्रतमितीष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेशाभरणा-
दीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यः ।

अथ दिवा रत्ननी वा पक्षो मासस्तयर्जुरमनं वा ।

इति कालपरिच्छिन्त्या प्रत्याख्यानं मयेभियमः ॥ ४३ ॥

मुगळ । नियमो मयेत् । किंत् ॥ प्रत्याख्यानं । क्या । कछपरि
छिन्त्या । तामेव कछपरिच्छिति दर्शयन्नाह—अथेत्यादि अथेति प्रम-
त्मानाष्टिकाप्रहरादिकछणकाछपरिच्छिन्त्या प्रत्याख्यानं । तथा दिवेति ।
रत्नं रात्रिरिति वा । पक्ष इति वा । मास इति वा । ऋतुरिति वा
मासद्वयं । अयनमिति वा पञ्चमसा । इत्येवं कछपरिच्छिन्त्या प्रत्या-
ख्यानं । केचित्त्याह—भोजनेत्यादि भोजनं च, बाहनं च घोटकादि,
शयनं च पत्न्यहारादि, स्नानं च, पवित्राङ्गरागच पवित्रवासानङ्गरा-
गच कुसुमादिविकेयनं । उपछष्टजमेतद्वचनविक्रमादीनां पवित्रविशेष-
भाषेयापन्यनार्थमौपभाषाङ्गरागो निरस्तः । कुसुमानि च तेषु विषयम्
तेषु । तथा ताम्बूलं च वसनं च बद्धं भूषणं च कटकादि मन्मथ
कस्तेवा संगीतं च गीतनृत्यवादित्रयं गीतं च केवलं नृत्यवापरहितं
तेषु च विषयेषु अथेत्यादिरूपं कछपरिच्छिन्त्या प्रत्याख्यानं स नियम
इति व्याख्यातम् ॥ ४२-४३ ॥

भोगोपभोगपरिमाणस्येदानीमतीचाराणाह —

विषयविपक्षोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिसौख्यमति

रूपाऽनुमद्यो । भोगोपभोगपरिमा व्यतिक्रमा

पञ्च कथ्यन्ते ॥ ४४ ॥

भोगोपभोगपरिमाणं तस्य व्यतिक्रमा अतीचारा पञ्च कथ्यन्ते । के-
ते इत्याह विषयेत्यादि विषय एव विषं प्राणिनां दाहसंतापादिनिवारि-
त्वात् तेषु ततोऽनुपेक्षा उपेक्षायास्त्यागस्याभावाऽनुपेक्षा चादर इत्यर्थः ।
विषयवेदना प्रतिकारार्थो हि विषयानुभवस्तस्माच्छ्रुतीकारे चातोऽपि
पुनर्यस्तंभापणाभिगनाद्यादर शोऽस्यासकिञ्चनकारादतीचारः । अनुस्मृ-

शिक्षाव्रताधिकारश्चतुर्थः ।



साम्प्रतं शिक्षाव्रतस्वरूपप्रकरणार्थमाह —

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोपधोपवासो वा ।

वैसाङ्ग्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि सिद्धानि ॥ १ ॥

शिद्यनि प्रतिपादितानि । कानि ? शिक्षाव्रतानि । कति ? चत्वारि
कस्मात् ? देशावकाशिकमित्यादिचतुःप्रकारसद्भावात् । वाच्योऽत्र पर
स्परप्रकारसमुच्चये । देशावकाशिकादीनां कर्ण स्वयमेवाग्रे प्रत्यक्षः
करिष्यति ॥ १ ॥

उत्र देशावकाशिकस्य तावद्वर्णनं —

देशावकाशिकं स्वात्कासपरिच्छेदनेन देवस्य ।

प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विद्यास्य ॥ २ ॥

देशावकाशिकं देशे मर्याद्रीकृतवेद्यमभ्येऽपि स्तोत्रप्रदेशेऽवकाशो
मित्यवकाशमन्तस्यानं सोऽस्यास्तीति देशावकाशिकं शिक्षाव्रतं स्यात् ।
कोऽसौ ? प्रतिसंहारो व्यावृत्तिः । कस्य ? देशस्य । कर्णेनूतस्य ?
विद्यास्य बहो । केन ? काव्यपरिच्छेदनेन दिवसादिकव्यवसायादि ।
कर्णे ? प्रत्यहं प्रतिदिनं । केन ? मणुव्रतानां कर्णमि सूत्राणि व्रतानि
येषां तेषां ब्रह्मकाणामित्यर्थः ॥ २ ॥

अथ देशावकाशिकस्य का मर्यादा इत्याह—

गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च ।

देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीमा तपोबुद्ध्याः ॥ ३ ॥

तपोवृद्धाश्विरन्तनाचार्या गणधरदेवादय । सीम्ना स्मरन्ति मर्यादाः
प्रतिपाद्यन्ते । सीम्नामित्यत्र “ स्मृत्यर्थदयीणा कर्म ” इत्यनेन षष्ठी ।
केषां सीमाभूताना २ गृहहारिप्रामाणा हारि कटक । तथा क्षेत्रनदी
दावयोजनाना च दावो वन । कस्यैतेषा सीमाभूताना देशावकाशिकस्य
देशनिवृत्तिव्रतस्य ।

एव द्रव्यावधिं योजनावधिं प्रतिपादयन्नाह—

संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च ।

देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥ ४ ॥

देशावकाशिकस्य कालावधिं कालमर्यादं प्राहुः । प्राज्ञः गणधरदेवा-
दयः । किं तदित्याह संवत्सरमित्यादि संवत्सर यावदेतावत्येव देशे
मयाऽवस्थातव्य । तथा ऋतुरयनं वा यावत् । तथा मासचतुर्मासपक्षं
यावत् । ऋक्षं च चन्द्रमुक्त्या आदित्यमुक्त्या वा इदं नक्षत्रं यावत्

एवं देशावकाशिकव्रते कृते सति ततः परतः किं स्यादित्याह—

सीमन्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसत्यागात् ।

देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥ ५ ॥

प्रसाध्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते । कानि २ महाव्रतानि । केन २ देशाव-
काशिकेन च न केवलं दिग्विरत्यापि देशावकाशिकेनापि । कुतः २
स्थूलेतरपञ्चपापसत्यागात् स्थूलेतराणि च तानि हिंसादिलक्षणपञ्चपापानि
च तेषां सम्यक् त्यागः । कः २ सीमान्तानां परतः देशावकाशिकव्रतस्य
सीमाभूता ये ‘अन्ताधर्मा’ गृहादयः संवत्सरादिविशेषा तेषां वा अन्ताः
पर्यन्तास्तेषां परतः यस्मिन् भागे इदानीं तदतिचारान् दर्शयन्नाह—

प्रेषणशद्धानयनं रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ ।

देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥ ६ ॥

अस्यया अतिवारा । पंच व्यपदिश्यन्ते कथ्यन्ते । के ते इत्याह—
 प्रेपणोत्पादि मर्यादीकृते देशे स्वयं स्थितस्य ततो बहिर्दिर् कुर्मिति
 विनियोग प्रेपणं । मर्यादीकृतदेशादबहिर्मर्यापारं कुर्मत कर्मकरान् प्रति
 आकृष्टाणादि शब्दः । तदेषादबहि प्रयोजनवशादिदमानयेत्याज्ञापन-
 मानयनं । मर्यादीकृतदेशे स्थितस्य बहिर्देशे कर्म कुर्मता कर्मकराणां
 स्वविग्रहप्रदर्शनं रूपाभिम्यक्ति । तेषामेव ज्येष्ठादिनिपात पुत्रछेप ॥६॥
 एवं देशावकाशिकरूपं शिक्षाप्रतं व्याख्यातेशानी सामायिकरूपं
 व्याख्यातुनाह,—

आसम्यमुक्ति मुक्तं पञ्चाषानामज्ञेयभावेन ।

सर्वत्र च सामयिकाः सामायिकं नाम शंसन्ति ॥ ७ ॥

सामयिकं नाम स्फुटं शंसन्ति प्रतिपादयन्ति । के ते ? सामयिकाः
 समयमागमं बिन्दन्ति ये ते सामयिका गणपरत्वेवाहयाः । किं तत् ?
 मुक्तं मोचनं परिहरणे यत् तत् सामयिकं । केयं मोचनं ? पञ्चाषानां
 हिंसादिपञ्चपापानां । कथं ? आसम्यमुक्ति वक्ष्यमाणसंज्ञासमयमोचनं
 आसम्यमुक्तिवक्ष्य गृहीतनिष्पन्नकामुक्ति यावदित्यर्थः । कथं तेषां मोचनं ?
 अज्ञेयभावेन समाह्वयेन न पुनर्देशत । सर्वत्र च अज्ञेयः परमज्ञो च अनेन
 देशावकाशिप्यदस्य मेह प्रतिपादित ॥ ७ ॥

आसम्यमुक्तिमत्र य समयशब्द प्रतिपादितस्तदर्थं व्याख्यातुमाह—

मूर्धस्त्वमुष्टिवासोऽन्यं पर्य्यकचन्धनं चापि ।

स्यानसुपवेक्षनं वा समय जानन्ति समयज्ञाः ॥ ८ ॥

समयज्ञा आगमज्ञाः । समयं जानन्ति । किं तत् ? मूर्धस्त्वमुष्टिवासो
 अन्यं वक्ष्यमाहः प्रत्येकमसिम्बद्वयते मूर्धस्त्वमुष्टिवासो केताना अन्यं वक्ष्य
 काष्ठं समयं जानन्ति । तथा मुष्टिस्त्वं वासोअन्यं वक्ष्यमाह पयहूर्ध्वधनं

चापि उपविष्टकायोत्सर्गमपि च स्थानमूर्ध्वकायोत्सर्ग उपवेशन वा सामान्येनोपविष्टावस्थानमपि समय जानन्ति ॥ ८ ॥

एव विवे समये भवत् यत्सामायिक पंचप्रकारपापात् साकल्येन व्यावृत्तिस्वरूप तस्योत्तरोत्तरा वृद्धि कर्तव्येत्याह —

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च ।

चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥ ९ ॥

परिचेतव्य वृद्धि नेतव्य । किं तत् ? सामायिक । क ? एकान्ते स्त्रीपशुपाण्डुविवर्जिते प्रदेशे । कथभूते ? निर्व्याक्षेपे चित्तव्याकुलतारहिते शीतवातदेशमशकादित्राधावर्जित इत्यर्थ इत्यभूते एकान्ते । क ? वनेषु अटवीषु, वास्तुषु च गृहेषु, चैत्यालयेषु च अपिशब्दाद्विरिगव्हरादिपरिग्रह । केन चेतव्य ? प्रसन्नधिया प्रसन्ना अविक्षिप्ता धीर्यस्यात्मनस्तेन अथवा प्रसन्नासौ वीश्च तया कृत्वा आत्मना परिचेतव्यमिति ॥९॥

इत्यभूतेषु स्थानेषु कथं तत्परिचेतव्यमित्याह —

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या ॥

सामयिकं व्रणीयादुपावासे चैकमुक्ते वा ॥ १० ॥

व्रणीयादनुतिष्ठेत् । किं तत् ? सामयिक । कस्या ? विनिवृत्त्या । कस्मात् ? व्यापारवैमनस्यात् व्यापार कायादिचेष्टा वैमनस्य मनोव्यप्रता चित्तकालुष्य वा तस्माद्विनिवृत्त्यामपि सत्या अन्तरात्मविनिवृत्त्या कृत्वा तद्व्रणीयात् अन्तरात्मनो विकल्पश्च विशेषेण विनिवृत्त्या । कस्मिन् सति तस्या तद्व्रणीयात् ? उपवासे चैकमुक्ते वा ॥ १० ॥

इत्थं भूत तर्कि कदाचित्परिचेतव्यमन्यथा चैत्यत्राह —

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेत्तव्यं ।

व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन ॥ ११ ॥

केतव्यं वृद्धिं नेतव्यं । किं ? सामायिकं । कदा ? प्रतिदिनसमपि न पुनः कदाचित् पूर्वं दिवसे एव । कथं ? यथावदपि प्रतिपादितस्वरूपानतिप्रमेयेन । कथंभूतेन ? अनन्तसेनाऽऽद्यात्मसहितेन तद्यत्तेनेत्यर्थः । तथाऽनघान्त्युत्तेनैकाग्रचेतसा । कुतस्तदित्यं परिचेतव्यं ? अतपंचकपरिपूरणकर्मणं पतुः अतान्यं हि सविरत्नादीनां पंचकं तस्य परिपूरणं परिपूरणत्वं महाप्रत्यक्षत्वं तस्य कारणं यथोक्तसामायिकानुव्रतमन्त्रे हि अणुव्रतान्यपि महाप्रत्यक्षं प्रतिपद्यन्तेऽतस्तत्कारणं ॥ ११ ॥

एतदेव समर्थयमानं प्राहः—

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।

केलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिमार्गं ॥ १२ ॥

सामयिके सामायिकप्रवृत्त्या । नैव सन्ति न विद्यन्ते । के ? परिग्रहा सङ्गाः । कथंभूताः ? सारम्भाः कृष्यात्पारम्भसहिताः । कति ? सर्वेऽपि “ बाह्यामन्त्राभेतनेतरादिकृपा ” वा । यत एव उक्तं याति प्रतिपद्यते । कं ? यतिमार्गं यतिवत्त्वं । कोऽसौ ? गृही आचरन् । कदा ? सामायिकप्रवृत्त्या । कदा ? केलोपसृष्टमुनिरिव केलेन बलेन उपसृष्ट उपसर्गबलाद्वेष्टितं स चासी मुनिश्च स इव तद्वत् ॥ १२ ॥

तथा सामयिके स्वीकृतवन्ता ये तेऽपरमपि किं कुर्वन्तीत्याह —

शीतोष्णदृष्टमक्षरपरीषद्भुपसर्वमपि च मौनधराः ।

सामायिकं प्रतिपद्या अभिकुर्वीरभ्यस्तयोगा ॥ १३ ॥

अभिकुर्वीरम् सहैरभित्यर्थः । के त ? सामयिकं प्रतिपद्या सामायिकं स्वीकृतवन्तः । किं विशिष्टाः सन्तः ? अक्षरयोगा स्थिरसमाधयः प्रविष्टाऽनुष्ठानापरिषागिनो वा । तथा मौनधरास्त्वनुष्ठानं सत्यान्वितादिबन्धनानुधारकाः । कमभिकुर्वीरमित्याह—शीतोष्ण

चापि उपविष्टकायोत्सर्गमपि च स्थानमूर्ध्वकायोत्सर्गं उपवेशनं वा सामान्येनोपविष्टावस्थानमपि समय जानन्ति ॥ ८ ॥

एव विधे समये भवत् यत्सामायिक पंचप्रकारपापात् साकल्येन व्यावृत्तिस्वरूप तस्योत्तरोत्तरा वृद्धि कर्तव्येत्याहः—

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च ।

चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥ ९ ॥

परिचेतव्य वृद्धि नेतव्य । किं तत् ? सामायिक । क ? एकान्ते स्त्रीपशुपाण्डुविवर्जिते प्रदेशे । कथभूते ? निर्व्याक्षेपे चित्तव्याकुलतारहिते शीतवातदेशमशकादिवाधावर्जित इत्यर्थ इत्थभूते एकान्ते । क ? वनेषु अटवीषु, वास्तुषु च गृहेषु, चैत्यालयेषु च अपिशब्दाद्विरिगव्हरादिपरिग्रह । केन चेतव्य ? प्रसन्नधिया प्रसन्ना अविक्षिप्ता धीर्यस्यात्मनस्तेन अथवा प्रसन्नासौ वीक्ष्य तया कृत्वा आत्मना परिचेतव्यमिति ॥ ९ ॥

इत्थभूतेषु स्थानेषु कथ तत्परिचेतव्यमित्याह —

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या ॥

सामयिकं वधीयादुपावासे चैकभुक्ते वा ॥ १० ॥

वधीयादनुतिष्ठेत् । किं तत् ? सामयिक । कस्या ? विनिवृत्त्या । कस्मात् ? व्यापारवैमनस्यात् व्यापार कायादिचेष्टा वैमनस्य मनोव्यप्रता चित्तकालुष्य वा तस्माद्विनिवृत्त्यामपि सत्या अन्तरात्मविनिवृत्त्या कृत्वा तद्वधीयात् अन्तरात्मनो विकल्पश्च विशेषेण विनिवृत्त्या । कस्मिन् सति तस्या तद्वधीयात् ? उपवासे चैकभुक्ते वा ॥ १० ॥

इत्थ भूतं तर्त्तिक कदाचित्परिचेतव्यमन्यथा चेत्यत्राह —

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं ।

व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन ॥ ११ ॥

चेतस्य वृद्धिं नेतव्यं । किं ? सामायिकं । कदा ? प्रतिदिवसमपि न पुनः कदाचित् पूर्वं दिवसे एव । कथं ? यथावदपि प्रतिपादितस्वरूपानविक्रमेणैव । कथंभूतेन ? अनसृसेनाऽऽत्मस्वरहितेन तद्यतेनेत्यर्थः । तथाऽऽभानयुक्तेनैकमचेतसा । कुतस्तदित्यं परिचेतस्य ? अतपंचकपरिपूरणकारणं यत् प्रदानं हि सविरस्याग्नीनां पंचकं तस्य परिपूरणं परिपूरणत्वं महाव्रतकृपत्वं तस्य कारणं यथोक्तसामायिकानुष्ठानकारणे हि अशुभतान्यपि महाव्रतत्वे प्रतिपद्यन्तेऽवस्थकारणं ॥ ११ ॥

एतदेव समर्थयमानः प्राह—

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।

केनोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिमानं ॥ १२ ॥

सामयिके सामायिकावस्थायां । नैव सन्ति न विद्यन्ते । के ? परिग्रहा सङ्गतः । कथंभूतः ? सारम्भा इत्याद्यारम्भसहिता । कति ? सर्वेऽपि ॥ अद्यामन्तरायेतनेत्यारिकाया ॥ वा । यत् एव क्तो पाति प्रतिपद्यते । कं ? यतिमानं यत्किञ्च । कोऽसौ ? गृही ग्राहकः । कदा ? सामयिकावस्थायां । कथं ? केनोपसृष्टमुनिरिव केनेन बलेन उपसृष्ट उपसर्गवशाद्गच्छति स चासौ मुनिश्च स इव तदा ॥ १२ ॥

तथा सामयिके स्वीकृतवन्तो ये तऽपरमपि किं कुर्वन्त्याहः—

शीतोष्णदंष्ट्रमध्वकपरीपहसुपसर्गमपि च मौनधराः ।

सामायिकं प्रतिपन्ना अभिकुर्वीरमचलयोगाः ॥ १३ ॥

अभिकुर्वीरन् सहेराभित्यर्थः । के त ? सामयिकं प्रतिपन्ना सामयिकं स्वीकृतवन्तः । किं विविधाः सन्तः ? अचलयोगा स्थिरसमाधयः प्रतिष्ठातृनुष्ठानापरिप्रागिभ्यो वा । तथा मौनधरास्तपतीनां सत्यामपि शीत्यादिबन्धनानुसारकाः । कमभिकुर्वीरमित्याह—शोकेत्यादि शीतामप्य

दंशमशकाना पीडाकारणा तत्परिसमन्तात् सहन तत्परीपहस्त, न केवलं तमेव अपि तु उपसर्गमपि च देवमनुष्यतिर्यक्कृत ॥ १३ ॥

त चाधिकुर्वाणा सामायिके स्थिता एव विधं संसारमोक्षयो स्वरूप चिन्तयेयुरित्याह,—

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम् ।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामायिके ॥ १४ ॥

तथा सामायिके स्थिता ध्यायन्तु । क १ भव स्रोपात्तकर्मवशाच्चतुर्गतिपर्यटन । कथभूत १ अशरण न विद्यते शरणमपापपरिरक्षक यत्र । अशुभमशुभकारणप्रभवत्वादशुभकार्यकारित्वाच्चाशुभ । तथाऽनित्य चतसृष्वपि गतिषु पर्यटनस्य नियतकालतयाऽनित्यत्वादनित्य । तथा दुःखहेतुत्वादुःख । तथानात्मानमात्मस्वरूप न भवति । एवं विधं भवमावसामि एव विधे तिष्ठामीत्यर्थः । यद्येव विधः संसारस्तर्हि मोक्षः कीदृश इत्याह—मोक्षस्तद्विपरीतात्मा तस्मादुक्तभवस्वरूपाद्विपरीतस्वरूपतः शरणशुभादि स्वरूपः, इत्येव ध्यायन्तु चिन्तयन्तु सामायिके स्थिताः ॥ १४ ॥

साम्प्रत सामायिकस्यातीचाराणाह,—

वाक्कायमानसाना दुःप्रणिधानान्यनादरस्मरणे ।

सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥ १५ ॥

व्यज्यन्ते कथ्यन्ते । के ते १ अतिगमा अतिचारा । कस्य १ सामयिकस्य । कति १ पञ्च । कथ १ भावेन परमार्थेन । तथा हि । वाक्कायमानसाना दुष्प्रणिधानमित्येतानि त्रीणि । अनादरोऽनुत्साह । अस्मरणमनैकाग्रम् ॥ १५ ॥

अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रत व्याचक्षाण प्राह —

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोपघोपवासस्तु ।

चतुरम्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सर्वच्छामि १६ ॥

प्रोपघोपवास पुनर्ज्ञातव्यः । कदा पर्वणि चतुर्दस्यां न केवलं पर्वणि अष्टम्यां च । किं पुनः प्रोपघोपवासशब्दामिषेयं ? प्रत्याख्यानं । केयं ? चतुरम्यवहार्याणां अत्वारि अशनपानस्नापयेद्यस्मिन् तानि चाभ्यवहार्याणि च भक्षणीयानि तेषां । किं कस्य सदैवाष्टम्यां चतुर्दस्यां च तेषां प्रत्याख्यानमिष्याह—सदा सर्वकालं । अग्नि इष्टमभिर्भुज्यमानवान्मिष्टं प्रत्याख्यानं न पुनर्म्यवहारकृतपरणखादिभिः ॥१६॥

उपवासदिने चोपोपितेन किं कर्तव्यमिष्याह —

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।

स्नानाञ्जननस्नानाद्युपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥ १७ ॥

उपवासदिने परिहृतिं परित्यागं कुर्यात् । केयं ? पञ्चानां हिंसादीनां । तेषां अलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणां अलंक्रिया मण्डनं अर्चनं वागिम्यादिभ्यामपि गन्धपुष्पाणामिषुपलक्षणं समाहेतुम् । गीतस्तुत्यादीनां । तेषां स्नानेन च अञ्जने च वा नश्यन्ते तेषाम् ॥ १७ ॥

एतेषां परिहारं कृत्वा किं तदिनेऽनुष्ठायतव्यमिष्याह —

धर्माभूतं सत्पुण्यं भवणाम्यां पिबतु पायये-

द्धान्यान् । ज्ञानध्यानपरो वा भवतुपवसन्न-

न्नाहुः ॥ १८ ॥

उपवासभुपवासे कुर्वन् धर्माभूतं पिबतु कर्म एवाभूतं सत्पुण्यमिष्याह—पाययन्नाह—तत् पिबतु । अस्यां ? भवणाम्यां । कर्मभूतं ? सत्पुण्यः सामिन्नापि पिबन् न पुनरुपवासविशेषात् । पाययेद्धान्यान् स्वयमेवावगतधर्मस्वरूपस्तु अन्यतो धर्माभूतं पिबन् अस्यानभिहितस्वरूपान् पाययेत् तत् ज्ञानध्यानपरो भवतु ज्ञानपरो वा ज्ञानानुप्रेक्षाद्युपयोगनिष्ठः ॥

अधुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च ।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवान्नवसंवरो ॥ १ ॥

निर्जराच्च तथा. लोक बोधिदुर्लभधर्मता ।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवै. ॥ २ ॥

आज्ञापायविपाकसस्यानविचयलक्षणधर्मव्यानपर तन्निष्ठ
भवतु । किं विगिष्ट ? अतन्द्रालु निद्रालस्यरहित ॥ १८ ॥
अधुना प्रोपधोपवासस्तल्लक्षण कुर्वन्नाह —

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोपधः सकृद्भुक्तिः ।
स प्रोपधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥ १९ ॥

चत्वारश्च ते आहाराश्चाशनपानखाद्यलेह्यलक्षणा, अशन हि भक्त-
मुद्रादि, पान हि पेयमथितादि, खाद्य मोदकादि, लेह्य रत्नादि तेषां
विसर्जन परित्यजनमुपवासो विधीयते । प्रोपध पुन सकृद्भुक्तिधारण-
कदिने एकभक्तविधान यत्पुनरुपोष्य उपवास कृत्वा पारणकदिने आरम्भं
सकृद्भुक्तिमाचरत्यनुतिष्ठति स प्रोपधोपवासोऽभिधीयते इति ॥ १९ ॥

अथ केऽस्त्यार्तीचारा इत्याह —

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे ।
यत्प्रोपधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥ २० ॥

प्रोपधोपवासस्य व्यतिलङ्घनपञ्चकमतिचारपञ्चक । तदिदं पूर्वार्धप्रति-
पत्तिप्रकार । तथा हि । ग्रहणविसर्गास्तरणानि त्रीणि । कथं भूतानि ?
मृष्टानि दृष्ट दर्शन जन्तव सन्ति न सन्तीति वा चक्षुषावलोकन-
मदुनोपकरणेन प्रमार्जनं तदुभौ न विद्येते येषु ग्रहाणादिषु तानि
तथोक्तानि । तत्र बुभुक्षुषीडितस्यादृष्टमृष्टस्याहंदादिष्वुपकरणस्यात्मपरि-
वानाद्यर्थस्य च ग्रहणं भवति । तथा अदृष्टमृष्टाया भूमौ मूत्रपुरीषादेरु-
त्सर्गो भवति । तथा अदृष्टमृष्टे प्रदेशे आस्तरणं सस्त्रोपक्रमो भवतीत्ये-

यानि श्रीणि । अनादरास्मरणे च द्वे । तथा भावस्यक्यदौ हि मुमुक्षा
पीडितत्वात्नदरोऽनेकप्रतापशृणुमस्मरणे भवति ॥ २० ॥

इदानीं वैयाहृत्यलक्षणशिक्षाप्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

दानं वैयाहृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।

अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगूहाय विमवेन ॥ २१ ॥

मोहनदिगन्तमपि वैयाहृत्यमुच्यते । कस्मै दानं ? तपोधनाय तप एव
कनं यस्य तस्मै । किंविशिष्टाय ? गुणनिधये गुणानां सम्पद्दर्शनानीनां
निधिराशयस्तस्मै । तथाऽगूहाय भावद्रव्यागाररहिताय । किमर्थं ? धर्माय
धर्मनिमित्तं, । किं विशिष्टं दानं ? अनपेक्षितोपचारोपक्रियं उपचार
प्रतिष्ठानं उपक्रिया मंत्रलंघादिना प्रत्युपकरणं ते न अपेक्षिते येन कर्म ।
तस्मै ? विमवेन विचित्रव्यादिसम्पदा ॥ २१ ॥

न केवलं दानमेव वैयाहृत्यमुच्यतेऽपि —

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरामात् ।

वैयाहृत्यं यावानुपग्रहाऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥ २२ ॥

व्यापत्तयो विविधाव्याप्त्यादिजनित्या व्यापदस्तासां व्यपनोदो विक्षेपे-
षाफनोद स्फोटनं यत्तद्वैयाहृत्यमेव । तथा पादयोः संवाहनं पादयोर्म-
र्दनं । कस्मत् ? गुणरामात् भक्तिवशादित्यर्थ — न पुनर्मर्दनरामात्
व्यपत्तयोपेक्षणात् । न केवलमेतावदेव वैयाहृत्यं किन्तु अन्योऽपि संय-
मिनां देशसकलकालान्तं सम्पन्नी यावात् यत्परिमाण उपग्रह उपकार स
सर्वो वैयाहृत्यमेवोच्यते ॥ २२ ॥

अथ किं दानमुच्यते रूपत आह —

नमपुम्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन श्रुदेन ।

अपसूनारम्माणामार्याणामिष्यते दानम् ॥ २३ ॥

दानमिष्यते । कासौ १ प्रतिपत्ति गौरव आदरस्वरूपा । केषा १
आर्याणां सदृशनादिगुणोपेतमुनीनां । किंविशिष्टानां १ अपसूनार-
म्भाणां सूना पञ्चजीवघातस्थानानि । तदुक्तम्

खंडनी पेपणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी ।

पचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १३ ॥

खंडनी उदखल, पेपणी घट्ट, चुल्ली—चुल्हकः, उदकुम्भ—उदकघटः,
प्रमार्जनी—ब्रह्महारिका । सूनाश्चारभाश्च कृष्यादयस्तेऽपगता येषां तेषां ।
केन प्रतिपत्तिं कर्तव्या १ सप्तागुणसमाहितेन.

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विश्रान्तमलुब्धता क्षमा सत्यं ।

यस्यैते सप्तगुणास्त दातारः प्रशसन्ति ॥

इत्येतैः सप्तभिर्गुणैः समाहितेन तु दात्रा दानं दातव्यं । कैः कृत्वा १
नव पुण्यैः—

पडिगहमुच्चट्टाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च ।

मणवपणकायसुद्धी एसणसुद्धी य नवविहं पुण्णं ॥

एतैर्नवभिः पुण्यैः पुण्योपार्जनहेतुभिः ॥ २३ ॥

इत्थं दीयमानस्य फलं दर्शयन्नाह,—

गृहकर्मणापि निर्वृतं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहवि-
मुक्तानाम् । अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते
वारि ॥ २४ ॥

विमार्ष्टि स्फोटयति । खलु स्फुट । किं तत् १ कर्म पापरूप । कथं-
भूतं १ निचितमपि उपार्जितमपि पुष्टमपि वा । केन १ गृहकर्मणा साव-
धव्यापारेण । कोऽसौ कर्तुं १ प्रतिपूजा दान । केषामपि १ अतिथीनां
न विद्यते तिरियर्येषां तेषां । किं विशिष्टानां गृहविमुक्तानां गृहरहितानां
अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—रुधिरमलं धावते वारि अलशब्दो

यमार्थे भयमयो रुदिरं यथा मन्त्रिनमपवित्रं च वारि कर्तुं निर्मलं पवित्रं
च भावते प्रकृष्टमिति तथा दाने पापे विमार्ष्टि ॥ २४ ॥

साम्प्रतं नवप्रकरणेषु प्रतिप्रहान्तिषु क्रियमाणेषु कस्मिन् किं फले
सम्पद्यत इत्याह —

१ उच्चैर्गोत्रं प्रपतमोगो दानादुपासनात्पूजा ।

भक्ते सुन्दररूप स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥ २५ ॥

तपोनिधिषु यतिषु । प्रपते प्रणम्यकरणादुच्चैर्गोत्रं भवति । तथा
दानप्रदर्शनमुद्दिष्टच्छणाद्भोगो भवति । उपासनात् प्रतिग्रहणादिरूपात्
सर्वत्र पूजा भवति । भक्तेगुणानुरागजनितान्त धनद्वयविशेषकृष्णमा
सुन्दररूपं भवति । स्तवनात् श्रुतकर्मवीत्यादिस्तुतिविधानात् सर्वत्र
कीर्तिर्भवति ॥ २५ ॥

नन्वेवंविधं विशिष्टं फलं स्वर्ग्यं दानं कथं सम्पादयतीत्याशंक्यऽपनो
दार्थमाह —

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमत्यमपि फले ।

फलतिष्ठद्याविमर्षं बहुफलमिष्टं क्षरीरमूतम् ॥ २६ ॥

अत्यमपि दानमुचितकाले पात्रगतं सत्पात्रे दत्तं क्षरीरमखं
संसारिणामिष्टं फलं कङ्कलेकप्रकरमुत्तररूपं भोगोपभोगादिउत्थमं फलति ।
कथंभूतं ! अथाविमर्षं छाया माहृत्य विमर्षं सम्पत् तौ निपद्ये यत्र ।
अत्यैवार्थस्य समर्थनार्थं क्षितीत्यादिद्वयन्तमाह—क्षितिगतं मुञ्चेत्
१ निक्षिप्तं यथा अत्यमपि वटबीजं बहुफलं फलति । कथं ? छायाविमर्षं
अथा मातृपतिशेभिनी तस्या विमर्षं प्राप्नुयि यथा भयस्येनं फलति ॥ २६ ॥

तच्चैवंविधफलसम्पादकं दानं चतुर्मेव भवतीत्याह —

आहारोपभयोःप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।

प्रेयावृत्त्य सुखत चतुरात्मत्वेन चतुरस्रा ॥ २७ ॥

दानमिष्यते । कासो २ प्रतिपत्ति गौरव आदरस्वरूपा । केपा १
आर्याणा सदृशनादिगुणोपेतमुनीना । किंविशिष्टाना १ अपसूनार-
म्भाणा सूना पचजीवघातस्थानानि । तदुक्तम्

खड्गनी पेपणी खुल्ली उदकुम्भ प्रमार्जनी ।

पचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्ष न गच्छति ॥ १३ ॥

खड्गनी उदखल, पेपणी धरट्ट, खुल्ली—खुल्लक, उदकुम्भ—उदकघट,
प्रमार्जनी—बोहारिका । सूनाश्चारंभाश्च कृष्यादयस्तोऽपगता वेपा तेषा ।
केन प्रतिपत्ति कर्तव्या २ सप्तागुणसमाहितेन

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्यं ।

यस्यैते सप्तगुणास्त दातार प्रशसन्ति ॥

इत्येतै सप्तभिर्गुणै समाहितेन तु दात्रा दान दातव्य । कै. कृत्वा १
नव पुण्यै —

पडिगहमुच्चट्टाणं पादोदयमञ्चणं च पणम च ।

मणवपणकायसुद्धी एसणसुद्धी य नवविहं पुण्ण ॥

एतैर्नवभि पुण्यै पुण्योपार्जनहेतुभि ॥ २३ ॥

इत्थ दीयमानस्य फल दर्शयन्नाह,—

गृहकर्मणापि निश्चितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहवि-
मुक्तानाम् । अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते
वारि ॥ २४ ॥

विमार्ष्टि स्फोटयति । खलु स्फुट । किं तत् २ कर्म पापरूप । कथ-
भूतं २ निश्चितमपि उपार्जितमपि पुष्टमपि वा । केन २ गृहकर्मणा साव-
द्यव्यापारेण । कोऽसौ कर्तृ २ प्रतिपूजा दान । केपामपि २ अतिथीना
न विद्यते तिथिर्येषा तेषा । किं विशिष्टाना गृहविमुक्ताना गृहरहिताना
अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—रुधिरमल धावते वारि अलशब्दो

पृष्ठ-ताव । तत्र शीघ्रस्य शेषोऽपि कपिले नास्ति तत्र किमयं तत्र पुत्रो
भवति न वेति सत्ये मे कथम् । त्वत्तेन कथिते पुत्रि ! मनीषवेष्टि
अपुत्र इति । एतत्कथ्यं तदुपरि विरक्ता सा हठादयं मामभिगमिष्य-
तीति मत्वा सिंहनमिताग्रमहात्म्या शरणं प्रविष्टा तया च सा पुत्री
ज्ञाया । एवमेकदा श्रीपेणराजेन परमभक्त्या विधिपूर्वकमर्चनीयमिति-
चारणमुनेभ्यां दानं दत्तम् । तत्फलेन राज्ञा सह भोगमूढ-
कुत्सम्बा । तदनुमोदनात् सत्यमाम्नापि तत्रैवोत्पन्ना । अ राजा श्रीपेणो दान-
प्रयत्नस्वरणात् पारंपर्येण शान्तिनामपरीक्षितो जात । आहारदानफलम् ।

श्रीपञ्चदान कृपमसेनायां वृत्तान्तः । अस्याः कथा—

जनपददेशे कावेरीपत्तने राज्ञोमसेन क्षेत्री धनपति मय्या
धनम्भी पुत्री कृपमसेना तस्या धात्री रूपवती नाम्ना । एकदा
कृपमसेनास्नानव्यवहाराया रोगगृहीतं कुन्कुनं पतितलुठित्येऽस्थितं रोमार
हितमात्मकेन चिन्तितं धात्र्या—पुत्रीस्नानव्यवहारायारोग्यत्वे चरणम् ।
तत्तस्या धात्र्या निबन्धनम्बा द्वादशवार्षिकद्विरोगगृहीताया कथिते तया
लोचने तेन जलेन परीक्षार्थमिकदिने धौते इच्छी च धोमने जाते ततः सर्गते
गायनपत्ने सा धात्री प्रसिद्धा तत्र नगरे संजाता । एकदोमसेनेन रणपिगकर्मन्त्री
बहुसैन्योपेतो मेवापिगकर्मपरि प्रेषितः । स तं देशं प्रविष्टो विषोदकस्तेवन्त
ज्वरेण गृहीतः । स च म्याधुव्यामात रूपवत्या च तेन जलेन निरोगीकृतः ।
उमसेनोऽपि कोपात्तत्र गतः तथा ज्वरितो म्याधुव्यामातो रणपिगकर्म
मन्त्रात्तमाकर्ष्य तज्जलं याचितवान् । ततो मंत्री सत्तो धनमिया
भो भक्तिन् ! कथं नरपते शिरसि पुत्रीस्नानजलं क्षिप्यते ? धनपतिमोक्तं
पदि पृच्छति राजा जलस्वभावं तदा सत्यं कथ्यते न दोषः । एवं
मणिते रूपवत्या तेन जलेन निरोगीकृत उमसेनः ततो निरोगेण राज्ञा
पुष्टा रूपवती अकस्य माहात्म्यम् । तया च उत्पन्नेष कथितः । ततो

राजा व्याहृतः श्रेष्ठी, मन्त्र नीत राज ममीपनायात् । राजा च नीतं
 कृत्वा वृषभसेना परिणेतुं न याचित । ततः श्रेष्ठिना भणितं देव
 यथागदित्वा गुजा निनप्रतिनानां करोषि तथा पनस्यन् पविगणद
 मुनीमि तथा मुष्टिपु सर्गमनुन्याध मुनीमि तदा ग्यानि । उपसेन
 च तत् सर्वं कृत्वा परिणीता वृषभसेना पदराजी च कृता । अतिरु
 भया तयैः च सह निमुक्तानाकार्यं क्रोडां करोति । पनमिन् प्रस्ना
 यो वाराणस्या पृथिवीचन्द्रा नाम राजा हत जास्ते ताऽतिप्रचण्ड्या
 तद्विगाहकालेऽपि न मुक्त । ततस्तस्य या रागी नागयणदत्ता तथा
 मंत्रिणि सह मन्त्रयित्वा पृथिवीचन्द्रमोचनार्थं वाराणस्यां सर्वत्राचारित-
 सत्कारा वृषभसेनाराजी नाम्ना कारिता, तेषु भोजनं कृत्वा कावेरीपवन
 ये गतास्तेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यस्त दत्तात्तमाकर्ण्य मृष्ट्या स्पर्शत्वा
 भणिता वृषभसेने त्वं मामपृच्छन्ती वाराणस्या कः सत्कारान् कारयन्तिः
 तथा भणितमहं न कारयामि किन्तु मम नाम्ना केनचित्कारणेन केनापि
 कारिता तेषां शुद्धिं कुरु त्वमिति चरपुर्णं कृत्वा यथार्थं ज्ञात्वा तथा
 वृषभसेनाया सर्वं कथितम् । तथा च राजानं प्रज्ञाप्य मोचितं पृथ्वी-
 चन्द्र । तेन च चित्रकूटके वृषभसेनाप्रसेनयो रूपे कारिते । तयोस्थो
 भजरूप सप्रणाम कारितम् । स फल्कस्तयोर्दर्शित भणिता च वृषभ-
 सेना राज्ञी—देवि ! त्वं मम मातासि त्वत्प्रसादादिदं जन्म सकलं मे जातं ।
 ततः उपसेन सन्मानं दत्वा भणितवान् त्वया मेघपिंगलस्योपरि गतव्यं
 मित्युक्त्वा स च ताभ्यां वाराणस्यां प्रेषितः । मेघपिंगलोऽप्येतदाकर्ण्य
 ममायं पृथ्वीचन्द्रो मर्मभेदीति पर्यालोच्यागत्य चोपसेनस्यातिप्रसादित
 सामन्तो जातः । उपसेनेन चास्थानस्थितस्य यन्मो प्राभृतमागच्छति तस्यार्थं
 मेघपिंगलस्य दास्यामि अर्धं च वृषभसेनाया इति व्यवस्था कृता । एवमेकदा
 रत्नकवलद्वयमागतमेकैकं सनामाद्ग कृत्वा तयोर्दत्तः । एकदा मेघपिंगलस्य

रुद्धी विजयास्या मेघपिगाङ्गकम्बलं प्राकृत्य प्रयोजनेन रूपवतीपार्श्वे गता ।
 तत्र कम्बलपरिवर्तो जातः । एकदा वृषभसेनाकम्बलं प्राकृत्य मेघपिगाङ्ग
 सेनायामुपसेनस्वभायामागतः राजा च तमाङ्गेन्यातिशयेपादकाक्षो बभूव ।
 मेघपिगाङ्गश्च तं तथामृतमाङ्गेन्य ममोपरि कुपितोऽयं राजेति ज्ञात्वा दूरं
 स्थितः । वृषभसेना च हस्तेनोपसेनेन मारणार्थं समुद्रनद्ये निक्षिप्ता । तया च
 प्रक्षिप्ता गृहीता यदि एतस्मादुपसर्गादुद्धरिष्यामि तदा तप करिष्यामीति ।
 तदा कृतमहात्म्याङ्गकम्बलतया तस्या सिंहासनादिप्रातिहार्यं कृतम् ।
 तच्छ्रुत्वा पद्माचापे कृत्वा राजा तमानेतुं गतः । अगच्छता वनमध्ये
 गुणवरनाम्नाऽविविधानी मुनिर्दृष्टः । स च वृषभसेनया प्रणम्य निजपूर्व-
 मवचेष्टितं पृष्ठः । कथितं च भगवत्या यथा—पूर्वमवे त्वमत्रैव शासनपुत्री
 नमग्राही नम्रा जातासि । राजकीयदेवकुले सम्मार्जनं करोषि । तत्र देवकुले
 कैश्चिदाऽपराधैः प्राक्षुराम्यस्तरे निर्वातगर्ताया मुनिदत्तनामा मुनि पर्यकम्ब-
 लोपसर्गेण स्थितः । तया च हस्या मणित कृत्वा राजा समापातोऽपरा-
 क्षिप्यतीत्युचिष्टासिष्ठ सम्मार्जनं करोमि हस्तेति वृषभसेनायास्तत्र मुनिकन्यो-
 त्तर्गं विषम्य मौनेन स्थितः । ततस्तया कञ्चनारेण पूयित्वोपरि सम्मार्जनं
 कृतम् । प्रभाते तत्रागत्य राजा तच्छ्रेणो क्रीडता तच्छ्रुत्वा मुनिश्च निश्चित-
 प्रदेशं दृष्ट्वा उत्सृज्य निःसारितश्च स मुनिः । ततस्तत्पद्मनिन्दां कृत्वा
 धर्मं क्षिप्य कृता । परमादरेण च तस्य मुनेस्तस्या तत्पीडोपशमनार्थं
 विशिष्टमौपभदानं वैयाकरणं च कृतम् । ततो निदानेन मृत्वेह वनपतिव-
 न्धियो पुत्री वृषभसेना नाम जातासि । मौपभदानफल्गुत् सर्वोप-
 श्रितः जातम् । कञ्चनारपूरणात् कञ्चहिता च । इति भुवःप्रदानं मोष-
 किता वृषभसेना तत्समीपे वार्षिकं जाता । मौपभदानस्य फल्गुम् ।

भुतदामे श्रीच्छेदो दृष्टान्तः । अस्य कथा—

कुर्मगणिग्रामे गोपाङ्गो गोविन्दनाम्नः । तम च कोटरादुद्धृत्य चिरन्तन-
 पुस्तकं प्रकृत्य मन्त्रया पञ्चनभिमुनये दत्तम् । तेन पुस्तकेन त्र्यष्टम्यां

पूर्वभट्टारका केचित् किल पूजा कृत्वा कारयित्वा च व्याख्यानं कृतवन्तः
कोटरे धृत्वा च गतवन्तश्च । गोविन्देन च बाल्यात्प्रभृति त दृष्ट्वा नित्यमेव
पूजा कृता वृक्षकोटरेऽपि । एष स गोविन्दो निदानेन मृत्वा तत्रैव ग्राम-
कूटस्य पुत्रोऽभूत् । तमेव पद्मनन्दिमुनिमालोक्य जातिस्मरो जातः ।
तपो गृहीत्वा कोण्टेगनामा महामुनिः श्रुतवरोऽभूत् । इति श्रुतदानस्य
फलम् ।

वसतिदाने सूकरो दृष्टान्तः । अस्य कथा—

मालवदेशे घटग्रामे कुम्भकारो देविलनामा नापितश्च धम्मिल्लनामा ।
ताभ्यां पथिकजनानां वसतिनिमित्तं देवकुलं कारितम् । एकदा देविलेन
मुनये तत्र प्रथमं वसतिर्दत्ता धम्मिल्लेन च पश्चात् परित्राजकस्तत्रानीय वृत्तः ।
ताभ्यां च धम्मिल्लपरित्राजकाभ्यां नि सारितं स मुनिर्वृक्षमूले रात्रौ दशम-
शकगीतादिकं सहमानं स्थितं प्रभाते देविलधम्मिल्लो तत्कारणेन परस्परं
युद्धं कृत्वा मृत्वा त्रिन्ध्ये क्रमेण सूकरव्याघ्रो प्रौढौ जातौ । यत्र च
गुहायां स सूकरस्तिष्ठति तत्रैव च गुहायामेकदा समाविगुप्तत्रिगुप्तमुनी
आगत्य स्थितौ तौ च दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा देविलचरसूकरो वर्ममाकर्ष्य
व्रतं गृहीतवान् । तत्प्रस्तावे मनुष्यगन्धमाघ्राय मुनिभक्षणार्थं स
व्याघ्रोऽपि तत्रायात । सूकरश्च तयो रक्षानिमित्तं गुहाद्वारे स्थितः । तत्रापि
तौ परस्परं युद्धं कृत्वा मृता । सूकरो मुनिरक्षणाभिप्रायेण शुभाभिसन्धित्वा
मृत्वा सौधर्मे महर्द्धिको देवो जातः । व्याघ्रस्तु मुनिभक्षणाभिप्रायेणातिरौ-
द्राभिप्रायत्वान्मृत्वा नरकं गतः । वसतिदानस्य फलम् ॥ २८ ॥

यथा वैयावृत्यं विदधता चतुर्विधं दानं दातव्यं तथा पूजाप्रधानमपि
कर्तव्यमित्याह —

१ वृक्षस्य इति ग पूजा कृत्वा वृक्षकोटरे स्थापित इति ख २ धम्मिल्ल
धम्मिल्ल इति ग

दद्यादिदेववरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।

कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयात्ततो नित्यम् ॥ २९ ॥

आहत आश्रयुक्तो नित्यं परिचिनुयात् पुष्टं कुर्यात् । किं ? परिच
रणं पूजा । किंविशिष्टं सर्वदुःखनिर्हरणं नि शेषदुःखविनाशकं । कः ?
देवादिदेववरणे दवानामिन्द्रादीनामनिको बन्धो देवादिदेवस्तस्य वरणः
पत्न्यस्तस्मिन् । कथं मृतः ? कामदुहि धाम्निष्ठप्रदे । तथा कामदाहिनि
कामविष्णुसंके ॥ २९ ॥

पूजामाहस्यं किं कृषि केन प्रकटितमित्यारब्धस्याह —

अहंवरणसपयोमहानुभारं महात्मनामवदत् ।

मेक प्रमोदमस्य कुसुमेनैकं रात्रगृहे ॥ ३० ॥

मेकं मण्डूक प्रमोदमसौ विशिष्टवर्मानुगागेण ह्यहं वरदन् कथित
वन् । किमित्याह—अहंविद्यादि महतश्चरणी अहंवरणी तयो सपर्या
पूजा तस्या महानुभारं विशिष्ट माहस्यं । केषामवदत् ? महात्मनां
मन्यवीरानां । केन कृषा ? कुसुमनकेन । कः ? रात्रगृहे ।

अस्य कथा—

मगधदेशे रात्रगृहनगरे राजा भोजिकः श्रेष्ठो नागराजः श्रेष्ठिनी
भवदत्ता । स नागराजः श्रेष्ठो सर्वदा मायायुक्तयत्नं न निवृत्ताङ्ग
काम्यं भेदो जातः । तत्र चागतामेकं भगवत्ताम्रेष्ठिनीमात्रस्य जातिस्मृतो
मूल्या तस्या समीपे आगत्य उपर्युक्तस्य चरितः । तथा च पुन पुनर्निर्वाणितो
एति, पुनरागत्य चरति च ततस्तथा कोऽप्ययं मनीषो इति भविष्यतीति
सम्प्रचार्यानिवहानी मुक्तमुनि पृष्टः । तेन च तदुत्तमते कथिते गृहे नीत्या
परमगौरवेजासौ चतः । भोजिकमहाराजश्चेकदा वर्धमानश्चामिनं वैभक्त्यर्पिते
समागतमाकर्ष्य आनन्दमेरी आपयित्वा महता विभवेन सै वन्दितुं गतः ।
श्रेष्ठिण्यादौ च गृहजन बन्धनामन्तर्यं गतः स भेकः प्रांगणवापीकमष्टं पूजा

पूर्वभट्टारका केचित् किल पूजां कृत्वा कारयित्वा च व्याख्यानं कृतवन्त
कोटरे धृत्वा च गतवन्तश्च । गोविन्देन च वाल्यात्प्रभृति त दृष्ट्वा नित्यमेव
पूजा कृता वृक्षकोटरस्यापि । एष स गोविन्दो निदानेन मृत्वा तत्रैव ग्राम-
कूटस्य पुत्रोऽभूत् । तमेव पद्मनन्दिमुनिमालोक्य जातिस्मरो जात
तपो गृहीत्वा कोण्डेशनामा महामुनिः श्रुतधरोऽभूत् । इति श्रुतदानस्य
फलम् ।

वसतिदाने सूकरो दृष्टान्तः । अस्य कथा—

मालवदेशे घटग्रामे कुम्भकारो देविलनामा नापितश्च धम्मिल्लनामा ।
ताभ्यां पथिकजनानां वसतिनिमित्तं देवकुलं कारितम् । एकदा देविलेन
मुनये तत्र प्रथमं वसतिर्दत्ता धम्मिल्लेन च पश्चात् परिव्राजकस्तत्रानीय धृतः ।
ताभ्यां च धम्मिल्लपरिव्राजकाभ्यां नि सारितं स मुनिर्वृक्षमूले रात्रौ दशम-
शकशीतादिकं सहमानं स्थितं प्रभाते देविलधम्मिल्लौ तत्कारणेन परस्परं
युद्धं कृत्वा मृत्वा विन्ध्ये क्रमेण सूकरव्याघ्रौ प्रौढौ जातौ । यत्र च
गुहायां स सूकरस्तिष्ठति तत्रैव च गुहायामेकदा समाविगुप्तत्रिगुप्तमुनी
आगत्य स्थितौ तौ च दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा देविलचरसूकरो वर्ममाकर्ण्य
व्रतं गृहीतवान् । तत्प्रस्तावे मनुष्यगन्धमात्राय मुनिभक्षणार्थं स
व्याघ्रोऽपि तत्रायात । सूकरश्च तयो रक्षानिमित्तं गुहाद्वारे स्थितः । तत्रापि
तौ परस्परं युद्धं मृतौ । सूकरो मुनिरक्षणाभिप्रायेण शुभाभिसन्धित्वा
मृत्वा सौधर्मे महर्द्धिको देवो जातः । व्याघ्रस्तु मुनिभक्षणाभिप्रायेणातिरौ-
द्राभिप्रायत्वान्मृत्वा नरकं गतः । वसतिदानस्य फलम् ॥ २८ ॥

यथा वैयावृत्यं विदधता चतुर्विधं दानं दातव्यं तथा पूजाविधानमपि
कर्तव्यमित्याह,—

१ वृक्षस्य इति ग पूजां कृत्वा वृक्षकोटरे स्थापित इति ख २ धम्मिल्ल
धम्मिल्ल इति ग

सहस्रना प्रतिमाधिकार पचम ।



अथ सान्गारिणाश्रुतादिवत् सहस्रनाप्यनुष्ठेयमेत्याह —

उपसर्गे दुर्मिच्छे जरसि रुजायां च नि प्रतीकारे ।

धर्माय तनुविमोचनमाहुः सहस्रनामार्था ॥ १ ॥

आर्था गणधरदेवादयः सहस्रनामाहुः । किं तत् ? तनुविमोचनं शरीर-
त्यागा । कस्मिन् सति ? उपसर्गे तिर्यग्यनुष्पदप्रकृतं । नि.प्रतीकारे
प्रतीकारमोचने । एतच्च विशेषणं दुर्मिच्छजरारुजान्ता प्रत्येकं सम्बन्धीनम् ।
किमर्थं तद्विमोचनं ? धर्माय रत्नप्रपादपनार्थं न पुन परस्य
आह्वयार्थं ॥ १ ॥

सहस्रनायां भग्नैर्नियमेन प्रयत्नं कर्तव्याऽत आह —

अन्त क्रियाधिकरणं तप फले सफलदर्शिनं स्तुबते ।

तस्माद्यावद्विमवं समाधिभरणे प्रयतितव्यम् ॥ २ ॥

सफलदर्शिनं स्तुबते प्रशंसन्ति । किं तत् ? तप-फले तपसं फले
तप-फलं सफलं तप इत्यर्थः । कवयूते सत् ? अन्त क्रियाधिकरणं अन्ते
क्रिया संन्यास तस्या अत्रिकरणं समाधायौ यत्तपस्तुच्छं । यत एवं,
तस्माद्यावद्विमवं यथाशक्ति समाधिभरणं प्रयतितव्यं प्रकृत्ये यत्न
कर्तव्य ॥ २ ॥

तत्र यानि कुर्वाण एव कृत्यं कुर्वादित्याह —

स्नानं वरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय धृष्टमनाः ।

स्वजनं परिजनमपि च ह्यान्त्वा धर्मयेस्त्रियैर्वचने ॥ ३ ॥

१ ता च किं स्वक्या कथायाऽनुष्ठेयमेत्याह इति च

निमित्तं गृहीत्वा गच्छन् हस्तिना पादेन चूर्णयित्वा मृत् । पूजानुराग-
वशेनोपाजितपुण्यप्रभावात् सौधर्मे महर्द्धिकदेवो जात । अवधिज्ञानेन
पूर्वभववृत्तान्तं ज्ञात्वा निजमुकुटाम्ने भेकचिद्व दृष्ट्वा समागत्य वर्धमान-
स्वामिनं वन्दमानं श्रेणिकेन दृष्ट । ततस्तेन गोतमस्वामी भेकचिद्वेऽस्य
किं कारणमिति पृष्ट, तेन च पूर्ववृत्तान्तं कथितं । तच्छ्रुत्वा सर्वे जना
पूजातिशयविधाने उद्यता सजाता इति ॥ ३० ॥

इदानीमुक्तसकारस्य वेद्यावृत्त्यस्मादीचाराणाह —

हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्नानि ।

वेद्यावृत्त्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥ ३१ ॥

पचैते आर्यापूर्वार्धकथिता वेद्यावृत्त्यस्य व्यतिक्रमा कथ्यन्ते । तथा
हि । हरितपिधाननिधाने हरितेन पद्मपत्रादिना पिधानं शंपनमाहारस्य ।
तथा हरिते तस्मिन् निधानं स्थापनं । तस्य अनादरं प्रयच्छतोऽप्यादरा-
भावः । अस्मरणमाहारादिदानमेतस्या वेद्यायामेव विवृताय दातव्यमिति
दत्तमदत्तमिति वास्मृतेरभावः । मत्सरत्वमन्यदातृदानगुणासहिष्णुत्व-
मिति ॥ ३१ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिताया समन्तभद्रस्वामि-

विरचितोपासकाव्ययनटीकाया

चतुर्थं परिच्छेदः ।

सल्लेखना प्रतिमाधिकारः पचम ।



अथ सागारिणां प्रतादिषु सल्लेखनाप्यनुष्ठार्त्तस्याह —

उपसर्गे दुर्मिक्षे बरसि रजायां च नि प्रतीकारः ।

धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनाभार्या ॥ १ ॥

भार्या गणधरदेशाभ्याः सल्लेखनामाहुः । किं उक्तं ? तनुविमाचनं क्षीर-
मात्रा । कस्मिन् सति ? उपसर्गे तिर्यच्चनुष्यदेवकृते । निःप्रतीकारे
प्रतीकारप्रोक्ते । एतच्च विशेषणं दुर्मिक्षबराकनानां प्रत्येकं सम्बन्धनीयं ।
किमर्थं तद्विमोचनं ? धर्माय रक्षापाराधनार्थं न पुनः परस्य
महात्माप्यै ॥ १ ॥

सल्लेखनायां मर्त्यैर्नियमेन प्रयत्नः कर्तव्यः । अह —

अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदार्ढ्यिनः क्षुब्धते ।

तस्मादावद्विभवः समाधिभरणं प्रयतितव्यम् ॥ २ ॥

सकलदार्ढ्यिनः क्षुब्धते प्रदीप्तान्ति । किं उक्तं ? तपःफलं तपसः फलं
तपःफलं तपःफलं तपः इत्यर्थः । अधमूर्तं सत् ? अन्तःक्रियाधिकरणं अन्ते
क्रिया संभ्यासः तस्याः अत्रिकरणं समाधायो यत्तपस्तपःफलं । यत् एव
तस्मादावद्विभवः यथाशक्ति समाधिभरणे प्रयतितव्यं प्रकृत्यो यत्नः
कर्तव्यः ॥ २ ॥

एतत् पार्तुं कुर्वाण एव कृतदं कुमादित्याह —

स्नेहं परं सङ्गं परित्रयं पापहायं ह्युद्यमनाः ।

स्वजनं परिजनमपि च भ्रान्ताः क्षमयेत्प्रियैर्वधनैः ॥ ३ ॥

१ सा च । किं रक्षसा कदाचानुपपन्नस्याह इति च

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम् ॥ ४ ॥ युगल ।

स्वय क्षान्त्वा प्रियर्चने स्वजन परिजनमपि क्षमयेत् । किं
कृत्वा ? अपहाय त्यक्त्वा । क ? स्नेहमुपकारके वस्तुनि प्रीत्यनुमन्य ।
वैरमनुपकारके द्वेषानुमन्य । सग पुत्रस्यादिकं ममेदमहमस्येत्यादिसन्त्र
परिग्रह वात्पान्यन्तर । एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्त सन् क्षम-
यत् । तथा आरोपयेत् स्थापयेदात्मानि । किं तत् ? महाव्रतम् कथम्भूत ?
आमरणस्थायि मरणपर्यन्त नि शेष च पच प्रकारमपि । किं कृत्वा ? आलोच्य ।
किं तत् ? एनो दोष । किं तत् ? सर्वं कृतकारितानुमतं च । स्वय हि कृत
हिंसादिदोष, कारित हेतुभावेन, अनुमतमन्येन क्रियमाण मनसा लक्षितं ।
एतत्सर्वमेनो निर्व्याज दृग्गालोचनादोषवर्जित यथा भगवत्येवमालोचयेत् ।
दृग् हि आलोचनादोषा भवन्ति । तदुक्त—

आक्रोषिय अणुमाणिय जदिदं पादर च सुहृम च ।

छन्न सहाउलय बहुर्जणमन्यत्त तस्मेवी ॥ १ ॥ इति ।

एव विधामालोचना कृत्वा महाव्रतमारोप्येतत् कुर्यादित्याह —

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।

सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्य श्रुतैरमृतैः ॥ ५ ॥

प्रसाद्य प्रसन्न कार्य । किं तत् ? मन । कै ? श्रुतरागमवाक्ये ।
कथम्भूतै ? अमृतै अमृतोपमे ससारदुःखसन्तापापनोदकरित्यर्थ । किं
कृत्वा ? हित्वा । किं तदित्याह—शोक—इष्टविद्योगे तद्वृणशो-
चन, भय—श्रुतिपासादिपीटानिमित्तमिहलोकादिभय वा, अवसाद विषाद
खेद वा, क्लेद स्नेह, कालुष्य कचिद्विषये रागद्वेषपरणाति । न केवलं
प्रागुक्तमेव अपि तु अरतिमपि अप्रमक्तिमपि । न केवलमेतदेव कृत्वा
किन्तु उदीर्य च प्रकाश्य च । क ? सत्त्वोत्साह सल्लेखनाकरणेऽकात-
रत्नं ॥ ५ ॥

इदानीं सङ्केतनां कुर्वाणस्याहारस्याग्रे क्रमं दर्शयन्नाह —

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।

स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥ ६ ॥

स्निग्धं दुग्धानिरूप पानं विवर्द्धयेत् परिपूर्णं दापयेत् । किं कृत्वा ? परिहाप्य परिहाप्य । क ? आहारं कवत्प्रहारत्प । कथं ? क्रमशः प्रमाणान्तादिक्रमशः पश्चात् खरपानं केनिकादिदुग्धपानीयरूपं वा । किंकृत्य ? हापयित्वा । किं ? स्निग्धं च स्निग्धमपि पामकं । कथं ? क्रमशः । स्निग्धं हि परिहाप्य केनिकादिरूपं खरपानं पूरयेत् विवर्द्धयत् । पश्चात्तदपि परिहाप्य दुग्धपानीयरूपं खरपानं पूरयेत्ति ॥ ६ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा कुस्वोपवासमपि व्रतत्वा ।

पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजन्मवयवतन ॥ ७ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा । कथं ? शयस्या स्वच्छस्मिन्निप्रमेज स्वाकृत्वाकृतरादिरूपं । पश्चादुपवासं कृत्वा तनुमपि त्यजेत् । कथं ? सर्वपरत्वेन सर्वस्मिन् व्रतस्तयमन्त्रादिप्रभ्यानधारणादौ क्लृप्तस्तपस्य तेन । किं विधिस्तु ? पञ्चनमस्कारमना पञ्चनमस्कारादिवर्जित ॥ ७ ॥

अधुना सङ्केतनाया व्यतिथारनाह —

जीवितमरणाद्यसु मयमिश्रस्मृतिनिदाननामान ।

सङ्केतनातिथारा पञ्च विनन्द्रे समादिष्टा ॥ ८ ॥

जीवितं च मरणं च तयोराश्रिते आकाशं भयमिहपराकमय इत्येकमयं हि भुत्तिपासापीडादिविषये परलोकमय—एवंविधदुर्भेदानुग्रहानादिशिष्टं फलं परलोकं भविष्यति न वति । मिश्रस्मृति वास्याप्यवस्थाया सह जीवितमिश्रानुस्मरणं । निदानं भाविभोगाद्याकाशं । एतानि पञ्चनामानि येषां ते उच्यमाना सङ्केतनाया पञ्चातिथारा विमोच्यैस्तार्यकं समादिष्टा अत्रामे प्रतिपादिता ॥ ८ ॥

एवनिधेरतिचारं रहिता सहेखना अनुतिष्ठन् कीदृशं फलं प्राप्नोत्याह —

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।

निःषिञ्चति पीतधर्मा मर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥ ९ ॥

निष्पिञ्चति आस्वादयति अनुभवति वा कश्चित् सहेखनानुगता । किं तत् ? नि श्रेयस निर्वाण । किं निशिष्ट ? सुखाम्बुनिधिं मुखसमुद्रस्वरूपं तर्हि सपर्यन्तं तद्विष्यतीत्याह—निस्तीरं तीरापर्यन्तान्निष्क्रान्तं कश्चित्पुनस्तदनुगता अभ्युदयमहमिन्द्रादिमुलपरपरा निष्पिञ्चति । कथंभूत ? दुस्तरं महता कालेन प्राप्यपर्यन्तं । किं निशिष्टं सन् ? सर्वैर्दुःखैरनालीढं सर्वं शारीरमानसादिभिर्दुःखैरनालीढोऽससृष्टः । कीदृशं सन्नेतद्वयं निष्पिञ्चति ? पीतधर्मा पीतोऽनुष्ठितो ऽयं उत्तमक्षमादिरूप चारित्र्यस्वरूपो वा येन ॥ ९ ॥

किं पुनर्नि श्रेयसशब्देनोच्यत इत्याह,—

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।

निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥ १० ॥

नि श्रेयसमिष्यते । किं ? निर्वाण । कथंभूतं शुद्धसुखं शुद्धं प्रतिद्वन्द्व-रहितं सुखं यत्र । तथा नित्यं आवेनशरस्वरूपं । तथा परिमुक्तं रहितं । कै. ? जन्मजरामयमरणैः, जन्म च पर्यायान्तरप्रार्दुभावः जरा च वार्द्धक्यं, आमयाश्च रोगाः, मरणं च शरीरादिप्रच्युतिः । तथा शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तं ॥ १० ॥

इत्थंभूते च नि श्रेयसे कीदृशं पुरुषा तिष्ठन्तीत्याह,—

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यग्रहादवृत्तिशुद्धियुजः ।

निरतिशया निरवधो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम् ॥ ११ ॥

नि श्रेयसमावसन्ति निःश्रेयसि तिष्ठन्ति । के ते इत्याह—विद्येत्यादि विद्या केवलज्ञानं, दर्शनं केवलदर्शनं, शक्तिरनन्तवीर्यं, स्वास्थ्यं परमोदासीनता,

विशेष इत्यत्राह—संसारक्षरीरभोगनिर्बिण्ण इत्यनेनास्य ज्ञेयतो मत्तांशसं
भवात्ततो विशेषः प्रतिपादित । एतन्नाह—तत्त्वपथगूढा उत्तमाना
अथाना पया मार्गा मयान्निर्बृत्तिलक्षणा अष्टगूढगुणास्ते गूढा पसा
वत्य । पंचगुरुकरणक्षरणः पंचगुरव पंचपरमष्ठिनस्तथा चरणा क्षरणम-
प्यपरिरक्षणापात्यो यस्य ॥ १६ ॥

तत्प्रेक्षानी परिपूर्णदेष्टव्यगुणसम्पन्नमाह —

निरतिक्कमपमपुम्वतपञ्चकमपि छीळसप्तकं चापि ।

धारयते निःसृत्यो वाऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥१७॥

अथानि यस्य सन्निति व्रतिको मत । केय ? व्रतिना गम्यचरदेवा-
दीनां । कोऽसौ ? नि शस्य सन् योऽसौ धारयते । किं तत् ? निरतिक्कम-
गम्यव्रतपञ्चकमपि पञ्चाप्यगुणवानि निरतिचाराणि धारयते इत्यर्थः । न
कृत्स्नमेतदेव धारयते अपि तु छीळसप्तकं चापि त्रिःपञ्चगुणव्रतचतु-
ष्टयव्रतव्रतव्रतव्रतं व्रतिम् ॥ १७ ॥

अपुना सामयिकगुणसम्पन्नत्वं आशक्तस्य प्रकृत्ययाह —

चतुरावधत्रितयव्रतः प्रणामः स्थितो यथाज्ञातः ।

सामयिको द्विनिपद्यत्रियोगस्तु द्विस्तिस्र्यसम्पन्नमिवन्दी ॥१८॥

सामयिकः समयेन प्राप्तप्रतिपादितप्रचारेण चरतीति सामयिकगुणो-
पेत । किंविशिष्टः । चतुरावधत्रितय चतुरो वारानावधत्रितय यस्य
एकैकस्य द्वि चतुरावधत्रितय विधाने 'जमो वरइताणस्य पोसा-
मे' आद्यन्तयोः प्रत्येकप्रवर्तितप्रमिति एकैकस्य द्वि चतुरावधत्रितय विधाने 'व्रत-
भावर्त्ता तथा एतद्व्यन्तगोरेकैकप्रणामप्रणामावतुः प्रणामः । स्थित ऊर्ध्वचतुरो-
स्तमोपेत । यथाज्ञातो वाद्याभ्यान्तरपरिमहविश्राम्याहृत । द्विनिपद्यो द्वेनि-
पद्ये उपवसने यस्य देवभन्दनां कुर्वता द्वि प्रारभे समाप्ती चोपविश्य प्रणाम
कर्त्तव्यः । त्रियोगस्तु द्वि त्रयो योगा मनोवाक्ययस्यापाता छुदा साधकस्यापा-
रहिता यस्य । अमिवन्दी अमिवन्त इत्येवं शील । कर्त्तव्यः त्रिसंध्य ॥१८॥

सम्पत्तं प्रोक्तोपवासगुणव्रतं आशक्तस्य प्रतिपादयन्नाह —

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्वलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः ।

अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥ १४ ॥

अभ्युदय इन्द्रादिपदावासिलक्षण फलति अभ्युदयफल ददाति ।
कोऽसौ ? सद्धर्म सहेखनानुष्ठानोपाजित विशिष्ट पुण्य । कथभूतमभ्युदय ?
अद्भुत साश्चर्य । कथभूत तदद्भुत अतिशयितभुवन यत । कैः
कृत्वा ? पूजार्थाज्ञैश्वर्यै ऐश्वर्यशब्द पूजार्थाज्ञाना प्रत्येक सम्बध्यते ।
किंविशिष्टैरेतरित्याह—ब्रलेत्यादि बल सामर्थ्य परिजन परिवार कामभोगौ
प्रसिद्धौ । एतैर्भूयिष्ठा अतिशयेन बहवो येषु । एतैरुपलक्षितैः पूजादि-
भिरतिशयितभुवनमित्यर्थ ॥ १४ ॥

साम्प्रत योऽसौ सहेखनानुष्ठाना श्रावकस्तस्य कति प्रतिमा भवन्ती-
त्याशङ्क्याह —

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।

स्वगुणा पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥ १५ ॥

देशितानि प्रतिपादितानि । कानि ? श्रावकपदानि श्रावकगुणस्थानानि
श्रावकप्रतिमा इत्यर्थ । कति ? एकादश । कैः ? देवैस्तीर्थकारैः । येषु
श्रावकपदेषु खलु स्फुट सन्तिष्ठन्तेऽवस्थितिं कुर्वन्ति । के ते ? स्वगुणा,
स्वकीयगुणस्थानसम्बद्धा गुणा । कै सह ? पूर्वगुणैः पूर्वगुण-
स्थानवर्तिगुणैः सह । कथभूता ? क्रमविवृद्धा सम्यग्दर्शनमार्दि कृत्वा
एकादशपर्यन्तमेकोत्तरवृद्ध्या क्रमेण विशेषेण वर्धमाना ॥ १५ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह—

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।

पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥ १६ ॥

दर्शनमस्यास्तीति दर्शनिको दर्शनिकश्रावको भवति । किंविशिष्टः ? सम्य-
ग्दर्शनशुद्ध सम्यग्दर्शन शुद्ध निरतिचारं यस्य असयतसम्यग्दृष्टि । कोऽस्य

विशेष इत्यत्राह—संसारक्षरीरभोगनिर्विण्ण इत्यनेनास्य केसतो वत्सरासं
म्भाच्छो विद्येयः प्रतिपादितः । एतच्चाह—तत्त्वपयगृह्यं तत्त्वानां
व्यापनं पंचा मागा मयादिनिवृत्तिरूपेणा मध्यगुणाले गृह्या पञ्चा
मस्य । पंचगुरुचरणधारण पंचगुरु पंचपरमेष्ठिनस्तोत्रं चरण धारणम-
न्यपरिरक्षणायायो यस्य ॥ १६ ॥

तस्येवानीं परिपूर्णदेवगुणसम्पत्तमाह —

निरतिक्रमणमपुत्रतपश्चक्रमपि शीतसप्तकं चापि ।

वारयत निःशून्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥१७॥

व्याप्ति यस्य सधिति व्रतिको मत् । केय ? व्रतिनां गणवरदेव-
दीना । काऽसौ ? निःशून्यं सन् योऽसौ वारयते । किं तत् ? निरतिक्रम-
णमपुत्रतपश्चक्रमपि पचाप्यणुवृत्ताणि निरतिबाधाणि वारयते इत्यर्थः । न
कर्मस्मैतदेव वारयते अपि तु शीतसप्तकं चापि त्रिप्रकारगुणवत्तत्तु
प्रकारसिद्धावस्तच्छृणु शीतम् ॥ १७ ॥

अधुना सामयिकगुणसम्पत्तौ आशक्तस्य प्ररूपयमाह —

चतुरावर्तत्रितयवतुः प्रणामः स्थितो यथावातः ।

सामयिको द्विनिपद्यन्नियामश्चक्षुस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥१८॥

सामयिक समयेन प्राक्प्रतिपादितप्रकारेण वरतीति सामयिकगुणो-
पेत । किंविशिष्टः ? चतुरावर्तत्रितयं चतुरो वारानवर्तत्रितयं यस्य
एकैकस्य हि क्षयोऽसर्गस्य विधाने णमो अर्द्धाणस्य दोषा-
मेवावन्तयोः प्रत्येकमावर्तत्रितयमिति एकैकस्य हि क्षयोऽसर्गविधाने अन्तर-
मावर्तः । तथा तदावन्तयोरेकैकप्रणामकरणावतुः प्रणामः । स्थित ऊर्ध्वक्षयो-
त्सर्गोपेतः । यथावन्तो वाद्यान्यन्तरपरिहृतिरुक्त्याव्याहृतः । द्विनिपद्यो द्वेनि-
पद्ये तपश्चरोमे यस्य देवकन्दर्वा कुर्वता हि प्रारभे सामासी धोपविश्य प्रणाम
कर्तव्यः । त्रिपोगाश्च त्रयो योगा मन्येवाव्याप्यापाता द्वाया सावयव्यापा-
रगृह्या यस्य । अभिवन्दी अभिवन्दत इत्यर्थः शीतः । कथं ? त्रिसन्ध्यं ॥१८॥

सम्पत्तं प्रोपशोपवास्तगुणवत् आशक्तस्य प्रतिपादयच्चाह —

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य ।

प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥ १९ ॥

प्रोषधेनानशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशन । किमनियमेनापि य
प्रोषधोपवासकारी सोऽपि प्रोषधानशनव्रतसम्पन्न इत्याह—प्रोषधनियम-
विधायी प्रोषधस्य नियमोऽवश्यभावस्त विदधातीत्येवगील । क तन्नियमवि-
धायी ? पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि द्वयोश्चतुर्दशयोश्चाष्टम्योरिति । किं चातुर्मास
स्यादौ तद्विधायीत्याह—मासे मासे । किं कृत्वा ? स्वशक्तिमनिगुह्य
तद्विधाने आत्मसामर्थ्यमप्रच्छाद्य । किं विशिष्ट ? प्रणधिपर एकाप्रतागत
शुभध्यानरत इत्यर्थ ॥ १९ ॥

इदानीं श्रावकस्य सचित्तविरतिस्वरूप प्ररूपयन्नाह—

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि ।

नामानि योऽस्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥ २० ॥

सोऽयं श्रावक सचित्तविरतिगुणसम्पन्न यो नास्ति न भक्षयति ।
कानीत्याह—मूलेत्यादि मूलं च फलं च शाकश्च शाखाश्च कोपला करी-
राश्च वशकिरेणा कदाश्च प्रसूनानि च पुष्पाणि बीजानि च तान्येतानि
आमानि अपक्वानि यो नास्ति । कथंभूतं सन् ? दयामूर्तिं दयास्वरूपः
सकरुणचित्त इत्यर्थ ॥ २० ॥

अधुना रात्रिभुक्तिविरतिगुण श्रावकस्य व्याचक्षाण प्राह—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावयाम् ।

स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेऽनुकम्पमानमनाः ॥ २१ ॥

स च श्रावको रात्रिभुक्तिविरतोऽभिधीयते यो विभावयी रात्रौ नाश्ना-
ति न भुक्ते । किं तदित्याह—अन्नमित्यादि अन्नं भुक्तमुद्गादि, पानं द्राक्षादि
पानक, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं रैत्रादि । किं विशिष्ट ? अनुकम्पमानमना.
सकरुणहृदय । केषु ? सत्त्वेषु प्राणिषु ॥ २१ ॥

साम्प्रतमव्यविरतत्वगुण आशक्तस्य दर्शयन्नाह —

मत्तवीर्यं मलयोनिं गच्छन्मत्तं पूतिगन्धिं बीमत्सं ।

पश्यन्नङ्गमनङ्गादिरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥ २२ ॥

मनङ्गात् कस्माद्यो विरमति व्यावर्तते स ब्रह्मचारी । किं दुर्जन !
पश्यन् । किं तत् ? अङ्गं शरीरं । कथंमूतमिष्याह—मत्तस्यादि मत्तं
द्व्यकशोणितं बीर्यं कथं यस्य । मलयोनिं मत्तस्य मल्लिमताया अपवित्र-
त्वस्य योनिं कारणे । गच्छन्मत्तं गच्छन् स्रवन् मत्तो मूत्रपुरीषत्वेदादिक-
कथ्यो यस्मात् । पूतिगन्धिं दुर्गन्धोपेतं । बीमत्सं सर्वावयवेषु पश्यतां
बीमत्समात्रोत्पादक ॥ २२ ॥

इदस्मीमारम्भविमिश्रितगुणं आशक्तस्य प्रतिपादयन्नाह—

सेवाकृपिवाभिष्यप्रमुखात्दारम्भतो व्युपारमति ।

प्राप्तातिपातहेतोर्बोऽसाधारम्भविनिवृत्तः ॥ २३ ॥

यो व्युपारमतिं विशेषेण उपरत व्यापारेभ्य आसम्भृत्य ज्ञाप्यते
असाधारम्भविनिवृत्तो भवति । कस्मात् ? आरम्भतः । कथंमूतः ?
सेवाकृपिवाभिष्यप्रमुखात् सेवाकृपिवाभिष्या प्रमुखा आत्मा यस्य तस्मात् ।
कथंमूतः ? प्राप्तातिपातहेतोः प्राप्तानामतिपाते विद्योन्नतं तस्य हेतो
अरम्भमूतः । अनेन स्तनपन्नानपूजाविधानाद्यसंभ्रातृपदविनिर्वाक्यः
तस्य प्राप्तातिपातहेतुत्वाभावात् प्राणिपीडापरिहारेणैव उत्संभवत् ।
वाभिष्यात्तस्मादपि तथा संभवत्यहं विमिश्रितं स्यादित्यपि नास्ति
'प्राणिपीडाहेतोरेव तत्तस्मात् मिश्रतस्य आशक्त्यारम्भविनिवृत्तत्वगुणस-
म्भवतोपपत्तः ॥ २३ ॥

अबुना परिमिश्रमिश्रितगुणं आशक्तस्य प्रत्ययन्नाह —

बन्धेषु दण्डसु वस्तुषु ममत्ववृत्त्यर्थं निर्ममत्वरतः ।

स्वस्य सन्तोषपरः परिचितपरिग्रहादिरतः ॥ २४ ॥

परि समन्तात् चित्तस्थ परिग्रहो हि परिचित्तपरिग्रहस्तस्माद्विरतः
श्रावको भवति । किंविशिष्टः सन् ? स्वस्थो मायादिरहितः । तथा
सन्तोषपर परिग्रहाकाक्षाव्यावृत्त्या सन्तुष्टः । तथा निर्ममत्वरतः । किं
कृत्वा ? उत्सृज्य परित्यज्य । किं तत् ? ममत्व मूर्च्छा । कः ? बाह्येषु
दशसु वस्तुषु । एतदेव दशधा परिगणन बाह्यवस्तूना दृश्यते ।

क्षेत्र वास्तु धन धान्यं द्विपद च चतुष्पदम् ।

शयनासन च यान कुप्य भाण्डमिति दश ॥

क्षेत्र सस्त्राधिकरण वडालिकादि । वास्तु गृहादि । धन सुवर्णादि ।
धान्य व्रीह्यादि । द्विपद दासीदासादि । चतुष्पद गवादि । शयन
खट्वादि । आसन विष्टरादि । यान डोलिकादि । कुप्य क्षौमकार्पासकौशे-
यकादि । भाण्डं श्रीखण्डमजिष्ठाकास्यताम्रादि ॥ २४ ॥

साम्प्रतमनुमतिविरतिगुणं श्रावकस्यप्ररूपयन्नाह—

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा ।

नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥ २५ ॥

सोऽनुमतिविरतो मन्तव्यः यस्य खलु स्फुट नास्ति । का सौ ? अनुमति-
रन्युपगम । कः ? आरम्भे कृष्यादौ । वा शब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चयार्थः ।
परिग्रहे वा धान्यदासीदासादौ । ऐहिकेषु कर्मसु वा विवाहादिषु ।
किंविशिष्टः समधी रागादिरहितबुद्धिः ममत्वरहितबुद्धिर्वा ॥ २५ ॥

इदानीमुद्दिष्टविरतिलक्षणयुक्तत्वं श्रावकस्य दर्शयन्नाह—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।

भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टचेलखण्डधरः ॥ २६ ॥

उत्कृष्ट उद्दिष्टविरतिलक्षणैकादशगुणस्थानयुक्तः श्रावको भवति ।
कथंभूतः ? चेलखण्डधरः कोपीनमात्रवस्त्रखण्डधारकः आर्यलिंगधारीत्यर्थः ।

तण भैस्याद्यनो मिच्छाणां समूहो भैश्यं तदस्मीतीति भैस्याद्यनः । किं कुर्वन् ! तयस्यन् तप कुर्वन् । किं कृत्वा परिगृह्य गृहीत्वा । कानि ! वतानि । क ! गुरुपक्ष्मे गुरुसमीपे । किं कृत्वा ! इत्वा गत्वा । किं कर्त्तुं ! मुनिवर्नं मुन्यात्मनः । कस्मात् ? गृह्यत ॥ २५ ॥

तप कुर्वन्मपि यो आगमः सर्वेषां मन्यते तदा श्रेयो ज्ञात्वा भवतीत्याह,
पापमरातिधर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।

समयं यदि जानीते भेषो ज्ञात्वा छर्षं भवति ॥ २७ ॥

यदि समयं आगमं जानीते आगमः यदि भवति तदा पुनं निश्चयेन श्रेयो ज्ञात्वा उत्कृष्टं ज्ञात्वा ॥ भवति । किं कुर्वन् ! निश्चिन्वन् । कथमित्याह—पापमित्यादि—पापमवाराति शत्रुर्जीवस्यनेकपक्षरकत्वात् धर्मस्य बन्धुर्जीवस्यानेकोपक्षरकत्वादित्येवं निश्चिन्वन् ॥ २७ ॥

इदानीं शास्त्रार्थानुष्ठानं कर्त्तुं दर्शयिष्याह—

येन स्वयं नीतकलङ्कविषादष्टिक्रियारत्नकरण्डभावं ।

नीतस्तमायाति पतीच्छन्नेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥ २८ ॥

येन मध्येन स्वयं व्याप्ता स्वयं शब्दोऽत्रात्मवाचक नीत प्रापितः । कथमित्याह—नीतस्यादि विशेष इत्ता गतो नष्ट कर्त्तव्ये दोषो पातां पापं ता विषादष्टिक्रियाश्च ज्ञानदर्शनधारित्राणि तासां करण्डभावं तं मध्ये आयाति आगच्छति । कासी ? सर्वार्थसिद्धिः धर्मोऽर्थकाममोक्षकृष्णार्थानां सिद्धिर्निष्पाति कर्त्री । कथेनायाति ? पतीच्छन्नेव स्वयम्भर निधानेच्छयेव । क ! त्रिषु विष्टपेषु त्रिमुचनेषु ॥ २८ ॥

रत्नकरण्डकं कुर्वतश्च मम पासी सम्यक्त्वसम्पत्तिर्हृदि गत्वा सा एन्द्रेव कुर्वीदित्याह—

सुखपतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव,

सुखमिव अननी मां शुद्धसीता मुनकु ।

कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-

जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥ २९ ॥

मां सुखयतु सुखिन करोतु । कासा दृष्टिलक्ष्मी सम्यग्दर्शनसम्पत्ति
किंविशिष्टेत्याह-जिनेत्यादि जिनाना देवत कर्मोन्मूलकाना गणधरदेवादीना
पतयस्त्यैकरास्तेषा पदानि सुगन्ततिङ्गन्तानि पदा वा तान्येव पद्मानि
तानि प्रेक्षते श्रद्धघातीत्येव गीला । अयमर्थ — लक्ष्मी पद्मानलोकनशीला
भवति दृष्टिलक्ष्मीस्तु जिनोक्तपदपदार्थप्रेक्षणशीलेति । कथभूता सा सुख-
भूमि । मुखोत्पत्तिस्थान । केन कामिन कामिनीव यथा कामिनी कामभूमि-
कामिन सुखयति तथा मा दृष्टिलक्ष्मी सुखयतु । तथा सा मा मुनक्तु रक्षतु
केव सुतमिव जननी । किंविशिष्टा शुद्धशीला जननी हि शुद्धशीला सुत
रक्षति नाशुद्धशीला दुश्चारिणी । दृष्टिलक्ष्मीस्तु गुणव्रतशिक्षाव्रतलक्षण
शुद्धसतशीलसमीन्विता मा मुनक्तु । तथा सा मा संपुनीतात् सकल-
दोषकलङ्क निराकृत्य पवित्रयतु । किमिव कुलमिव गुणभूषा कन्यका ।
अयमर्थ—कुल यथा गुणभूषा गुणाऽलङ्कारोपेता कन्या पवित्रयति क्लाध्यता
नयति तथा दृष्टिलक्ष्मीरपि गुणभूषा अष्टमूलगुणैरलङ्कृता मा सम्यक्पु-
नीतादिति ॥ २९ ॥

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिल भव्यात्मचेतोगतम्
सम्यग्ज्ञानमहाशुभि प्रकटित सागारमार्गोऽखिल ।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः ससृत्सरिच्छोपको
जीयादेप समन्तभद्रमुनिप श्रीमान् प्रमेन्दुर्जिन ॥ १ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिताया समन्तभद्रस्वामीविर-
चितोपासकाध्ययनटीकाया
पचम परिच्छेद ।

ॐ

रत्नकरण्डस्य पद्याना वर्णानुसारिणी सूची ।



अङ्गावलीं वरिष्ठकर्म	११	आहारे परिशुष्य	९
अङ्गमतिमिरम्याहि	१२	इहमेवेष्टयेव	९
अभिप्रायप्रतिपद्य	४९	उच्येयैर्न प्रकृतेः	८१
अथ हिंसा राज्ञो वा	१९	उपपद्ये कुर्मिहे	८९
अथप्रत्यर्थं मिना एवैः	७	अम्यावस्त्यतिवर्	१२
अनुपदिष्टम्ये वा	१८	एकान्ते अम्यमिह	४
अन्याः किनाचिद्वर्ण	८९	अथस्तेभ्योमिहा	२१
अथ वाचं अर्थ	१९	अन्वयं कौतुक्यं	१५
अथमिष्टाप्रका	४६	अर्थपरवहं अन्ते	९
अथपूज्यवतिरिचं	३५	अपद्ये पमि दुःकर्म	१
अथमन्तरं विन्दये	१९	अथैव अमपतत्रपि च	९३
अथपुष्टान्नपदिमि	३२	क्षितिक्वमिव वदधोर्ध	८१
अथैवमप्यवर्ण	८७	क्षितिक्वमिवमप्यवर्ण	१५
अथपुष्टमप्युमिष्टात्	१७	सुतिपरात्परात्परात्	४
अथैवैर्हिंसाप्रपति	११	अथपरात्परात्परात्	९१
अथपरात्परात्परात्	७९	परात्परात्परात्परात्	८
अथपरात्परात्परात्	३१	परात्परात्परात्परात्	३७
अथपरात्परात्परात्	१५	परात्परात्परात्परात्	२९
अथपरात्परात्परात्	४	परात्परात्परात्परात्	७१
अथपरात्परात्परात्	८	परात्परात्परात्परात्	४१
अथपरात्परात्परात्	१४	परात्परात्परात्परात्	९८
अथपरात्परात्परात्	८९	परात्परात्परात्परात्	८
अथपरात्परात्परात्	७९	परात्परात्परात्परात्	९५
अथपरात्परात्परात्	८९	परात्परात्परात्परात्	७८

चौरप्रयोगचौरार्था-	११	निरतिक्रमणमशुभत-	११
छेदनवन्धनपीडन-	१२	नि श्रेयसमधिपत्रा	११
जन्मजरामयमरण	१२	निःश्रेयसमभ्युदय	११
जीवाजीवमुतस्ये	२७	निदित वा पतित वा	४४
जीवितमरणाशये	११	पन्नाशुभतनिभयो	४४
ज्ञान पूजां कल जाति	२६	पन्नानां पापाना	६१
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो	१२	पन्नानां पापाना	७७
तावदज्ञानचौरोऽने	१०	परमेष्ठो परंज्योति	७
तिम्यंकृष्टेशवणिज्या-	६३	परशुक्रपाणतानिग्रज्वलनायुध-	६४
त्रमहतिपरिहरणार्थ	६७	परिवादरहोभ्यान्या	४४
दशनाचरणाद्वापि	११	पर्वण्यष्टम्यां च	७७
दर्शन ज्ञानचारिणात्	२८	पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि	१६
दान वैयाहृत्य	७९	पापमरातिधर्मो	९९
दिग्बलय परिगणित	६०	पापोपदेशहिंसा	६३
दिग्प्रतमनर्धदण्डप्रत च	५९	पूजाधार्तृस्वर्थ	९३
देवाधिदेवचरणे	५७	प्रत्याख्यातननुत्वात्	६१
देवेन्द्रचक्रमहिमानमभेयमानम्	३३	प्रयमानुयोगमर्थाख्यात	३६
देशयामि समीचीन	२	प्राणातिपातवितथ-	४१
देशावकाशिक वा	७१	प्रेषणशब्दानयन	७२
देशावकाशिक स्यात्	७१	वाक्तेषु दशसु वस्तुषु	९७
धनधान्यादिग्रन्थ	४६	भयाशास्त्रेहलोभाच्च	२८
धनश्रीसत्यघोषौ च	५२	मुक्त्वा परिहातव्यो	६६
धर्मासृत सतृष्ण	७७	भोजनवाहनशयन-	६८
न तु परदारान् गच्छति	६५	मकराकरसरिदटवी	६०
नम श्रीवर्द्धमानाय	२	मद्यमासमधुत्यागै	५९
नवनिधिसप्तद्वय-	३२	मलवीजं मलयोनि	९७
नवपुण्यै प्रतिपत्ति	७९	मातगो धनदेवश्च	४७
न सम्यक्त्वसम किञ्चित्	३०	मूर्धंरुहमुष्टिवासो	७३
नागहीनमल छेतु	२४	मूलफलशाकशास्त्रा	९६
नियमो यमश्च विहितौ	६८	मोहतिमिरापहरणे	३९

वदतिर्दं तदप्रत्यये	६८	सकलं विकलं चार्थं	४
वदि पावन्तिबोध्यम्	२७	सङ्ख्यातकृतप्रारित	४२
देव स्वर्गं बोधककृतविद्या	९९	सामन्वारम्भविधानां	२६
तन्मूर्धन्यविद्यैः	२९	सङ्ख्याविधानवृत्तानि	३
बोधकबोधविद्यैः	३६	साम्यद्वैतवृत्तयः	३
वक्तव्यपरिचयेः	६४	साम्यद्वैतवृत्तयः	९४
बोधकविद्यावाद्यान्	२५	साम्यद्वैतवृत्तवृत्तयः	२७
वक्तव्यवृत्तयः	७६	साम्यविके सारम्भा	७५
विद्यावृत्तयः	९२	साम्यविके प्रतिविषय	७४
विद्यावृत्तयः संभूति	२९	विमान्तान्य कृत	७२
विद्यावृत्तयः संभूति	६९	सुखवद सुखवृत्तिः	९९
विद्यावृत्तयः संभूति	८	विद्यावृत्तयः	९७
विद्यावृत्तयः संभूति	७९	विद्यावृत्तयः	३
विद्यावृत्तयः संभूति	७४	विद्यावृत्तयः	८३
विद्यावृत्तयः संभूति	३३	विद्यावृत्तयः	८९
विद्यावृत्तयः संभूति	७५	विद्यावृत्तयः	२६
विद्यावृत्तयः संभूति	९	विद्यावृत्तयः	९
विद्यावृत्तयः संभूति	३	विद्यावृत्तयः	९९
विद्यावृत्तयः संभूति	९४	विद्यावृत्तयः	९
विद्यावृत्तयः संभूति	८९	विद्यावृत्तयः	८८
विद्यावृत्तयः संभूति	२८	विद्यावृत्तयः	४

टीकोद्धृतपद्यानां सूची ।



अधुवाशरणे चैव	७८	निजंरा च तथालोक-	७८
अवालस्पशंका नारी	५७	पडिगहमुचद्वान	८०
अह उडुतिरियलोए	३६	मइलकुचेली दुम्मनी	१९
आकप्पिय अणुमाणिय	९०	विग्गहगइमावण्णा	५
खडनी पेपणी चुल्ली	८०	येनाज्ञानतमो विनाइय	१००
णोकम्म कम्महारो	५	श्रद्धातुष्टिर्भक्ति	८०
णोकम्म तित्थयरे	५	समन्तभद्र निखिलात्मबोधन	११
तवचारित्तमुणीण	३७	स श्रीरत्नकरण्डकामलरवि	१००
		स्याद्वादकेवलज्ञाने	३५



प्रस्तावनाका शुद्धिपत्र ।



पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१	मेहसोपे	मेहसोपे
"	१५	पहले	१ पहले
११	१६	सामयिक	सामयिक
१६	११	मिहित	मिहीन
१८	१४	कुछने	कुछने
३२	१	मृकगुणः	मृकगुणाः
	१२	म्याचकावा	म्याचकावा
३५	१३	परिग्रह	परिग्रह
३९	१६	हो सकते	हो सकते हैं
४२	४	१३१	१३४
"	१५	३८	३७
४६	७	७१	७१
"	१३	१ १	१ ३
४९	१९	आहो मुझे	आहो मुझे
"	२९	स्वयमेव	स्वयमेव
४७	१५	पचके	पचके
४९	१८	वस्त्रैः	वस्त्रैः
५६	१२	प्रकृत	प्रकृत
५७	२५	वैपहितेषु	वैपहितेषु
६	१८	४८	४७
६९	१७	वेवाचन	वेवाचन
"	२८	बीजो	बीजो
६३	११	ऐकान्तिक	ऐकान्तिक
७६	७	क्याही हुई	क्याही हुई 'एकलक्ष्य' में
७	१५	करवे	करायें

स्वामी समन्तभद्रका शुद्धि-पत्र ।

— • —

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२५	जो गुणादि प्रत्ययको	जो ठोक होनेपर गुणादि-प्रत्ययको
५	३	उत्कलिका	उत्कलिका
६	१२	कि ^२	किया है
"	२४	नामा	नाम्ना
८	२२	सुष्टु	सुष्ठु
"	२४	भवात्	भयात्
१२	१२	यही	प्राय यही
"	२१	युक्त्यनुशासन	स्वयभूस्तोत्र
१४	१६	हो	हुआ हो
१७	१८	*	× } (दूसरा फुटनोट पढ़ें)
"	२६	×	* } छपना चाहिये था ।)
१८	१९	कविनूतन	कविनूतन
"	२४	मतिव्युत्पत्ति	मतिव्युत्पत्ति
१९	२२	निधयात्मक	निधायक
२३	९	सरस्वति	सरस्वती
"	१८	धूर्णाचकार	धूर्णाचकार
३२	५	साधन	कोई साधन
४४	१-२	कलिकालमें	कलिकाल
४५	२२	आचार्यस्य	आचार्यस्स
४६	११	उत्तीर्ण	उत्कीर्ण
४७	१८	अनेक	उनके
५०	११	जिनैकगुणसंस्तुति	जिनेन्द्रगुणसंस्तुति
"	१४	अलघ्यवीर्य	अलघ्यवीर्या
"	१६	गरल विष	गरल (विष)
"	२४	ददातीति	ददतीति
५४	१	भी	श्री
५५	२४	पुण्यस्रवचम्पू	पुण्यास्रवचम्पू
६६	२४	फल	फला

पृष्ठ	पंक्ति	मध्यस्थ	मुख
५५	१५	करीमखो	करीमखो
५८	१८	तवी	तवी
५९	१९	तिवाय	तिवाय
६१	१७	कुचोको	कुचोको
६४	१	सहमका	सहमका
६५	१७	मिवाते	मिवाते
६६	२१	समन्तमाखो	समन्तमाखो
९	७	मरति	मरति
११	१	सुमिवाकिले	सुमिवाकिले
१२	२२	अपरसे	अपर
१३	११	पुन्नेम	पुन्नेम
१४	२१	पुन्नेम	पुन्नेम
१५	२२	हनुपुर	हनुपुर
१६	२३	मै	(कोष्ठ ११) में
१७	२२	असका	असका
१८	१७	पुन्नेम	पुन्नेम
११७	१४	इलका	इलका
११५	२	असे समन्तमाखे	समन्तमाखो काके
११८	२३	कावामका	कावामका काके
११३	१३	बराहमिहिरो	बराहमिहिरो
११५	१७	कचकाकामाखे	कचकाकामाखे
११६	१८	बराहपुरे	बराहपुरे
११९	११	ह	ह
१२०	१२	मेकका ॥ ३२ ॥	मेकका ॥ ३२ ॥
१२१	२२	मिवा	मिवा है
१२२	१७	लकमसे	लकमसे
१२३	२	कोकर्मचोमि	कोकर्मचोमि
१२४	२	बैरिका	बैरिका
१२५	२३	१ कोकर्मका—	१ कोकर्मका
१२६	२३	२	२

इस पृष्ठकी वं
१ को दिप्यकी
१४ में पृष्ठकी
दिप्यकीका एक
कांठ है।

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	२२	जैनेन्द्रसंज्ञ	जैनेन्द्रसंज्ञ
१५८	१४	शिलालेखमें	शिलालेखोंमें
"	२१	गृध्रपिच्छ	गृध्रपिच्छ
१५९	१६	सं० ९४	सं० ४९
१६१	१	दोनों	उन दोनों
१६४	१८	३६१	४६१
१६६	१३	मिथ्या	वह मिथ्या
"	२३	कौण्डकुन्दान्वय	कौण्डकुन्दान्वय
"	"	अभयणदि	अभ[य]णदि
१६७	१७	उल्लेख	उल्लेख भी
१६८	१	पवयणभक्ति	पवयणभक्ति
१७७	२	१३३	१२३
१८२	८	भद्रबाहुस्त	भद्रबाहुस्त
१८९	११	१७ सं०	१७ से
"	२१	श्रुतावतार	इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार
१९३	८	योगे	पोगे
१९४	६	उदयिसिद्ध	उदयिसिद्ध
१९६	१	भद्रबाहुका	भद्रबाहु द्वितीयका
२१८	१७	न० ३५०	न० ३५
२२८	३	प्रस्तावना प्रकरण	प्रस्ताव या प्रकरण
२३२	७	श्रीमत्स्वामीसमतभद्र	श्रीमत्स्वामिसमतभद्र
२३३	२४	सिद्धप्य	सिद्धय्य
२३४	२०	विरचयत ।	विरचयता
२३९	९	माहात्म्यमतीन्द्रिय	माहात्म्यमतीन्द्रिय
"	११	किमति	किमिति

नोट—विन्दु विसर्ग और विगम चिह्नादिकी दृष्टियोंको यहाँ देनेकी जरूरत नहीं समझी गई जो पढ़ते समय सहज ही में मालूम पड़ जाती हैं ।

सटीकरत्नकरण्डकस्य शुद्धिपत्रम् ।

- ११ -

पृष्ठ	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१	१	वरन्ति प्रक्षिपाद्बन्धे	विहन्ति प्रपद्यन्ते
१	४	बौद्धपाठ इव	बौद्धादिमथ इव
१	७	कदाच	कदाचित्
७	४	वत्सार्थी	वत्सार्थी परंमोक्षीः
८	१	वत्सस्तत्त्व	वत्सस्तत्त्वस्य
१	८	मुक्तिस्तत्त्वकर्मण्येव	मुक्तिस्तत्त्वकर्मण्येव
२०	१९	प्रसङ्गा	अज्ञानिनाम्येव विरोध बन्धेन वा
११	१	वदन्तानां वन्दे का केन पुनरेव	वदन्तानां मध्ये का केन पुनः
२०	१५	मयी	मया
१५	४	उपनिषदेष्वपि	उपनिषदेष्वपि पुनरेव
२०	६	त्रीणि वदन्ति	त्रीणि मूल्यानि वदन्ति
२०	१	व द्वा	व पुनः
१६	१९	मास्त्रिंशं	स्त्रिंशत् पञ्चदशं
१७	६	स्वयं	स्वयं
२०	१०-११	सम्पत्त्या विन्यसि	सम्पत्त्या किं प्रयोजनं ? व विन्यसि
२०	११	विशिष्टतत्त्वतस्तत्त्व	विशिष्टतत्त्वतस्तत्त्व
२०	११	किं	तत्त्वतस्तत्त्वतस्तत्त्व किं
२०	१४-१५	प्रयोजनानामवस्थानमवस्थानम्	प्रयोजनानामवस्थान तत्त्वतस्तत्त्व
१८		एवं तदाः	अथ इव तदाः
	८	न वृत्ता द्वितीया	अवृत्तौ द्वितीया
२०	११	ते चावृत्तिः	तं चावृत्तिः
२०	१७	प्रत्यार्थं	प्रत्यार्थं
१	२२	मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यते	मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यते

पृष्ठं	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२९	५	तस्य च	तच्च
"	१७	यश्च	यतश्च
३०	२	गृहस्थोऽपि	गृही गृहस्थो यो
"	१४	तद्विपरीतता तदपकृष्टता	तद्विपरीतादपकृष्टतां
"	१६	इत्य (तोऽ) पि	इतोऽपि
"	२४	दुष्कले उत्पत्तिं	दुष्कलतां दुष्कले उत्पत्तिं
३१	२	व्रजन्ति	न व्रजन्ति
"	१२	परविभवेनात्मनो	पराभिभवेनात्मनो
३२	३	चक्रस्य रत्न	चक्ररत्न
"	७	सख्याता	सख्यातानि रत्नानि
"	९-१०	मस्तकानि तेषु शिखराणि मुकुटानि तानि चरणेषु येषां	} मुकुटानि तेषु शिखरा आ- पीठा । तानि चरणानि येषां
३३	३	संसारापायपरिक्षण येषां दर्शनस्य वा शरण	
"	५	कथम् अजरं न विद्यते रुजा	X कथभूत अजरं न विद्यते जरा वृद्धत्व यत्र । अरुजं न विद्यते रुक्
३४	२	लक्षणस्य वा	लक्षणस्य चारित्रलक्षस्य वा
३५	८	तदधिकार्यं विदित्वा	तदधिकार्यवेदित्वात्
"	१२	यद्रू—	तद्रू—
"	१७	अतस्तदेवानुधर्मत्वे- नाभिप्रेय । मेदात्तस्यैव	अतस्तदेवात्र धर्मत्वेनाभिप्रेत । तस्यैव
३६	७	तत्	तस्य
"	८	विषयस्याख्यान	विषयस्याख्यान प्रतिपादन
"	११	धर्मशुक्ल	धर्म्यं शुक्ल
"	१२	दर्शनादे प्राप्त्यादिक धर्म	सदर्शनादे प्राप्त्यादिक धर्म्य
३७	१३	शुद्धिश्च	शुद्धिश्च रक्षा च
३८	४	यत्र तत् । न कर्मणि	यत्र कर्मणि
३९	१	गुणवताधिकार	चारित्र्याधिकार

पृष्ठ	पंक्तिः	मधुसूतपाठः	मुद्रपाठः
७२	७	छंवात्तरमुद्रकम्	छंवात्तरमुद्रकम्
७३	१२	मुद्रका	मुद्रका
७४	१४	दीप्यमाना	दीप्यमाना
७५	१	धामयिक	धामयिक
७६	११	परमाणो व	परमाणो अपरमाणो व
७७	८	वाग्नु	वाग्नु
७८	१९	कस्यां । विनिहृत्वा	कस्यां कस्यां । विनिहृत्वा
७९	१९	विहृत्वा विहृत्वा	विहृत्वा विहृत्वा
८०	२१	वाग्नु	वाग्नु
८१	५	विहृत्वादीनां	विहृत्वादीनां
८२	२३	वक्त्राद्युद्धारका ।	वक्त्राद्युद्धारका दीप्यमान- वाग्नुद्धारका ।
८३	८	वक्त्राद्युद्धारका	वक्त्राद्युद्धारका
८४	१२	एव विवे	एव विवे ववे
८५	१७	वक्त्राद्युद्धारका	वक्त्राद्युद्धारका
८६	१	कस्यां छंवात्तरा	कस्यां छंवात्तरा
८७	१४	राम्येष्टा ।	राम्येष्टा
८८	१५	तथा	तथा त्यागाद्यवस्थायां
८९	२०	वा	५
९०	२२	स्वयमेवावकाश	स्वयमेवावकाश
९१	२३	पिबन्	पिबन् स्वयमेवावकाशमेव-
९२	२४	पिबन्	कमस्तु
९३	२५	वाग्नु	वाग्नु
९४	२६	वाग्नु	वाग्नु
९५	२७	वाग्नु	वाग्नु
९६	२८	वाग्नु	वाग्नु
९७	२९	वाग्नु	वाग्नु
९८	३०	वाग्नु	वाग्नु
९९	३१	वाग्नु	वाग्नु
१००	३२	वाग्नु	वाग्नु

पृष्ठं	पक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
८७	५	वन्धो	वन्धो देवो
८८	१४	दत्तमदत्तमिति	आहार्यवस्तुष्विद दत्तमदत्त- मिति
८९	६	देवकृते	देवाचेतनकृते
९१	११	अन्त क्रिया	अन्तक्रिया
९३	२	आत्मसम्बन्धा	आत्मसम्बद्धा
९४	१०	परिच्छिद्या	परिच्छेद्या
९५	२२	आत्मस्वरूप	आत्मा स्वरूप
९६	८	एतैर्भूयिष्ठा	एतेर्भूयिष्ठा
९७	३	पथा	पथानो
९८	९	सन्निति	सन्तीति
९९	१०	नि शल्य	नि शल्यो मिथ्यानिदानमाया- शल्येभ्यो निष्क्रान्तो नि शल्यः
१००	२०-२१	एकैकस्य हि कायोत्सर्ग- विधाने चत्वार आवर्ता	चत्वार आवर्ता
१०१	२६	प्रोषधोपवासगुणव्रत	प्रोषधोपवासगुण
१०२	२, ८	प्रणिधिपर	प्रणिधिपर
१०३	१७-१८	निराकृता तस्य	निराकृता तस्या
१०४	५	दृश्यते	दर्श्यते
१०५	१९	लक्षणयुक्तत्व	लक्षणगुणयुक्तत्व
१०६	२३	कोपीन	कौपीन
१०७	१	तदश्नीतौति	तदश्नातीति
१०८	१०	पापमेवाराति	पापमधर्मोऽराति-
१०९	११	धर्मस्य	धर्मश्च
११०	८	केव ?	क ?

माणिकचंद्र दिगम्बर-जैन-ग्रंथमाला ।

१ छपौन्मरुमासिप्रभ—(१ मशककैवैवद्वय कपीकलय अमन्तपि-
द्वय तमपवैवद्वय १ मशककैवैवद्वय स्वकयतमोव १-४ अमन्तपि-
द्वय कपु और महत्तवैवद्वय) छपौन्मरुमा ११४ । मूल्य (१)

२ सागाटधर्मासूत्र—यं आचारकृतं लोपधर्मासूत्रमिति शब्द
 अस्ति । शास्त्रेणा २६ । मूल्य ॥)

३ विमानतटद्वीपीय मादक—कवि हस्तिनालय । पृ. १७६ । मृ. १०५)

४ पार्श्वव्याख्यान—श्रीधरप्रबसुमिनीय । ४ २१६ । मृ. ५)

५ मैथिली-भाषा-कवि-रहित-हस्त-लिखित-नामक : पृ १४। मू १)

१. आर्यसमाज—आर्यसमाजके मूल शास्त्र और पवित्रग्रन्थ
एक ही हैं। वेद और वेदवेदांग । प्रारम्भ १९११ ई । १)।

७ विष्णुसहस्रनाम—श्रीगुरुभक्तान्तर्गत नाम । पृ. १ । सू. १)॥

८ प्रसुम्भचरित—परमेश्वर राजा विष्णुकोटि वरपाती और मङ्गलेश्वर जी-
पदमे गङ्गा काशी मङ्गलेश्वर मङ्गल । ३ २२६ । मृ ४)

१. कपडिभारत—जीवाभारतभारतभारतभारत । पृ. १६। पृ. (१०)

१० प्रमाजविर्णय—नीचविशुद्धि काल । पृ. ६४ । सू. १०)

११ अथवारसार—भीषीरयन्त्रि वाचार्थप्रदीप । पृ १४ । मृ ३०)

१२ विद्योत्तर—जीवेविषय शिष्यान्तर्गतोक्तं सूत्रं भाषा और
भाष्यभाष्य त्रैलोक्यवैदिक संस्कृतटीका । पृ. ४८ । पृ. १३१)

[illegible]

मत्तपारम्पर्येभ्यः—४ आचार्यवर्य स्वोपशमभ्युदयनिधायी-
पति । (संख्या १११ । मूल्य ३५)

पृष्ठ	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
८७	५	वन्धो	वन्धो देवो
८८	१४	दत्तमदत्तमिति	आहार्यवस्तुष्विदं दत्तमदत्त- मिति
८९	६	देवकृते	देवाचेतनकृते
९१	११	अन्त क्रिया	अन्तक्रिया
९३	२	आत्मसम्बन्धा	आत्मसम्बद्धा
९४	१०	परिच्छिद्या	परिच्छेद्या
९५	२२	आत्मस्वरूप	आत्मा स्वरूप
९६	८	एतेभूयिष्ठा	एतेभूयिष्ठा
९७	३	पया	पयानो
९८	९	सन्निति	सन्तीति
९९	१०	नि शल्य	नि शल्यो मिथ्यानिदानमाया- शल्येभ्यो निष्क्रान्तो नि शल्यः
१००	२०-२१	एकैकस्य हि कायोत्सर्ग- विधाने चत्वार आवर्ता }	चत्वार आवर्ता
१०१	२६	प्रोपधोपवासगुणव्रत	प्रोपधोपवासगुण
१०२	२, ८	प्रणिधिपर	प्रणिधिपर
१०३	१७-१८	निराकृता तस्य	निराकृता तस्या
१०४	५	दृश्यते	दर्श्यते
१०५	१९	लक्षणयुक्तत्व	लक्षणगुणयुक्तत्व
१०६	२३	कोपीन	कौपीन
१०७	१	तदभ्रातीति	तदभ्रातीति
१०८	१०	पापमेवाराति	पापमधर्मोऽराति
१०९	११	धर्मस्य	धर्मस्य
११०	८	केव ?	क ?

माणिकचंद्र-दिगम्बर-जैन-ग्रंथमाला ।

१ समीपतपत्रिसंग्रह—(१ व्यासकवेरवङ्गल जनीकनन भवन्तपीरि-
ङ्गल एतर्भल्लिपिट २ व्यासकवेरवङ्गल सरस्यसम्भोवन ३-४ भवन्तपी-
रिङ्गल वपु धीर पृथ्वरंजलिदि) इत्यर्थम् ११४ । मूल १०)

२ समारथसंग्रह—न व्यासवङ्गल सोपयसम्भुजुवपिदिद्य रीस-
रेत । इत्यर्थम् ११ । मूल १०)

३ विद्यन्तर्धरपीप मङ्गल—इति इतिमङ्गल । पृ १ १ । मूल १०)

४ एतर्भल्लिपिट—धीरपिपमपुर्णमिति । पृ १११ । मूल ४)

५ विपिर्धरप्याथ—इतिर इतिमङ्गल मङ्गल । पृ १ ४ । मूल १)

६ व्यासवङ्गल—व्यासवेरवङ्गल मूल मङ्गल और एतर्भल्लिपिट
एतर्भल्लिपिट मङ्गलटीका । इत्यर्थम् १११ । मूल १०)

७ विपिर्धरप्याथ—धीरपिपमपुर्णमिति मङ्गल । पृ १ १ । मूल १०)

८ व्यासवङ्गल—व्यास एतर्भल्लिपिट मङ्गल और एतर्भल्लिपिट मङ्गल
मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल । पृ १११ । मूल ४)

९ व्यासवङ्गल—धीरपिपमपुर्णमिति मङ्गल । पृ १ ६ । मूल १०)

१० व्यासवङ्गल—धीरपिपमपुर्णमिति मङ्गल । पृ ८४ । मूल १)

११ व्यासवङ्गल—धीरपिपमपुर्णमिति मङ्गल । पृ १ ४ । मूल १०)

१२ व्यासवङ्गल—धीरपिपमपुर्णमिति मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल
मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल । पृ ४४ । मूल १०)

१३ व्यासवङ्गल—धीरपिपमपुर्णमिति मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल

१ व्यासवङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल

१ व्यासवङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल

१ व्यासवङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल

१ व्यासवङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल

१ व्यासवङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल

१ व्यासवङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल

१ व्यासवङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल

१ व्यासवङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल मङ्गल

१५ युग्यनुशासन—श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिकृत मूल और विद्वानन्दस्वामिकृत सस्कृतटीका । पृ० १९६ । मू० ॥१८)

१६ नयचक्रसंग्रह—(१ श्रीदेवसेनसूरिकृत नयचक्र, २ माइल घवलकृत नयचक्र, ३ श्रीदेवसेनसूरिकृत आलापपद्धति) पृष्ठसंख्या १९६ । मू० ॥३॥)

१६ पद्मप्राभृतादिसंग्रह—(० श्रीमत्कुन्दकुन्दस्वामीकृत पद्मपाहुक और उसकी श्रुतसागरसूरिकृत सस्कृतटीका, २ श्रीकुन्दकुन्दकृत लिंगप्रागृत, ३ शीलप्रागृत, ४ स्यणसार और ५ द्वादशानुपेक्षा सस्कृतछायासहित) पृष्ठसंख्या ४९२ । मू० ३)

प्रायश्चित्तसंग्रह—(१ इन्द्रनन्दियोगीन्द्रकृत छेदपिण्ड प्राकृत छायासहित, २ नवतिष्ठितिसहित छेदशास्त्र, ३ श्रीगुरुदासकृत प्रायश्चित्तचूलिका, श्रीनन्दिगुरुकृतटीकासहित, ४ अकलंककृत प्रायश्चित्त) पृष्ठ २०० । मू० १८)

१९ मूलाचार—(पूर्वार्ध), श्रीवट्केरस्वामिकृत मूल प्राकृत, श्रीवसुनन्दिश्रमणकृत आचारवृत्तिसहित । पृ० ५२० । मू० २॥)

२० भावसंग्रहादि—(१ श्रीदेवसेनसूरिकृत प्राकृत भावसंग्रह छायासहित, २ श्रीवामदेवपण्डितकृत सस्कृत भावसंग्रह, श्रीश्रुतमुनिकृत भावत्रिभंगी और ४ आलवत्रिभंगी) पृ० ३२८ । मू० २॥)

२१ सिद्धान्तसारादिसंग्रह—(१ श्रीजिनचन्द्राचार्यकृत सिद्धान्तसार प्राकृत, श्रीज्ञानभूषणकृत भाष्यसहित, २ श्रीयोगीन्द्रदेवकृत योगसार प्राकृत, ३ अमृताशीति सस्कृत, ४ निजात्माष्टक प्राकृत, ५ अजितब्रह्मकृत कल्याणालोचना प्राकृत, ६ श्रीशिवकोटिकृत रत्नमाला, ७ श्रीमाघनन्दिकृत शास्त्रसारसमुच्चय, ८ श्रीप्रभाचन्द्रकृत अहंत्वप्रवचन, ९ आप्तस्वरूप, १० वादिराजश्रेष्ठोपणीत ज्ञानलोचनस्तोत्र, ११ श्रीविष्णुसेनरचित समवसरणस्तोत्र, १२ श्रीजयानन्दसूरिकृत सर्वज्ञस्तवनसटीक, १३ पार्श्वनाथसमस्यास्तात्र, १४ श्रीगुणभद्रकृत चित्रबन्धस्तोत्र, १५ महर्षिस्तोत्र, १६ श्रीपद्मप्रभदेवकृत पार्श्वनाथस्तोत्र, १७ नेमिनाथस्तोत्र, १८ श्रीभानुकीर्तिकृत शखदेवाष्टक, १९ श्रीअमितगतिकृत सामायिकपाठ, २० श्रीपद्मनन्दिरचित धम्मरसायण प्राकृत, २१ श्रीकुलभद्रकृत सारसमुच्चय, २२ श्रीशुभचन्द्रकृत अगपण्णति प्राकृत, २३ विबुधशोधरकृत श्रुतावतार, २४ शलाकाविवरण, २५ प० आशाधरकृत कल्याणमाला) । मू० १॥)

२२ नीतिवाक्यामृत—श्रीसोमदेवसूरिकृत मूल और अज्ञातपण्डितकृत सस्कृतटीका, विस्तृत भूमिका सहित । पृ० स० ४६४ । मू० १॥)

२३ मूलाचार—(उत्तरार्ध) श्रीवट्केरस्वामीकृत मूल प्राकृत और श्रीवसुनन्दि आचार्यकृत आचारवृत्ति । पृ० ३४० । मू० १॥)

मिलनेका पता—जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, ठि० हीराबाग, बम्बई नं ४

